पुस्तक का नाम
योग-शास्त्र

लेखक :
आचार्य हेमचन्द्र

भूमिका लेखक :
उपाध्याय अमर मुनि

सम्पादक :
मुनि समदर्शी

अनुवादक :
पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल

प्रकाशक :
श्री ऋषभचन्द्र जौहरी
श्री किशनलाल जैन

प्रकाशन तिथि :
फरवरी, १९६३

मूल्य :
चार रुपए

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी—आगरा

समर्पित

जिनकी स्नेहमयी गोद में खेली-कूदी, जीवन का विकास किया
और त्याग-वैराग्य की प्रेरणा पाकर साधना के पथ पर
बढ़ी, उन सरल-स्वभावी, सौम्य-मूर्ति, त्याग-निष्ठ
महायोगी, परम-श्रद्धेय स्वर्गीय पूज्य-पिता
मुनि श्री मांगीलाल जी महाराज की
पावन-पुनीत स्मृति में

—महासती उमराव कुँवर

प्रकाशकीय

आचार्य हेमचन्द्र कृत योग-शास्त्र का प्रकाशन करते हुए मुझे परम प्रसन्नता का अनुभव होता है। पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ का अनुशीलन करके अपने जीवन को योग-शास्त्र में प्रतिपादित सुन्दर सिद्धान्तों के अनुकूल बनाएँगे, तो उनके जीवन का विकास होगा और मेरा श्रम भी सफल होगा।

महासती उमराव कुंवर जी महाराज ने तथा महासती उम्मेद कुंवर जी महाराज ने मुझे प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन करने की अनुप्रेरणा देकर महान् उपकार किया। ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पण्डित शोभाचन्द जी भारिल्ल ने किया है। सम्पादन मुनि समदर्शी जी महाराज ने किया है। उक्त विद्वानों का सहयोग नहीं मिलता तो इसका प्रकाशन होना भी कठिन था।

यह सब कुछ होने पर भी एक बात की कमी रहती इसमें यदि प्रस्तुत ग्रन्थ पर श्रद्धेय उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज की भूमिका न होती। विहार में होते हुए भी और काशी जैसे दूरस्थ नगर में स्थित होकर भी कवि जी महाराज ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका लिखकर प्रस्तुत ग्रन्थ की शोभा श्री में अभिवृद्धि की है। इसके लिए हम महाराज श्री के कृतज्ञ रहेंगे।

—रिखबचन्द जौहरी

सम्पादकीय

भारत की आन्तरिक साधना में योग-साधना का अपना अनूठा स्थान है। यह साधना आध्यात्मिक शक्तियों को जाग्रत और विकसित करने का एक प्रभावशाली साधन है। लौकिक और लोकोत्तर—दोनों प्रकार की लब्धियों को प्राप्त करने का कारण होने से प्राचीन भारत में यह साधना अत्यन्त आकर्षक रही है।

ऐसी स्थिति में यह तो संभव ही कैसे था कि इस विषय में साहित्य अछूता रहता। भारत के सभी प्रमुख सम्प्रदायों के मनीषियों ने योग-साधना पर बहुत कुछ लिखा है। जैनाचार्यों में आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र और उपाध्याय यशोविजय जी आदि इस विषय के प्रधान लेखक हैं। प्रस्तुत योग-शास्त्र कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र की कृति है। योग-विषयक साहित्य में इसका क्या स्थान है, यह निश्चय करना समीक्षकों का काम है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि जैन-साहित्य में यह कृति अपना विशिष्ट स्थान रखती है और योग के सम्बन्ध में यथार्थ दृष्टि प्रदान करती है।

अनेक विद्वानों की तरह मेरे मन में भी योग-शास्त्र का राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद न होना चुभ रहा था। अवसर मिला और अनुवाद कर डाला। किन्तु कई कारणों से वह प्रकाशित न हो सका। इस वर्ष जैन सिद्धान्ताचार्या विदुषी महासती श्री उमराव कुंवर जी म०, पण्डिता श्री उम्मेद कुंवरजी म० आदि का वर्षावास दिल्ली में था। महासती जी का जीवन बहुत उच्चकोटि का है। वे वैराग्य, तप एवं संयम की प्रतिमूर्ति हैं। उन्हीं के तपोनिष्ठ जीवन एवं उपदेशों से प्रभावित होकर और उनके चातुर्मास की स्मृति

को स्थायी बनाए रखने के लिए, वहाँ के धर्म-प्रेमी श्री ऋषभचन्द्र जी जौहरी तथा श्री किशनलाल जी जैन ने इस ग्रन्थ-रत्न को प्रकाशित करने के लिए आर्थिक सहयोग दिया है। जौहरी जी महासती श्री उम्मेद कुँवर जी म० के गृहस्थावस्था के संबन्धी हैं और साहित्य प्रेमी हैं। इससे पहले भी आपकी ओर से जैन-सिद्धान्त पाठमाला आदि कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आप श्री मांगीलाल जी जौहरी के सुपुत्र और दिल्ली के स्थानकवासी समाज में अग्रगण्य श्रावक हैं। आपका जीवन धार्मिक संस्कारों से ओत-प्रोत है और हृदय उदार है।

श्री किशनलाल जी जैन भी दिल्ली के एक प्रतिष्ठित श्रावक हैं। आप कागज का व्यवसाय करते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका बहुमूल्य योग रहा है। उभय महासती जी म० का मेरे पर सदा अनुग्रह रहा है। अतः श्रद्धेय महासती जी म० एवं उभय श्रावकों का मैं हृदय से आभारी हूँ।

परम श्रद्धेय उपाध्याय कवि श्री अमर मुनि जी ने योग-शास्त्र पर तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक भूमिका लिखकर ग्रन्थ के महत्व को चमका दिया है और मुनि समदर्शी जी (आईदान जी) ने ग्रन्थ के संपादन का दायित्व अपने ऊपर लेकर मेरे बोझ एवं श्रम को कम कर दिया तथा प्रस्तुत प्रकाशन को सुन्दर बनाने का सफल प्रयत्न किया है। इस प्रयास के लिए मैं उपाध्याय श्री जी एवं मुनि श्री जी का आभार मानता हूँ।

[illegible]ीय भारती भवन
[illegible]वर (राजस्थान)

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

कहाँ क्या है

योग-शास्त्र : एक परिशीलन

नहीं होता। उसके मन में, उसकी बुद्धि में सदा-सर्वदा सन्देह बना रहता है। वह निश्चित विश्वास और एक निष्ठा के साथ अपने पथ पर बढ़ नहीं पाता। यही कारण है कि वह इतस्ततः भटक जाता है, ठोकरें खाता फिरता है और पतन के महागर्त में भी जा गिरता है। उसकी शक्तियों का प्रकाश भी धूमिल पड़ जाता है। अतः अनन्त शक्तियों को अनावृत्त करने, आत्म-ज्योति को ज्योतित करने तथा अपने लक्ष्य एवं साध्य तक पहुँचने के लिए मन, वचन और कर्म में एकरूपता, एकाग्रता, तन्मयता एवं स्थिरता लाना आवश्यक है। आत्म-चिन्तन में एकाग्रता एवं स्थिरता लाने का नाम ही 'योग' है।[१]

आत्म-विकास के लिए योग एक प्रमुख साधना है। भारतीय संस्कृति के समस्त विचारकों, तत्त्व-चिन्तकों एवं मननशील ऋषि-मुनियों ने योग-साधना के महत्व को स्वीकार किया है। योग के सभी पहलुओं पर गहराई से सोचा-विचारा है, चिन्तन-मनन किया है। प्रस्तुत में हम भी इस बात पर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं कि योग का वास्तविक अर्थ क्या रहा है? योग-साधना एवं उसकी परंपरा क्या है? योग के सम्बन्ध में भारतीय विचारक क्या सोचते हैं? और उनका कैसा योगदान रहा है?

'योग' का अर्थ

'योग' शब्द 'युज्' धातु और 'घञ्' प्रत्यय से बना है। संस्कृत व्याकरण में 'युज्' धातु दो हैं। एक का अर्थ है—जोड़ना, संयोजित करना।[२] और दूसरे का अर्थ है—समाधि, मनःस्थिरता।[3] भारतीय

---

1. **The word 'Yoga' literally means 'Union'.**
   —*Indian Philosophy*, (Dr. C. D. Sharma)

२. युजृपी योगे, गण ७, —हेमचन्द्र धातुपाठ।

३ युजिच समाधौ, गण ४, —हेमचन्द्र धातुपाठ।

योग-दर्शन में 'योग' शब्द का उक्त दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है। कुछ विचारकों ने योग का 'जोड़ने' अर्थ में प्रयोग किया है, तो कुछ चिन्तकों ने उसका 'समाधि' अर्थ में भी प्रयोग किया है। किस आचार्य ने उसका किस अर्थ में प्रयोग किया है, यह उसकी परिभाषा एवं व्याख्या से स्वतः स्पष्ट हो जाता है। महर्षि पतंजलि ने 'चित्त-वृत्ति के निरोध' को योग कहा है।[1] बौद्ध विचारकों ने योग का अर्थ 'समाधि' किया है। आचार्य हरिभद्र ने अपने योग विषयक सभी ग्रन्थों में उन सब साधनों को योग कहा है, जिनसे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म-मल का नाश होता है और उसका मोक्ष के साथ संयोग होता है।[2] उपाध्याय यशोविजय जी ने भी योग की यही व्याख्या की है।[3] यशोविजय जी ने कहीं-कहीं पञ्च-समिति और त्रि-गुप्ति को भी श्रेष्ठ योग कहा है। आचार्य हरिभद्र के विचार से योग का अर्थ है—धर्म व्यापार। आध्यात्मिक भावना और समता का विकास करने वाला, मनोविकारों का क्षय करने वाला तथा मन, वचन और कर्म को संयत रखने वाला धर्म-व्यापार ही श्रेष्ठ योग है।[4] क्योंकि, यह धर्म-व्यापार या आध्यात्मिक साधना आत्मा को मोक्ष के साथ संयोजित करती है।

योग के अर्थ में—एकरूपता

वैदिक विचारधारा में 'योग' शब्द का समाधि अर्थ में प्रयोग हुआ और जैन परंपरा में इसका संयोग—जोड़ने अर्थ में प्रयोग हुआ है। गणित-शास्त्र में भी योग का अर्थ—जोड़ना, मिलाना किया है। मनोविज्ञान

---

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। —पातंजल योग-सूत्र, पा० १, सू० २.
२. मोक्खेण जोयणाओ जोगो। —योगविंशिका, गाथा १.
३. मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते। —द्वात्रिंशिका.
४. अध्यात्मं भावनाऽध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥ —योगबिन्दु, ३

(Psychology) में 'योग' शब्द के स्थान में 'अवधान' एवं ध्यान (Attention) शब्द का प्रयोग हुआ है। मन की वृत्तियों को एकाग्र करने के लिए मनोवैज्ञानिकों (Psychologists) ने अवधान या ध्यान के महत्व को स्वीकार किया है। और ध्यान के लिए यह आवश्यक है कि मन को किसी वस्तु के साथ जोड़ा जाए। क्योंकि मन को एकाग्र बनाने की क्रिया का नाम ध्यान है और वह तभी हो सकता है, जब कि मन किसी एक पदार्थ के साथ संबद्ध हो जाए। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अपने चिन्तन के अतिरिक्त पता ही नहीं चलेगा कि उसके चारों ओर क्या हो रहा है। इस प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक भाषा में 'सक्रिय ध्यान' (Active Attention) कहते हैं।

जैन और वैदिक परंपरा के अर्थ में भिन्नता ही नहीं, एकरूपता भी निहित है। जब हम 'चित्त-वृत्ति निरोध' और 'मोक्ष प्रापक धर्म-व्यापार' शब्दों के अर्थ का स्थूल दृष्टि से अध्ययन करते हैं, तो दोनों अर्थों में भिन्नता परिलक्षित होती है, दोनों में पर्याप्त दूरी दिखाई देती है। परन्तु, जब हम दोनों परंपराओं का सूक्ष्म दृष्टि से अनुशीलन-परिशीलन करते हैं, तो उनमें भिन्नता की जगह एकरूपता का भी दर्शन होता है।

'चित्त-वृत्ति का निरोध करना' एक क्रिया है, साधना है। इसका अर्थ है—चित्त की वृत्तियों को रोकना। परन्तु, यह एकान्ततः निषेध-परक अर्थ को ही अभिव्यक्त नहीं करती है, बल्कि विधेयात्मक अर्थ को भी अभिव्यक्त करती है। रोकने के साथ करने का भी संबंध जुड़ा हुआ है। अतः 'चित्त-वृत्ति निरोध' का वास्तविक अर्थ यह है कि साधक अपनी संसराभिमुख चित्त-वृत्तियों को रोककर अपनी साधना को साध्य-सिद्धि या मोक्ष के अनुकूल बनाए। अपनी मनोवृत्तियों को सांसारिक प्रपंचों एवं विषय-वासनाओं से हटाकर मोक्षाभिमुखी बनाए। मोक्ष प्रापक धर्म-व्यापार से भी यही अर्थ ध्वनित होता है। जैन विचारक

जैन परंपरा में योग-आस्रव दो प्रकार का माना है—१. सकषाय योग-आस्रव, और २. अकषाय योग-आस्रव। योग-सूत्र में चित्त-वृत्ति के भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो भेद किए हैं। जैनागम में कषाय के चार भेद किए हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। और योग-सूत्र में क्लिष्ट चित्त-वृत्ति को भी चार प्रकार का माना है—अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। जैन परंपरा सर्वप्रथम सकषाय योग के निरोध को और उसके पश्चात् अकषाय योग के निरोध को स्वीकार करती है। यही बात योग-सूत्र में क्लिष्ट और अक्लिष्ट चित्त-वृत्ति के विषय में कही गई है। महर्षि पतंजलि भी पहले क्लिष्ट चित-वृत्ति का निरोध करके फिर क्रमशः अक्लिष्ट चित्त-वृत्ति के निरोध की बात कहते हैं।

इस तरह जब हम जैन परंपरा और योग-सूत्र में उल्लिखित योग के अर्थ पर विचार करते हैं, तो दोनों में भिन्नता नहीं, एक रूपता परिलक्षित होती है। अतः समग्र भारतीय चिन्तन की दृष्टि से योग का यह अर्थ समझना चाहिए—"समस्त आत्म-शक्तियों का पूर्ण विकास कराने वाली क्रिया, सब आत्म-गुणों को अनावृत्त करने वाली आत्माभिमुखी साधना।" एक पाश्चात्य विचारक ने भी शिक्षा की यही व्याख्या की है।[1]

योग की जन्मभूमि

योग एक आध्यात्मिक साधना है। आत्म-विकास की एक प्रक्रिया है। और साधना का द्वार सबके लिए खुला है। दुनिया का प्रत्येक प्राणी अपना आत्म-विकास करने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र है। आध्यात्मिक विकास, आत्म-साधना एवं आत्म-चिन्तन पर किसी देश, जाति, वर्ण, वर्ग या धर्म-विशेष का एकाधिपत्य (Monopoly) नहीं है। इसका कारण

1. **Education is the harmonious development of all our faculties.** —*Lord Avebrine.*

यह है कि भारतीय ऋषि-मुनियों एवं विचारकों के चिन्तन-मनन, तथा साहित्य का आदर्श एक रहा है। तत्त्वज्ञान, आचार, इतिहास, काव्य, नाटक, रूपक आदि साहित्य का कोई-सा भाग लें, उसका अन्तिम आदर्श मोक्ष रहा है। वैदिक साहित्य में वेदों का अधिकांश भाग प्राकृतिक दृश्यों, देवों की स्तुतियों तथा क्रिया-काण्डों के वर्णन ने घेर रखा है। परन्तु, यह वर्णन वेद का बाह्य शरीर मात्र है। उसकी आत्मा इससे भिन्न है, वह है परमात्म-चिन्तन। उपनिषदों का भव्य-भवन तो ब्रह्म-चिन्तन की आधारशिला पर ही स्थित है। और जैन-आगमों में आत्मा का साध्य 'मोक्ष' माना है। समस्त आगमों का निचोड़ एवं सार 'मुक्ति' है और उसमें मुक्ति-मार्ग का ही विस्तार से वर्णन किया है।

इसके अतिरिक्त तत्त्वज्ञान संबन्धी सूत्र एवं दर्शन ग्रन्थों तथा आचार विषयक ग्रन्थों को देखें, तो उनमें साध्य रूप से मोक्ष का ही उल्लेख मिलेगा।[1] रामायण और महाभारत में भी उसके मुख्य पात्रों

---

१. धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।

—वैशेषिक दर्शन, १, ४.

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छल-जातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः-श्रेयसम्।

—न्याय दर्शन, १, १.

अथ त्रि-विधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त-पुरुषार्थः।

—सांख्य दर्शन, १.

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।

—वेदान्त दर्शन, ४, ४, २२.

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।

—तत्त्वार्थ सूत्र, १.

का महत्व इसलिए नहीं है कि वे राजा या राजकुमार थे, परन्तु उसका कारण यह है कि वे जीवन के अन्तिम समय में सन्यास या तप साधना के द्वारा मोक्ष अनुष्ठान में संलग्न रहे। इसके अतिरिक्त कालिदास जैसा महान् कवि भी अपने प्रमुख पात्रों का महत्व मुक्ति की ओर झुकने में देखता है।[1] शब्द-शास्त्र में शब्द शुद्धि को तत्त्वज्ञान का द्वार मानकर उसका अन्तिम ध्येय परम श्रेय ही माना है।[2] और तो क्या? काम-शास्त्र जैसे काम विषयक ग्रन्थ का अन्तिम ध्येय मोक्ष माना है।[3] इस तरह समग्र भारतीय साहित्य का चरम आदर्श मोक्ष रहा है और उसकी गति चतुर्थ पुरुषार्थ की ओर ही रही है।

इस तरह संपूर्ण वाङ्मय का एक ही आदर्श रहा है। और भारतीय जनता की अभिरुचि भी मोक्ष या ब्रह्म प्राप्ति की ओर रही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि योग एवं अध्यात्म साधना की परंपरा भारत में युग-युगान्तर से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। यही कारण है कि विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह लिखा है कि भारतीय

---

१. शाकुन्तल नाटक, अंक ४, कणवोक्ति; रघुवंश १, ८; ३, ७०।

२. द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्,
शब्दब्रह्मणी निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।
व्याकरणात्पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति,
अर्थात्तत्त्व-ज्ञानं तत्त्वज्ञानात् परं श्रेयः॥
—हेमशब्दानुशासनम् १, १, २.

३. स्थविरे धर्मं मोक्षं च।
—काम-सूत्र, (बम्बई संस्करण) अ० २, पृ० ११.

सभ्यता अरण्य—जंगल में अवतरित हुई है।[1] और यह है भी सत्य। क्योंकि भारत का कोई भी पहाड़, वन एवं गुफा योग एवं आध्यात्मिक साधना से शून्य नहीं मिलेगी। इससे यह कहना उपयुक्त ही है कि योग को आविष्कृत एवं विकसित करने का श्रेय भारत को ही है। पाश्चात्य विद्वान् भी इस बात को स्वीकार करते हैं।[2]

ज्ञान और योग

दुनिया की कोई भी क्रिया क्यों न हो, उसे करने के लिए सबसे पहले ज्ञान आवश्यक है। बिना ज्ञान के कोई भी क्रिया सफल नहीं हो सकती। आत्म-साधना के लिए भी क्रिया के पूर्व ज्ञान का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य माना है। जैनागम में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि पहले ज्ञान फिर क्रिया।[3] ज्ञानाभाव में कोई भी क्रिया, कोई भी साधना—भले ही वह कितनी ही उत्कृष्ट, श्रेष्ठ एवं कठिन क्यों न हो, साध्य को सिद्ध करने में सहायक नहीं हो सकती। अतः साधना के लिए ज्ञान आवश्यक है।

परन्तु, ज्ञान का महत्व भी साधना एवं आचरण में है। ज्ञान का महत्व तभी समझा जाता है, जब कि उसके अनुरूप आचरण किया जाए। ज्ञान-पूर्वक किया गया आचरण ही योग है, साधना है। अतः ज्ञान योग-

1. Thus in India it was in the forests that our civilisation had its birth.

—*Sadhna*, by Tagore, p. 4.

2. This concentration of thought (एकाग्रता) or one-pointedness as the Hindus called it, is something to us almost unknown.

—*Sacred Book of the East.* by Max Muller, Vol. I, p. 3.

3. पढमं नाणं तओ दया। —दशवैकालिक, ४, १०.

साधना का कारण है। परन्तु, योग-साधना के पूर्व ज्ञान इतना स्पष्ट नहीं रहता, जितना साधना के बाद होता है। तदनुरूप क्रिया एवं साधना के होने से चिन्तन में विकास होता है, साधना के नए अनुभव होते हैं, इससे ज्ञान में निखार आता है। अतः योग-साधना के पश्चात् होने वाला अनुभवात्मक ज्ञान स्पष्ट एवं परिपक्व होता है कि उसमें धुँधलापन नहीं रहता या कम रहता है। अतः गीता की भाषा में सच्चा ज्ञानी वही है, जो योगी है।[1] जिसमें योग या एकग्रता का अभाव है, वह ज्ञानी नहीं, ज्ञान-बन्धु—ज्ञानी का भाई या संबंधी है।[2] जैन-आगम में भी यह बताया है कि सम्यक् साधना—चारित्र के द्वारा साधक घाति-कर्म का क्षय करके पूर्ण ज्ञान—केवल-ज्ञान को प्राप्त करता है। बिना चारित्र के उसके ज्ञान में पूर्णता नहीं आ पाती। अतः साधना के लिए ज्ञान आवश्यक है और ज्ञान के विकास के लिए साधना। ज्ञान और योग या क्रिया की संयुक्त साधना से ही साध्य सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं है।[3]

व्यावहारिक और पारमार्थिक योग

योग एक साधना है। उसके दो रूप हैं—१. बाह्य और २. अभ्यान्तर। एकाग्रता यह उसका बाह्य रूप है और अहंभाव, ममत्व आदि मनोविकारों का न होना उसका अभ्यान्तर रूप है। एकाग्रता योग का शरीर

---

१. यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि मतोऽधिकः।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ —गीता ५, ५

२. व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते॥
—योगवासिष्ठ, सर्ग, २१.

३. ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः ; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।
—तत्त्वार्थ सूत्र, १, १.

है, तो अहंभाव एवं ममत्व का परित्याग उसकी आत्मा है। क्योंकि अहंभाव आदि मनोविकारों का परित्याग किए बिना मन, वचन एवं काय योग में स्थिरता आ नहीं सकती और मन, वचन तथा कर्म में एकरूपता एवं समता का विकास नहीं हो सकता। और योगों की स्थिरता, एकरूपता हुए बिना तथा समभाव के आए बिना योग-साधना हो नहीं सकती। अतः योग-साधना के लिए मनोविकारों का परित्याग आवश्यक है।

जिस साधना में एकाग्रता तो है, परन्तु अहंत्व-ममत्व का त्याग नहीं है, वह केवल व्यावहारिक या द्रव्य साधना है। पारमार्थिक या भाव योग-साधना वह है, जिसमें एकाग्रता और स्थिरता के साथ मनोविकारों का परित्याग कर दिया गया है। अहंत्व-ममत्व भाव का त्यागी आत्मा किसी भी प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो—भले ही वह स्थूल दृष्टि वाले व्यक्तियों को बाह्य प्रवृत्ति परिलक्षित होती हो, वह पारमार्थिक योगी कहलाता है। इसके विपरीत स्थूल दृष्टि से देखने वाले व्यक्ति जिसे आध्यात्मिक साधना समझते हैं, उसमें प्रवृत्त व्यक्ति अहंत्व-ममत्व में रमण करता है, तो उसकी वह योग-साधना केवल द्रव्य-साधना है, बाह्य योग है। उससे उसका साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। अतः विचारकों ने अहंत्व-ममत्व भाव से रहित समत्व भाव को साधना को ही सच्चा योग कहा है।[1]

योग परंपराएँ

विश्व की किसी भी वस्तु को पूर्ण बनाने के लिए दो बातों की आवश्यकता पड़ती है—एक पदार्थ-विषयक ज्ञान और दूसरी क्रिया। ज्ञान और क्रिया के सुमेल के बिना दुनिया का कोई भी कार्य पूरा नहीं

---

१. योगस्थ कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
—गीता, २, ४८.

साधना का कारण है। परन्तु, योग-साधना के पूर्व ज्ञान इतना स्पष्ट नहीं रहता, जितना साधना के बाद होता है। तदनुरूप क्रिया एवं साधना के होने से चिन्तन में विकास होता है, साधना के नए अनुभव होते हैं, इससे ज्ञान में निखार आता है। अतः योग-साधना के पश्चात् होने वाला अनुभवात्मक ज्ञान स्पष्ट एवं परिपक्व होता है कि उसमें धुँधलापन नहीं रहता या कम रहता है। अतः गीता की भाषा में सच्चा ज्ञानी वही है, जो योगी है।[1] जिसमें योग या एकग्रता का अभाव है, वह ज्ञानी नहीं, ज्ञान-बन्धु—ज्ञानी का भाई या संबंधी है।[2] जैन-आगम में भी यह बताया है कि सम्यक् साधना—चारित्र के द्वारा साधक घाति-कर्म का क्षय करके पूर्ण ज्ञान—केवल-ज्ञान को प्राप्त करता है। विना चारित्र के उसके ज्ञान में पूर्णता नहीं आ पाती। अतः साधना के लिए ज्ञान आवश्यक है और ज्ञान के विकास के लिए साधना। ज्ञान और योग या क्रिया की संयुक्त साधना से ही साध्य सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं है।[3]

व्यावहारिक और पारमार्थिक योग

योग एक साधना है। उसके दो रूप हैं—१. बाह्य और २. अभ्यान्तर। एकाग्रता यह उसका बाह्य रूप है और अहंभाव, ममत्व आदि मनोविकारों का न होना उसका अभ्यान्तर रूप है। एकाग्रता योग का शरीर

---

१. यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि मतोऽधिकः।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ —गीता ५, ५

२. व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते॥
—योगवासिष्ठ, सर्ग, २१.

३. ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः ; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।
—तत्त्वार्थ सूत्र, १, १.

है, तो अहंभाव एवं ममत्व का परित्याग उसकी आत्मा है। क्योंकि अहंभाव आदि मनोविकारों का परित्याग किए बिना मन, वचन एवं काय योग में स्थिरता आ नहीं सकती और मन, वचन तथा कर्म में एकरूपता एवं समता का विकास नहीं हो सकता। और योगों की स्थिरता, एकरूपता हुए बिना तथा समभाव के आए बिना योग-साधना हो नहीं सकती। अतः योग-साधना के लिए मनोविकारों का परित्याग आवश्यक है।

जिस साधना में एकाग्रता तो है, परन्तु अहंत्व-ममत्व का त्याग नहीं है, वह केवल व्यावहारिक या द्रव्य साधना है। पारमार्थिक या भाव योग-साधना वह है, जिसमें एकाग्रता और स्थिरता के साथ मनोविकारों का परित्याग कर दिया गया है। अहंत्व-ममत्व भाव का त्यागी आत्मा किसी भी प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो—भले ही वह स्थूल दृष्टि वाले व्यक्तियों को बाह्य प्रवृत्ति परिलक्षित होती हो, वह पारमार्थिक योगी कहलाता है। इसके विपरीत स्थूल दृष्टि से देखने वाले व्यक्ति जिसे आध्यात्मिक साधना समझते हैं, उसमें प्रवृत्त व्यक्ति अहंत्व-ममत्व में रमण करता है, तो उसकी वह योग-साधना केवल द्रव्य-साधना है, बाह्य योग है। उससे उसका साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। अतः विचारकों ने अहंत्व-ममत्व भाव से रहित समत्व भाव की साधना को ही सच्चा योग कहा है।[1]

योग परंपराएँ

विश्व की किसी भी वस्तु को पूर्ण बनाने के लिए दो बातों की आवश्यकता पड़ती है—एक पदार्थ-विषयक ज्ञान और दूसरी क्रिया। ज्ञान और क्रिया के सुमेल के विना दुनिया का कोई भी कार्य पूरा नहीं

---

१. योगस्थ कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योगं उच्यते ॥
—गीता, २, ४८.

किया जा सकता—भले ही वह लौकिक कार्य हो या पारलौकिक, सांसारिक हो या आध्यात्मिक। यदि किसी व्यक्ति को एक मकान बनाना है, तो मकान तैयार करने के पूर्व उसे उसके स्वरूप, उसमें लगने वाली सामग्री और उसमें काम आने वाले साधनों एवं उस साधन-सामग्री के उपयोग करने के ढंग का ज्ञान करना आवश्यक है। और तत्सम्बन्धी पूरी जानकारी करने के बाद उसके अनुरूप क्रिया की जाती है, परिश्रम किया जाता है। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक साधना के द्वारा आत्मा को कर्म-बन्धन से पूर्णतया मुक्त करने के अभिलाषी साधक के लिए भी यह आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम आत्मा के स्वरूप, आत्म के साथ कर्मों के बन्धन के कारण, बन्ध को रोकने तथा आबद्ध कर्मों को तोड़ने के साधनों का सम्यक् बोध प्राप्त करे। उसके पश्चात् वह तदनुसार क्रिया करे, उस ज्ञान को आचरण का रूप दे। इस तरह ज्ञान और क्रिया के सुमेल से साध्य की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं।

योग-साधना भी एक क्रिया है। इस साधना में प्रवृत्त होने, संलग्न होने के पूर्व साधक आत्मा, योग, साधना आदि आध्यात्मिक एवं तात्विक विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। वह योग के हर पहलू पर गहराई से सोचता-विचारता है। परन्तु चिन्तन का एक रूप न होने के कारण—योग एवं उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले मोक्ष में एकरूपता होने पर भी, उनके द्वारा प्ररूपित योग एवं मुक्ति के स्वरूप में भिन्नता परिलक्षित होती है। क्योंकि, वस्तु अनेक पर्यायों से युक्त है और उसका चिन्तन करने वाले साधक उसके किसी पर्याय विशेष को लेकर उस पर चिन्तन करते हैं, अतः उनके चिन्तन में अन्तर रहना स्वाभाविक है। इसी विचार विभिन्नता के कारण योग-साधना भी विभिन्न धाराओं में प्रवहमान दिखाई देती है।

साधना का मूल केन्द्र आत्मा है। अतः योग के चिन्तन का मुख्य विषय भी आत्मा है। और आत्म स्वरूप के सम्बन्ध में भी सभी भारतीय

विचारक एवं दार्शनिक एकमत नहीं है। आत्मा को जड़ से भिन्न एक स्वतंत्र द्रव्य मानने वाले विचारक भी दो भागों में विभक्त है। कुछ विचारक एकात्मवादी हैं और कुछ अनेकात्मवादी हैं। इसके अतिरिक्त व्यापकत्व-अव्यापकत्व, परिणामित्व-अपरिणामित्व, क्षणिकत्व-नित्यत्व आदि के अनेक विचार-भेद रहे हुए हैं। परन्तु, यदि इन अवान्तर भेदों को एक तरफ भी रख दें, तो मुख्य दो भेद रह जाते हैं—१. एकात्मवादी, और २. अनेकात्मवादी। इस आधार पर योग-साधना भी दो परंपराओं में विभक्त हो जाती है। कुछ उपनिषद[1], योगवासिष्ठ, हठयोग-प्रदीपिका आदि योग-विषयक ग्रन्थ एकात्मवाद को लक्ष्य में रखकर लिखे गए हैं और महाभारत, योग-प्रकरण, योग-सूत्र, तथा जैन और बौद्ध योग-शास्त्र अनेकात्मवाद के आधार पर लिपि-बद्ध किए गए हैं। इस तरह योग परंपरा दो धाराओं में प्रवहमान रही है।

यदि हम दार्शनिक दृष्टि से सोचते हैं, तो भारतीय-संस्कृति तीन धाराओं में प्रवहमान रही है—१. वैदिक, २. जैन, और ३. बौद्ध। इस अपेक्षा से योग-साधना या योग-साहित्य की भी तीन परम्पराएँ मानी जा सकती हैं—१. वैदिक योग परंपरा, २. जैन योग परंपरा, और ३. बौद्ध योग-परंपरा। तीनों परम्पराओं का अपना स्वतंत्र चिन्तन है और मौलिक विचार है। और सबने अपने दृष्टिकोण से योग पर सोचा-विचारा एवं लिखा है। फिर भी तीनों परंपराओं के विचारों में भिन्नता के साथ बहुत-कुछ साम्य भी है। आगे की पंक्तियों में हम इस पर क्रमशः विचार करेंगे।

वैदिक योग और साहित्य

वैदिक परंपरा में वेद मुख्य हैं। उनमें प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' है। उसका अधिकांश भाग आधिभौतिक एवं आधिदैविक वर्णन से भरा

---

१. ब्रह्मविद्या, क्षुरिका, चूलिका, नाद-बिन्दु, ब्रह्म-बिन्दु, अमृत-बिन्दु, ध्यान-बिन्दु, तेजोबिन्दु, शिखा, योगतत्त्व, हंस आदि।

पड़ा है। वस्तुतः वेदों में आध्यात्मिक वर्णन बहुत कम देखने को मिलता है। ऋग्वेद में 'योग' शब्द अनेक स्थानों पर आया है,[१] परन्तु सर्वत्र उसका अर्थ-जोड़ना, मिलाना, संयोग करना इतना ही है; ध्यान एवं समाधि अर्थ नहीं है। इतना ही नहीं, उसके बाद योग-विषयक ग्रन्थों में योग के अर्थ में प्रयुक्त, ध्यान, वैराग्य, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि अर्थ में योग शब्द का उल्लेख नहीं किया है। इसके अतिरिक्त अतिप्राचीन उपनिषदों में भी 'योग' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। कठोपनिषद, श्वेताश्वतर उपनिषद जैसे उत्तरकालीन उपनिषदों में 'योग' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग हुआ है।[२] फिर भी इतना व्यापक रूप से नहीं हुआ, जितना कि 'तप' शब्द का हुआ है। ठेठ ऋग्वेद से लेकर उपनिषद काल तक के साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'योग' शब्द की अपेक्षा 'तप' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ में अधिक व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है।

उपनिषदों में जहाँ-तहाँ 'योग' शब्द आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, तो वह सांख्य परंपरा या उसके समान किसी अन्य परम्परा के साथ प्रयुक्त हुआ है। फिर भी इतना तो कहना होगा कि उपनिषद काल

---

१. ऋगवेद १, ५, ३; १, १८, ७; १, ३४, ९; २, ८, १; ९, ५८, ३; और १०, १६६, ५।

२. योग आत्मा। —तैत्तिरीय उप०, २, ४.

तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय-धारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥
—कठोपनिषद, २, ६, ११.

अध्यात्म-योगाधिगमेन देवं मत्वाधीरो हर्ष-शोकौ जहाति।
—कठोपनिषद १, २, १२.

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।
—श्वेताश्वतर, उप० ६, १३.

में योग शब्द का आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग होने लगा था। यही कारण है कि प्राचीन उपनिषदों में भी योग, ध्यान आदि शब्द समाधि के अर्थ में पाए जाते हैं।[1] अनेक उपनिषदों में योग का विस्तृत वर्णन मिलता है। उनमें योग-शास्त्र की तरह योग-साधना का सांगोपांग वर्णन मिलता है।[2]

वेदों के बाद उपनिषद काल में आध्यात्मिक चिन्तन को महत्व दिया गया। उपनिषदों में जगत, जीव और परमात्मा सम्बन्धी बिखरे हुए विचारों को विभिन्न ऋषियों ने सूत्रों में ग्रथित किया। इस तरह आध्यात्मिक चिन्तन को दर्शन का रूप मिला। क्योंकि, समस्त दार्शनिकों का अन्तिम ध्येय मोक्ष रहा है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि मुक्ति के लिए कोरे ज्ञान की ही नहीं, साथ में क्रिया—साधना की भी आवश्यकता रहती है। इसलिए सभी दार्शनिकों ने साधना रूप से योग की उपयोगिता को स्वीकार किया है। महर्षि गौतम के न्याय दर्शन में मुख्य रूप से प्रमाण विषयक विचार हैं, उसमें भी योग-साधना को स्थान दिया है।[3] महर्षि कणाद ने भी वैशेषिक दर्शन में यम, नियम, शौचादि

---

१. तैत्तरीय उप०, २, ४; कठोपनिषद् २, ६, ११; श्वेताश्वतर उप० २, ११; ६, ३; १, १४; छान्दोग्य उप० ७, ६, १; ७, ६, २; ७, ७, १; ७, २६, १; कौशीतकि, ३, २; ३, ३; ३, ४।

२. ब्रह्मविद्योपनिषद्, क्षुरिकोपनिषद्, चूलिकोपनिषद्, नाद-बिन्दु, ब्रह्म-बिन्दु, अमृत-बिन्दु, ध्यान-बिन्दु, तेजोबिन्दु; Philosophy of Upanishad's.

३. समाधि-विशेषाभ्यासात्। अरण्य-गुहा-पुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः। तदर्थं यम-नियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः।

—न्याय-दर्शन, ४, २, ३८; ४, २, ४२; ४, २, ४६.

योगांगों का वर्णन किया है।[१] सांख्य दर्शन में भी योग विषयक अनेक सूत्र हैं।[२] महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्ययन का नाम 'साधन' रखा है और उसमें आसन, ध्यान आदि योगांगों का वर्णन किया है।[३] योग-दर्शन तो प्रमुख रूप से योग विषयक ग्रन्थ है ही, अतः उसमें योग-साधना का सांगोपांग वर्णन मिलना सहज-स्वाभाविक है। वैदिक साहित्य में महर्षि पतंजलि का योग-शास्त्र ही योग विषयक सब से महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

उपनिषदों में सूचित और दर्शन साहित्य में वर्णित योग-साधना का पल्लवित-पुष्पित रूप गीता में मिलता है। वस्तुतः देखा जाए तो गीता युद्ध के मैदान में उपदिष्ट योग विषयक ग्रन्थ है।[४] उसमें योग का विभिन्न तरह से वर्णन किया गया है। उसमें योग का स्वर कभी कर्म के साथ, कभी भक्ति के साथ और कभी ज्ञान के साथ सुनाई देता है।[५] गीता के छठे और तेरहवें अध्याय में तो योग के सब मौलिक सिद्धान्त और योग की समस्त साधना का वर्णन आ जाता है।

योगवासिष्ठ में योग का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसके छह

१. अभिषेचनोपवास-ब्रह्मचर्य-गुरुकुलवास-वानप्रस्थ-यज्ञदान प्रोक्षण-दिङ्-नक्षत्र-मन्त्रकाल-नियमाश्चादृष्टाय।

—वैशेषिक दर्शन, ६, २, २ ; ६, २, ८.

२. सांख्य सूत्र, ३, ३०–३४.

३. ब्रह्म सूत्र, ४, १, ७–११.

४. गीता के अठारह अध्यायों में पहले छह अध्याय कर्म-योग प्रधान हैं, मध्य के छह अध्याय भक्ति-योग प्रधान हैं और अन्तिम छह अध्याय ज्ञान-योग प्रधान हैं।

५. गीता रहस्य (पं० बाल गंगाधर तिलक) भाग २ की शब्द-सूची देखें।

प्रकरणों में योग के सब अंगों का वर्णन है। योग-दर्शन में योग के सम्बन्ध में जो वर्णन संक्षेप से किया गया है, उसी का विस्तार करके ग्रन्थकार ने योगवासिष्ठ के आकार को बढ़ा दिया है। इससे यही कहना पड़ता है कि योगवासिष्ठ योग का महाग्रन्थ है।

पुराण साहित्य में सर्वशिरोमणि भागवत पुराण का अध्ययन करें, तो उसमें भी योग का पूरा वर्णन मिलता है।[1]

भारत में योग का इतना अधिक महत्व बढ़ा कि सभी विचारक इस पर चिन्तन करने लगे। तान्त्रिक सम्प्रदाय ने भी योग को अपने तन्त्र ग्रन्थों में स्थान दिया। अनेक तन्त्र ग्रन्थों में योग का वर्णन मिलता है। परन्तु, महानिर्वाण तन्त्र और षट्चक्र-निरूपण मुख्य ग्रन्थ हैं, जिनमें योग-साधना का विस्तार से वर्णन मिलता है।[2]

मध्य युग में योग का इतना तीव्र प्रवाह बहा कि चारों ओर उसी का स्वर सुनाई देने लगा। आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि योग के बाह्य अंगों पर इतना जोर दिया गया कि योग की एक सम्प्रदाय ही बन गई, जो हठयोग के नाम से प्रसिद्ध रही है। आज उस संप्रदाय का कोई अस्तित्व नहीं है। केवल इतिहास के पन्नों पर ही उसका नाम अवशेष है।

हठयोग के विभिन्न ग्रन्थों में हठयोग-प्रदीपिका, शिव-संहिता, घेरण्ड-संहिता, गोरक्ष-पद्धति, गोरक्ष-शतक, योगतारावली, बिन्दु-योग, योगबीज, योगकल्पद्रुम आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनमें हठयोग- प्रदीपिका मुख्य

---

१. भागवत पुराण, स्कंध ३, अध्याय २८; स्कन्ध ११, अध्याय १५, १९ और २०।

२. महानिर्वाण तंत्र, अध्याय ३ ; और Tantrik Texts में प्रकाशित षट्चक्र-निरूपण, पृष्ठ, ६०, ६१, ८२, ९०, ९१ और १३४।

है। उक्त ग्रन्थों में आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुंभक, रेचक, पूरक आदि बाह्य अंगों का दिल खोलकर वर्णन किया है। घेरण्ड ने आसनों की संख्या को ८४ से ८४ लाख तक पहुँचा दिया है।

संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में भी योग पर कई ग्रन्थ लिखे गए हैं। महाराष्ट्रीय भाषा में गीता की ज्ञानदेव कृत ज्ञानेश्वरी टीका प्रसिद्ध है। इसके छटे अध्याय में योग का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है।

सन्त कबीर का 'बीजक ग्रन्थ' योग-विषयक भाषा साहित्य का अनूठा नगीना है। अन्य योगी सन्तों ने भी अपने योग-सम्बन्धी अनुभवों को जन-भाषा में जन-हृदय पर अंकित करने का प्रयत्न किया है। अतः हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि प्रसिद्ध प्रान्तीय भाषाओं में पातञ्जल योग-शास्त्र के अनुवाद तथा विवेचन निकल चुके हैं। अंग्रेजी एवं अन्य विदेशी भाषाओं में भी योग-शास्त्र का अनुवाद हुआ है, जिसमें वुड (**Wood**) का भाष्य-टीका सहित मूल पातञ्जल योग-शास्त्र का अनुवाद ही महत्वपूर्ण है।

पातञ्जल योग-शास्त्र

वैदिक साहित्य के विस्तृत अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया कि इसमें योग पर छोटे-बड़े अनेक ग्रन्थ हैं। परन्तु, इन उपलब्ध ग्रन्थों में—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, पातञ्जल योग-शास्त्र शीर्ष स्थान रखता है। इसके मुख्य तीन कारण हैं—१. ग्रन्थ की संक्षिप्तता तथा सरलता, २. विषय की स्पष्टता एवं पूर्णता, और ३. अनुभवसिद्धता। इन विशेषताओं के कारण ही योग-दर्शन का नाम सुनते ही पातञ्जल योग-शास्त्र स्मृति में साकार हो उठता है। योग-विषयक साहित्य एवं दर्शन ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पातञ्जल योग-शास्त्र के समय अन्य योग-शास्त्र भी इतने ही प्रसिद्ध रहे हैं और वे योग-शास्त्र

के नाम से लिखे गये थे। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में योग-दर्शन का खण्डन करते हुए लिखा है—'अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः'।[१] इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार के सामने पातञ्जल योग-शास्त्र से भिन्न योग-शास्त्र भी रहा है। क्योंकि, पातञ्जल योग-शास्त्र—'अथ योगानुशासनम्'[२] सूत्र से शुरू होता है। इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में योग से संबन्धित दो सूत्रों का और उल्लेख किया है,[३] जिनमें से एक सूत्र तो पातञ्जल योग-शास्त्र का पूरा सूत्र है।[४] और दूसरा उसका अविकल सूत्र तो नहीं, परन्तु उससे मिलता-जुलता सूत्र है।[५] परन्तु 'अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः'—इस सूत्र की मौलिकता एवं शब्द-रचना से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य शंकर द्वारा उद्धृत अन्तिम दो उल्लेख भी इसी योग-शास्त्र के होने चाहिए। दुर्भाग्य से वह योग-शास्त्र आज अनुपलब्ध है। अतः वैदिक परंपरा के योग विषयक साहित्य में योग-शास्त्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

प्रस्तुत योग-शास्त्र चार पाद में विभक्त है और इसमें कुल १९५ सूत्र हैं। प्रथम पाद का नाम समाधि, द्वितीय का साधन, तृतीय का विभूति और चतुर्थ का नाम कैवल्य पाद है। प्रथम पाद में प्रमुख रूप से योग के स्वरूप, उसके साधन और चित्त को स्थिर बनाने के उपायों का वर्णन है। द्वितीय पाद में क्रिया-योग, योग के आठ अंग, उनका फल

---

१. ब्रह्मसूत्र भाष्य, २, १, ३.

२. योग-शास्त्र। —महर्षि पतंजलि, १, १.

३. स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः; प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः नाम। —ब्रह्मसूत्र भाष्य, १, ३, ३३; २, ४, १२.

४. देखें पातञ्जल योग-शास्त्र, २, ४.

५. देखें पातञ्जल योग-शास्त्र १, ६.

और हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय—इस चतुर्व्यूह का वर्णन है। तृतीय पाद में योग की विभूतियों का उल्लेख किया गया है। और चतुर्थ पाद में परिणामवाद का स्थापन, विज्ञान-वाद का निराकरण और कैवल्य अवस्था के स्वरूप का वर्णन है।

प्रस्तुत योग-शास्त्र सांख्य दर्शन के आधार पर रचा गया है। यही कारण है कि महर्षि पतञ्जलि ने प्रत्येक पाद के अन्त में यह अंकित किया है—**योग-शास्त्रे सांख्य-प्रवचने। 'सांख्य-प्रवचने'** इस विशेषण से यह स्पष्टतः ध्वनित होता है कि सांख्य-दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित योग-शास्त्र भी उस समय विद्यमान थे।

यह हम पहले बता चुके हैं कि सभी भारतीय विचारकों, दार्शनिकों एवं साहित्यकारों के चिन्तन का आदर्श मोक्ष रहा है। परन्तु, मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी विचारक एकमत नहीं हैं। कुछ विचारक मुक्ति में शाश्वत सुख नहीं मानते। उनका विश्वास है कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। इसके अतिरिक्त वहाँ शाश्वत सुख जैसी कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। कुछ विचारक मुक्ति में शाश्वत सुख का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि जहाँ शाश्वत सुख है, वहाँ दुःख का अस्तित्व रह ही नहीं सकता, उसकी निवृत्ति तो स्वतः ही हो जाती है। वैशेषिक, नैयायिक[1], सांख्य[2], योग[3] और बौद्ध दर्शन[4] प्रथम पक्ष को स्वीकार करते हैं। वेदान्त और जैन-

१. तदत्यन्तविमोक्षोपवर्गः। —न्याय दर्शन, १, १, २२.
२. ईश्वर-कृष्ण-कारिका, १।
३. योग-शास्त्र में मुक्ति में हानत्व माना है और दुःख के आत्यन्तिक नाश को ही हान कहा है। —पातञ्जल योग-शास्त्र २, २६.
४. तथागत बुद्ध के तृतीय निरोध नामक आर्य-सत्य का अर्थ—दुःख का नाश है। —बुद्धलीलासार संग्रह, पृष्ठ १५०.

दर्शन द्वितीय पक्ष को अन्तिम साध्य मानते हैं। उनका विश्वास है कि शाश्वत सुख को प्राप्त करना ही साधक का अन्तिम ध्येय है और यह साध्य मोक्ष है।

योग-शास्त्र में विषय का वर्गीकरण उसके अन्तिम साध्य के अनुरूप ही है। उसमें अनेक सिद्धान्तों का वर्णन है, परन्तु संक्षेप में वह चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है—१. हेय, २. हेय हेतु, ३. हान, और ४. हानोपाय। दुःख हेय है, अविद्या हेय का कारण है, दुःख का आत्यन्तिक नाश हान है और विवेकख्याति हानोपाय है।[1] सांख्य-सूत्र में भी यही वर्गीकरण मिलता है। तथागत बुद्ध ने इसी चतुर्व्यूह को 'आर्य-सत्य' का नाम दिया है। और योग-शास्त्र में वर्णित अष्टांग योग की तरह चतुर्थ आर्य-सत्य के साधन रूप से 'आर्य अष्टांग मार्ग' का उपदेश दिया है।[2]

इसके अतिरिक्त योग-शास्त्र में वर्णित चतुर्व्यूह का दूसरी प्रकार से भी वर्गीकरण किया है—१. हाता, २. ईश्वर, ३. जगत, और ४. संसार एवं मुक्ति का स्वरूप तथा उसके कारण।

१. हाता

दुःख से सर्वथा निवृत्त होने वाले दृष्टा—आत्मा या चेतन को 'हाता' कहते हैं। योग-शास्त्र में सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक, बौद्ध, जैन एवं पूर्णप्रज्ञ (मध्व) दर्शन की तरह अनेक आत्माएँ—चेतन स्वीकार की हैं। परन्तु, आत्मा के स्वरूप की मान्यता में भेद है। योग-शास्त्र आत्मा को न तो जैन-दर्शन की तरह देह-प्रमाण मानता है और न मध्व संप्रदाय की तरह अणु-प्रमाण मानता है। वह सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक एवं शंकर वेदान्ती की तरह आत्मा को सर्वव्यापक मानता है। इसी तरह

---

१. योग-शास्त्र। —महर्षि पतञ्जलि, २, १६; १७; २४; २६.

२. बुद्धलीलासार संग्रह, पृष्ठ १५०।

वह चेतन को जैन-दर्शन की तरह परिणामी नित्य तथा बौद्ध-दर्शन की तरह एकान्त क्षणिक न मानकर सांख्य एवं अन्य वैदिक दर्शनों की तरह कूटस्थ नित्य मानता है।

२. ईश्वर

योग-शास्त्र सांख्य-दर्शन की तरह ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार नहीं करता।[1] वह ईश्वर को मानता है और उसे जगत का कर्त्ता भी मानता है।

३. जगत

योग-शास्त्र जगत के स्वरूप को सांख्य-दर्शन की तरह प्रकृति का परिणाम और अनादि-अनन्त प्रवाह रूप मानता है। वह जैन, वैशेषिक एवं नैयायिक दर्शन की तरह उसे परमाणु का परिणाम नहीं मानता, न शंकराचार्य की तरह ब्रह्म का विवर्त—परिणाम मानता है, और न बौद्ध-दर्शन की तरह शून्य या विज्ञानात्मक स्वीकार करता है।

४. संसार और मोक्ष का स्वरूप

योग-शास्त्र में वासना, क्लेश और कर्म को 'संसार' कहा है और उसके अभाव को 'मोक्ष'।[2] संसार का मूल कारण अविद्या और मुक्ति का मुख्य कारण सम्यग्दर्शन या योग-जन्य विवेक माना है।

योग-शास्त्र और जैन-दर्शन में समानता

योग-शास्त्र का अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैन-दर्शन के साथ अधिक साम्य है। फिर भी बहुत कम विचारक इस बात को जान-समझ पाए हैं। इसका एक ही कारण है कि ऐसे बहुत कम जैन विचारक, दार्शनिक एवं विद्वान हैं, जो उदार हृदय से योग-शास्त्र का अध्ययन करने वाले हों और योग-शास्त्र पर अधिकार रखने वाले ऐसे ठोस विद्वान भी कम

---

१. सांख्य-सूत्र, १, ९२।
२. पातञ्जल योग-सूत्र, १, ३।

मिलेंगे, जिन्होंने जैन-दर्शन का गहराई से अनुशीलन-परिशीलन किया हो। यही कारण है कि जैन-दर्शन और योग-शास्त्र में बहुत साम्यता होने पर भी वैदिक एवं जैन विचारक इससे अपरिचित-से रहे हैं। योग-शास्त्र और जैन-दर्शन में समानता तीन तरह की है—१. शब्द की, २ विषय की, और ३. प्रक्रिया की।

१. शब्द-साम्य

योग-सूत्र एवं उसके भाष्य में ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो जैनेतर दर्शनों में प्रयुक्त नहीं हैं, परन्तु जैन दर्शन एवं जैनागमों में उनका विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। जैसे—भवप्रत्यय[1], सवितर्क-सविचार-निर्विचार[2], महाव्रत[3], कृत-कारित-अनुमोदित[4],

---

१ भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। —योग-सूत्र १, १९
भवप्रत्ययो नारक-देवानाम्। —तत्त्वार्थ सूत्र, १, २१; नन्दी-सूत्र, ७; स्थानांग सूत्र २, १, ७१

२ एकाश्रये सवितर्के पूर्वे; तत्र सविचारं प्रथमम् (भाष्य) अविचारं द्वितीयम। —तत्त्वार्थ सूत्र, ९, ४३-४४; स्थानांग सूत्र, (वृत्ति) ४, १, २४७

तत्र शब्दार्थ-ज्ञान-विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः; स्मृति-परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का; एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।
—पातञ्जल योग-सूत्र १, ४२-४४.

३. जैनागमों में मुनि के पाँच यमों के लिए महाव्रत शब्द का प्रयोग हुआ है। —देखें स्थानांग सूत्र, ५, १, ३८९, तत्त्वार्थ सूत्र, ७,२. यही शब्द योग-शास्त्र में भी उसी अर्थ में आया है।
—योग-सूत्र २, ३१.

४. ये शब्द जिस भाव के लिए योग-शास्त्र, २, ३१ में प्रयुक्त हैं, उसी भाव में जैनागम में भी मिलते हैं. जैनागमों में अनुमोदित के स्थान में प्रायः अनुमित शब्द प्रयुक्त हुआ है।
—तत्त्वार्थ ६, ९; दशवैकालिक अध्ययन ४.

प्रकाशावरण,[१] सोपक्रम-निरुपक्रम,[२] वज्रसंहनन,[३] केवली[४] कुशल,[५] ज्ञानावरणीय-कर्म,[६] सम्यग्ज्ञान,[७] सम्यग्दर्शन,[८] सर्वज्ञ,[९] क्षीण क्लेश,[१०] चरम देह[११] आदि शब्दों का जैनागम एवं योग-शास्त्र में प्रयोग मिलता है।

१—योग-शास्त्र, २, ५२; ३, ४३,। जैनागमों में प्रकाशावरण के स्थान में ज्ञानावरण शब्द का प्रयोग मिलता है, परन्तु दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है—ज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म। —तत्त्वार्थ सूत्र, ६, १०; भगवती सूत्र, ८, ९, ७५-७६।

२—योग-सूत्र ३, २२। जैन कर्म-ग्रन्थ, तत्त्वार्थ सूत्र (भाष्य) २, ५२; स्थानांग सूत्र (वृत्ति) २, ३, ८५।

३—योग-सूत्र ३, ४६। तत्त्वार्थ (भाष्य) ८, १२ और प्रज्ञापना सूत्र। जैन-आगमों में वज्रऋषभ-नाराच-संहनन शब्द मिलता है।

४—योग-सूत्र (भाष्य), २, २७; तत्त्वार्थ सूत्र, ६, १४।

५—योग-सूत्र २, २७; दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १८६।

६—योग-सूत्र (भाष्य), २, ५१; उत्तराध्ययन सूत्र ३३, २; आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ८९३।

७-८—योग-सूत्र २, २८; ४, १५; तत्त्वार्थ सूत्र, १, १; स्थानांग सूत्र ३, ४, १९४।

९—योग-सूत्र (भाष्य), ३, ४९; तत्त्वार्थ सूत्र (भाष्य), ३, ३९।

१०—योग-सूत्र १, ४। जैन शास्त्र में बहुधा क्षीणमोह, क्षीण-कषाय शब्द मिलते हैं—देखें तत्त्वार्थ, ९, ३८ प्रज्ञापना सूत्र, पद १।

११—योग-सूत्र (भाष्य) २, ४; तत्त्वार्थ सूत्र २, ५२; स्थानांग सूत्र (वृत्ति), २, ३, ८५।

२. विषय साम्य

योग-सूत्र और जैन-दर्शन में शब्दों के समान विषय निरूपण में भी साम्य है। प्रसुप्त, तनु आदि क्लेश अवस्थाएँ,[1] पाँच यम[2], योग-जन्य विभूति[3],

---

१. प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार—इन चार अवस्थाओं का योग-सूत्र २, ४ में वर्णन है। जैन-शास्त्र में मोहनीय कर्म की सत्ता, उपशम, क्षयोपशम, विरोधि प्रकृति के उदयादि कृत व्यवधान और उदयावस्था के वर्णन में यही भाव परिलक्षित होते हैं। इसके लिए उपाध्याय यशोविजय जी कृत योग-सूत्र (वृत्ति) २, ४ देखें।

२. पाँच यमों का वर्णन महाभारत आदि ग्रन्थों में भी है, परन्तु उसकी परिपूर्णता योग-सूत्र के "जाति-देश काल-समयाऽनवच्छिन्नाः, सार्वभौमा महाव्रतम्" योग-सूत्र २, ३१ में तथा दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ४ एवं अन्य आगमों में वर्णित महाव्रतों में परिलक्षित होती है।

३. योग-सूत्र के तृतीय पाद में विभूतियों का वर्णन है। वे विभूतियाँ दो प्रकार की हैं—१. ज्ञान रूप, और २. शारीरिक। अतीताऽनागत-ज्ञान, सर्वभूतरूतज्ञान, पूर्वजाति ज्ञान, परिचित ज्ञान, भुवन ज्ञान, ताराव्यूह ज्ञान आदि ज्ञान-विभूतियाँ हैं। अन्तर्धान, हस्तिबल, परकाय-प्रवेश, अणिमादि ऐश्वर्य तथा रूप, लावण्यादि काय संपतियाँ शारीरिक विभूतियाँ हैं। जैन-शास्त्र में भी अवधि ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान, जाति स्मरण, पूर्व ज्ञान आदि ज्ञान-लब्धियाँ हैं और आमौषधि, विप्रुडौषधि, श्लेष्मौषधि, सर्वौषधि, जंघाचरण, विद्याचरण, वैक्रिय, आहारक आदि शारीरिक लब्धियाँ हैं। लब्धि—विभूति का नामान्तर है। —आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६९, ७०।

सोपक्रम-निरुपक्रम कर्म का स्वरूप[1] और अनेक कायों—शरीरों[2] का निर्माण आदि विषय के निरूपण में दोनों परंपराओं में समानता परिलक्षित होती है।

३. प्रक्रिया साम्य

दोनों में प्रक्रिया का भी साम्य है। वह यह है कि परिणामी-नित्यता अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से त्रिरूप वस्तु मानकर तदनुसार धर्म और धर्मी का वर्णन किया गया है।[3]

---

१. योग-सूत्र के भाष्य और जैन-शास्त्रों में सोपक्रम–निरुपक्रम आयुष्कर्म का एक-सा वर्णन मिलता है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए योग-सूत्र, ३, २२ के भाष्य में आर्द्र वस्त्र और तृण राशि के दो दृष्टांत दिए हैं, वे दोनों दृष्टांत आवश्यक निर्युक्ति, ६५६ तथा विशेषावश्यक भाष्य, ३०६१ आदि ग्रन्थों में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। तत्त्वार्थ सूत्र २, ५२ के भाष्य में उक्त दो उदाहरणों के अतिरिक्त गणित विषयक तीसरा दृष्टान्त भी दिया है और योग-सूत्र के व्यास भाष्य में भी यह दृष्टान्त मिलता है। और दोनों में शाब्दिक साम्य भी बहुत अधिक है।

२. योग-बल से योगी अनेक शरीरों का निर्माण करता है, इसका वर्णन योग-सूत्र ४, ४ में है। यही विषय वैक्रिय-आहारक लब्धि रूप से जैन आगमों में वर्णित है।

३. जैनागमों में वस्तु को द्रव्य-पर्याय स्वरूप मानी है। द्रव्य की अपेक्षा से वह सदा शाश्वत रहती है, इसलिए वह नित्य है। परन्तु, पर्याय की अपेक्षा से उसका प्रतिक्षण नाश एवं निर्माण होता रहता है, इसलिए वह अनित्य भी है। इसलिए तत्त्वार्थ सूत्र, ५, २६ में सत् का यह लक्षण दिया है—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।' योग-सूत्र ३, १३-१४ में जो धर्म-धर्मी का वर्णन है, वह वस्तु के

इस तरह पातञ्जल योग-सूत्र का गहन अध्ययन करने एवं उस पर अनुचिन्तन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके वर्णन में जैन-दर्शन के साथ बहुत कुछ समानता है, और इस विचार समानता के कारण आचार्य हरिभद्र जैसे उदार एवं विराट हृदय जैनाचार्यों ने अपने योग विषयक ग्रन्थों में महर्षि पतञ्जलि की विशाल दृष्टि के लिए आदर प्रकट करके गुण-ग्राहकता का परिचय दिया है।[1] यह नितान्त सत्य है कि जब मनुष्य शाब्दिक ज्ञान की प्राथमिक भूमिका से आगे बढ़ जाता है, तब वह शब्दों की पूँछ न खींच कर चिन्ता-ज्ञान तथा भाव-ज्ञान[2] से उत्तरोत्तर—अधिकाधिक एकता वाले प्रदेश में स्थित होकर अभेद एवं निष्पक्ष—पक्षपात रहित आनन्द का अनुभव करता है।

बौद्ध योग परम्परा

बौद्ध साहित्य में योग के स्थान में 'ध्यान' और 'समाधि' शब्द का प्रयोग मिलता है। बोधित्व प्राप्त होने के पूर्व तथागत बुद्ध ने श्वासोच्छ्वास का निरोध करने का प्रयत्न किया। वे अपने शिष्य

उक्त द्रव्य-पर्याय रूप या उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य—इस त्रिरूपता का ही चित्रण है। इसमें कुछ भिन्नता भी है, वह यह है कि योग-सूत्र सांख्य-दर्शन के अनुसार निर्मित है, इसलिए वह 'ऋतेचित्‌शक्तेः परिणामिनो भावः' इस सूत्र को मानकर परिणामवाद का उपयोग सिर्फ जड़ भाग—प्रकृति में करता है, चेतन में नहीं। और जैन-दर्शन 'सर्वे भावाः परिणामिनः' ऐसा मानकर परिणामवाद का उपयोग जड़-चेतन दोनों में करता है। इतनी भिन्नता होने पर भी परिणामवाद की प्रक्रिया दोनों में एक-सी है।

१. योग-बिन्दु, ६६; योगदृष्टि समुच्चय, १००.
२. शब्द, चिन्ता तथा भावना ज्ञान के स्वरूप को विस्तार से समझने की जिज्ञासा रखने वाले पाठक उपाध्याय यशोविजय जी कृत अध्यात्मोपनिषद्, श्लोक ६५, ७४ देखें।

अग्गिवेस्सन को कहते हैं कि मैं श्वासोच्छ्वास का निरोध करना चाहता था, इसलिए मैं मुख, नाक एवं कर्ण – कान में से निकलते हुए साँस को रोकने का, उसे निरोध करने का प्रयत्न करता रहा।[1] परन्तु, इससे उन्हें समाधि प्राप्त नहीं हुई। इसलिए वोधित्व प्राप्त होने के वाद तथागत वुद्ध ने हठयोग की साधना का निपेध किया और आर्य अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया।[2]

इस अष्टांगिक मार्ग में समाधि को विशेष महत्व दिया गया है। वस्तुतः समाधि के रक्षण के लिए ही आर्य अष्टांग में सात अंगों का वर्णन किया है और उन सात अंगों में एकता वनाए रखने के लिए 'समाधि' आवश्यक है।

इस सम्यक्समाधि को प्राप्त करने के लिए चार प्रकार के ध्यान का वर्णन किया गया है—१. वितर्क-विचार-प्रीति-सुख-एकाग्रता सहित, २. प्रीति-सुख-एकाग्रता सहित, ३. सुख-एकाग्रता सहित, और ४. एकाग्रता सहित।[3] प्रस्तुत में वितर्क का अर्थ है—ऊह अर्थात् सर्वप्रथम किसी आलम्बन को ग्रहण करके समाधि के विषय में चित्त के प्रवेश को 'वितर्क' कहते हैं, उस विषय में गहरे उतरने को 'विचार' कहते हैं, उससे जो आनन्द उपलब्ध होता है, उसे 'प्रीति' कहते हैं। उस आनन्द से

---

१. अंगुतरनिकाय, ६३।

२. १. सम्यग्दृष्टि, २. सम्यक्संकल्प, ३. सम्यग्वाणी, ४. सम्यक्कर्म, ५. सम्यकाजीविका, ६. सम्यग्व्यायाम, ७. सम्यक्स्मृति और ८. सम्यक्समाधि।

—संयुतनिकाय ५, १०; विभंग, ३१७–२८.

३. मज्झिमनिकाय, दीघनिकाय, सामञ्जकफल सुतं; बुद्धलीलासार संग्रह, पृष्ठ १२८; समाधि मार्ग (धर्मानन्द कौशम्बी), पृष्ठ १५।

शरीर को जो समाधान मिलता है, वह 'सुख' है, और उस विषय में चित्त की जो एकाग्रता होती है, उसे 'एकाग्रता' कहते हैं और उस विषय से अत्यधिक परिचय होने पर उससे उत्पन्न होने वाली निर्भयता या निष्कंपता को 'उपेक्षा' कहते हैं। ज्यों-ज्यों साधक का अभ्यास बढ़ता है, त्यों-त्यों उसका विकास भी बढ़ता रहता है। समाधि मार्ग में गहरा उतर जाने के वाद साधक को वितर्क और विचार की आवश्यकता नहीं रहती। इसके विना भी वह आनन्द को प्राप्त कर लेता है। इसके आगे आनन्द के विना भी उसे सुख की अनुभूति होने लगती है। और अन्त में जब उसमें उपेक्षा या एकाग्रता आ जाती है, तब वह पूर्णतः निर्भय एवं निष्कंप हो जाता है। इस अवस्था में वितर्क, विचार, प्रीति और सुख—किसी के चिन्तन की आवश्यकता नहीं रहती है। यह ध्यान की चरम पराकाष्ठा है।

सुत्तपिटक में आन-पान-स्मृति का वर्णन मिलता है। चित्त-वृत्ति को एकाग्र करने के लिए इसका उपदेश दिया गया है। इसमें बताया है कि साधक साँस ग्रहण करते एवं छोड़ते समय पूरी सावधानी रखे, अपने चित्त को साँस लेने एवं छोड़ने की क्रिया के साथ संलग्न करे। चित्त को स्थिर करने के लिए साधक 'अरहं' शब्द पर अपने चित्त को स्थित करके श्वासोच्छ्वास ले। यदि अरहं शब्द पर चित्त स्थिर नहीं रह पाता है तो उसे गणना, अनुवन्धना, स्पर्श और स्थापना का प्रयोग करना चाहिए।[1]

गणना का अर्थ साँस लेते और छोड़ते समय साँस की गणना की जाए। यह गणना न तो दस से अधिक होनी चाहिए और न पाँच से कम। यदि दस से अधिक करते रहे तो चित्त अरहं के चिन्तन में न लगकर केवल गणना में ही लगा रहेगा और पाँच से कम करते हैं तो

१. विशुद्धिमग्ग।

मन डगमगा जाएगा। अतः गणना के लिए पाँच और दस के बीच की संख्या लेनी चाहिए।

जब मन गणना करने में संलग्न हो जाए, तब गणना के कार्य को छोड़कर सांस के अन्दर जाने एवं बाहर आने के साथ चित्त भी अन्दर-बाहर आता-जाता रहे अर्थात् चित्त को श्वासोच्छ्वास के साथ जोड़ दे। इस प्रक्रिया को 'अनुबन्धना' कहते हैं।

श्वास और प्रश्वास आते-जाते समय नासिका के अग्र भाग को स्पर्श करते हैं। अतः उस स्थान पर चित्त को लगाना स्पर्श कहलाता है। और श्वास एवं प्रश्वास पर चित्त को एकाग्र करने की प्रक्रिया को स्थापना कहते हैं।

जब साधक चित्त को एकाग्र कर लेता है, तो समझना चाहिए उसने समाधि-मार्ग में प्रवेश कर लिया है। अब उसे चाहिए कि वह चित्त की एकाग्रता के अभ्यास को इतना दृढ़ कर ले कि भय, शोक एवं हर्ष आदि के समय भी चित्त विभ्रान्त न हो सके।

प्रथम चौकड़ी में मन को एकाग्र करने के लिए उसे गणना आदि के साथ जोड़ने का उपदेश दिया गया है। द्वितीय चौकड़ी में चित्त को, मन को एकाग्र करने के लिए प्रीति-प्रेम को मुख्य स्थान दिया गया है। प्रस्तुत में प्रीति का अर्थ है—निष्काम प्रेम, विश्व-बन्धुत्व की भावना। इस साधना से योगी का मन प्रीति के साथ एकाग्र हो जाता है, निष्कंप बन जाता है और योगी अपनी वेदना, रोग एवं दुःख-दर्द आदि को भूल जाता है। तब उसे अनुपम सुख एवं आनन्द की अनुभूति होती है।

इस प्रयत्न से योगी के चित्त की गति मन्द हो जाती है, उसमें स्थिरता आ जाती है। तब वह चित्त को विमुक्त करके श्वासोच्छ्वास की क्रिया करता हैं अर्थात् वह श्वासोच्छ्वास में आसक्त नहीं होता है।

इस प्रक्रिया से उसे अनन्त सुख मिलता है, फिर भी वह उसमें आवद्ध नहीं होता है।

इस अभ्यास के पश्चात् योगी निर्वाण-मार्ग में प्रविष्ट होता है। इसके अभ्यास के लिए वह अनित्यता का चिन्तन करता है। अनित्यता से वैराग्य का अनुभव होता है और इससे समस्त वृत्तियाँ एवं मनोभावनाएँ विलीन हो जाती हैं और योगी निर्वाण-पद को प्राप्त कर लेता है।

बौद्ध साहित्य में समाधि एवं निर्वाण प्राप्त करने के लिए ध्यान के साथ अनित्य भावना को भी महत्व दिया गया है। तथागत बुद्ध अपने शिष्यों से कहते हैं—"हे भिक्षुओ ! रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, संज्ञा अनित्य है, संस्कार अनित्य है, विज्ञान अनित्य है। जो अनित्य है, वह दुःखप्रद है। जो दुःखप्रद हैं, वह अनात्मक है। जो अनात्मक है, वह मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूं। इस तरह संसार के अनित्य स्वरूप को देखना चाहिए। क्योंकि 'यदनिच्चं तं दुक्खं' जो अनित्य है वह दुःख रूप है।"

जैन विचारकों ने भी अनित्य भावना के चिन्तन को महत्व दिया है। भरत चक्रवर्ती ने इस अनित्य भावना के द्वारा ही चक्रवर्ती वैभव भोगते हुए केवल-ज्ञान को प्राप्त किया था। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अनित्य भावना का यही स्वरूप वताया है—"इस संसार के समस्त पदार्थ अनित्य हैं। प्रातःकाल जिसे देखते हैं, वह मध्याह्न में दिखाई नहीं देता और मध्याह्न में जो दृष्टिगोचर होता है, वह रात्रि में नजर नहीं आता।"[1]

ध्यान पर तुलनात्मक विचार

बौद्ध साहित्य में योग-साधना के लिए 'ध्यान' एवं 'समाधि' शब्द का

---

१. देखें योग-शास्त्र (आचार्य हेमचन्द्र), प्रकाश ४, श्लोक ५७-६०.

प्रयोग किया गया है। महर्षि पतंजलि ने सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित—चार प्रकार के संप्रज्ञात योग का उल्लेख किया है। जैन परम्परा में—१. पृथक्त्ववितर्क-सविचार, २. एकत्ववितर्क-अविचार, ३. सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति, ४ समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति—ये शुक्ल-ध्यान के चार भेद माने हैं।

ध्यान के उक्त भेदों में जो शब्द-साम्य परिलक्षित होता है, वह महत्वपूर्ण है। परन्तु, तीनों परम्पराओं में तात्त्विक एवं सैद्धान्तिक भेद होने के कारण ध्यान के भेदों में शब्द-साम्य होते हुए भी अर्थ की छाया विभिन्न दिखाई देती है। इसका कारण है—दृष्टि की विभिन्नता। सांख्य परम्परा प्रकृतिवादी है और बौद्ध एवं जैन परम्परा परमाणुवादी हैं। जैन परम्परा परमाणु को द्रव्य रूप से नित्य मानकर उसमें रही हुई पयार्यों की अपेक्षा से उसे अनित्य मानती है। परन्तु, बौद्ध परम्परा किसी भी नित्य द्रव्य को नहीं मानती। वह सब कुछ प्रवाह रूप और अनित्य मानती है। यह तीनों परम्पराओं की तात्त्विक मान्यता की भिन्नता है। परन्तु, यदि हम स्थूल दृष्टि से न देखकर सूक्ष्म दृष्टि से तीनों परम्पराओं के अर्थ का अध्ययन करते हैं, तो उसमें भेद के साथ कुछ साम्यता भी दिखाई देती है।

योग-सूत्र में 'वितर्क' और 'विचार' शब्द संप्रज्ञात के साथ आए हैं और आगे चलकर इनके साथ 'समापत्ति' का सम्बन्ध भी जोड़ दिया है। जो विचार और वितर्क संप्रज्ञात से संवद्ध हैं, उनका अनुक्रम से अर्थ है—स्थूल विषय में एकाग्र बने हुए चित्त को, मन को होने वाला स्थूल साक्षात्कार और सूक्ष्म विषय में एकाग्र वने हुए चित्त को होने वाला सूक्ष्म साक्षात्कार। और जव वितर्क और विचार के साथ समापत्ति का वर्णन आता है, तव स्थूल साक्षात्कार को सवितर्क और निर्वितर्क उभय रूप माना है और सूक्ष्म साक्षात्कार को सविचार और निर्विचार—दोनों प्रकार का माना है। इसका निष्कर्ष यह है कि योग-सूत्र में 'वितर्क' और

'विचार' शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। संप्रज्ञात के साथ प्रयुक्त वितर्क पद का अर्थ—स्थूल विषय का साक्षात्कार किया गया है और समापत्ति के साथ प्रयुक्त 'वितर्क' शब्द का अर्थ किया गया है—शब्द, अर्थ और ज्ञान का अभेदाध्यास या विकल्प। इसी तरह संप्रज्ञात के साथ आए हुए विचार का अर्थ है—सूक्ष्म विषयक साक्षात्कार और समापत्ति के साथ प्रयुक्त विचार शब्द का अर्थ है—देश, काल और धर्म से अवच्छिन्न सूक्ष्म पदार्थ का साक्षात्कार।

बौद्ध परम्परा में 'वितर्क' और 'विचार' दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। उसमें वितर्क का अर्थ है—ऊह अर्थात् चित्त किसी भी आलम्बन को आधार बनाकर सर्वप्रथम उसमें प्रवेश करे, उसे 'वितर्क' कहते हैं और जब चित्त उसी आलम्बन में गहराई से उतरकर उसमें एकरस हो जाता है, तब उसे 'विचार' कहते हैं। इस तरह आलम्बन में स्थिर होने वाले चित्त की प्रथम अवस्था को 'वितर्क' और उसके बाद की अवस्था को 'विचार' कहते हैं।

जैन परम्परा में वितर्क का अर्थ है—श्रुत या शास्त्र ज्ञान, और विचार का अर्थ है—एक विषय से दूसरे विषय में संक्रमण करना। योग-सूत्र में प्रयुक्त सवितर्क समापत्ति का अर्थ—विकल्प भी किया गया है। विकल्प का तात्पर्य है—शब्द, अर्थ और ज्ञान में भेद होते हुए भी उसमें अभेद बुद्धि होती है। और निर्वितर्क समापत्ति में ऐसी अभेद बुद्धि नहीं होती है, वहाँ केवल अर्थ का शुद्ध बोध होता है। प्रायः ये ही भाव जैन परम्परा में प्रयुक्त पृथक्त्व-वितर्क और एकत्व-वितर्क में परिलक्षित होते हैं। प्रथम ध्यान में विचार संक्रमण को अवकाश है, परन्तु द्वितीय ध्यान में उसे स्थान नहीं दिया है, जबकि वितर्क को स्थान दिया गया है।

बौद्ध परम्परा द्वारा वर्णित ध्यानों में भी यह क्रम परिलक्षित होता है। इसके प्रथम ध्यान में वितर्क और विचार—दोनों रहते हैं, ५८

द्वितीय ध्यान में दोनों का अस्तित्व नहीं रहता है। जब कि जैन परम्परा के द्वितीय ध्यान में वितर्क का सद्भाव तो रहता है, परन्तु विचार का अस्तित्व नहीं रहता। और योग-सूत्र में सवितर्क संप्रज्ञात में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—इन चारों अंगों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। और बौद्ध परम्परा प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता– इन पाँचों के अस्तित्व को स्वीकार करती है। योग-परम्परा द्वारा मान्य आनन्द या अहलाद और बौद्ध परम्परा द्वारा माने गए प्रीति और सुख में अत्यधिक अर्थ-साम्य है। और ऐसा प्रतीत होता है कि योग परम्परा में प्रयुक्त 'अस्मिता' बौद्ध परम्परा द्वारा प्रयुक्त 'एकाग्रत' के उपेक्षा रूप में प्रयुक्त हुई है।

योग-परम्परा में प्रयुक्त अध्यात्मप्रसाद और ऋतंभरा प्रज्ञा और सूक्ष्म क्रिया-अप्रतिपाति में प्रायः अर्थ-साम्य दिखाई देता है। और जैन-परम्परा का समुच्छिन्न क्रिया-अप्रतिपाति योग-परम्परा का असंप्रज्ञात योग या संस्कार शेष—निर्बीज योग है, ऐसा प्रतीत होता है।[1]

उक्त परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय-संस्कृति में प्रवहमान त्रि-योग परम्पराओं—वैदिक, जैन और बौद्ध में विभिन्न रूप में दिखाई देने वाली व्याख्याओं में बहुत गहरी अनुभव एकता रही हुई है। ये अलग-अलग दिखाई देने वाली कड़िएँ पूर्णतः पृथक् नहीं, प्रत्युत किसी अपेक्षा विशेष से एक-दूसरी कड़ी से आबद्ध—जुड़ी हुई भी हैं।

योग के अन्य अंग

बौद्ध-साहित्य में आर्य अष्टांग का वर्णन किया गया है। उसमें शील, समाधि और प्रज्ञा का उल्लेख मिलता है। शील का अर्थ है—कुशल धर्म को धारण करना, कर्तव्य में प्रवृत्त होना और अकर्तव्य से निवृत्त

---

१. देखो, तत्त्वार्थ सूत्र (पं० सुखलाल संघवी), ९, ४१।

होना।[1] कुशल चित्त की एकाग्रता या चित्त और चैतसिक धर्म का एक ही आलम्बन में सम्यक्तया स्थापन करने की प्रक्रिया का नाम 'समाधि' है।[2] कुशल चित युक्त विपश्य—विवेक ज्ञान को 'प्रज्ञा' कहा है।[3]

बौद्धों द्वारा स्वीकृत शील में पतंजलि सम्मत यम-नियम का समावेश हो जाता है। बौद्ध साहित्य में पंचशील, वैदिक परम्परा में पाँच यम और जैन परम्परा में पाँच महाव्रतों का उल्लेख मिलता है। यम और महाव्रतों के नाम एक-से हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, और ५. अपरिग्रह। पंचशील में प्रथम चार के नाम यही हैं, परन्तु अपरिग्रह के स्थान में मद्य से निवृत्त होने का उल्लेख मिलता है।

समाधि में योग-सूत्र द्वारा मान्य प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश हो जाता है। और जैन परम्परा में वर्णित ध्यान आदि आभ्यन्तर तप में प्रत्याहार आदि चार अंगों का, और बौद्ध दर्शन द्वारा मान्य समाधि का समावेश हो जाता है। और योग-सूत्र सम्मत तप का तीसरा नियम अनशनादि बाह्य तप में आ जाता है। और स्वाध्याय रूप आभ्यन्तर तप और योग-सूत्र द्वारा वर्णित स्वाध्याय का अर्थ एक-सा है।

बौद्ध परम्परा द्वारा मान्य प्रज्ञा और योग-सूत्र द्वारा वर्णित विवेक-ख्याति में पर्याप्त अर्थ-साम्य है। इस तरह बौद्ध साहित्य में वर्णित योग अन्य परम्पराओं से कहीं शब्द से मेल खाता है, तो कहीं अर्थ से और कहीं प्रक्रिया से मिलता है।

जैनागमों में योग

जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान है। इसके चौबीसवें तीर्थंकर भगवान्

---

१. विसुद्धिमग्ग, १, १९-२५।
२. वही, ३, २-३।
३. वही, १४, २-३।

महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहकर घोर तप, ध्यान एवं आत्म-चिन्तन के द्वारा योग-साधना का ही जीवन बिताया था। उनके शिष्य-शिष्या परिवार में पचास हजार व्यक्ति—चवदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियें, ऐसे थे, जिन्होंने योग-साधना में प्रवृत्त होकर साधुत्व को स्वीकार किया था।[1]

जैन परम्परा के मूल ग्रन्थ आगम हैं। उनमें वर्णित साध्वाचार का अध्ययन करने से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि पाँच महाव्रत, समति-गुप्ति, तप, ध्यान, स्वाध्याय आदि—जो योग के मुख्य अंग हैं, उनको साधु जीवन का, श्रमण-साधना का प्राण माना है।[2] वस्तुतः आचार-साधना श्रमण-साधना का मूल है, प्राण है, जीवन है। आचार के अभाव में श्रमणत्व की साधना केवल निष्प्राण कंकाल एवं शव रह जाएगी।

जैनागमों में 'योग' शब्द समाधि या साधना के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वहाँ योग का अर्थ है—मन, वचन और काय—शरीर की प्रवृत्ति। योग शुभ और अशुभ—दो तरह का होता है। इसका निरोध करना ही श्रमण-साधना का मूल उद्देश्य है, मुख्य ध्येय है। अतः जैनागमों में साधु को आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कार्य में प्रवृत्ति करने की ध्रुव आज्ञा नहीं दी है। यदि साधु के लिए अनिवार्य रूप से प्रवृत्ति करना आवश्यक है, तो आगम निवृत्तिपरक प्रवृत्ति करने की अनुमति देता है। इस प्रवृत्ति को आगमिक भाषा में 'समिति-गुप्ति' कहा है, इसे अष्ट प्रवचन माता भी कहते हैं।[3] पाँच समिति—१. इर्या

---

१. चउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं छत्तीसहिं अज्जिआसाहस्सीहिं।
—उववाई सूत्र.

२. आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि।

३. अट्ठ पवयणमायाओ, समिए गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्ती उ अहिया॥
—उत्तराध्ययन सूत्र, २४, १.

समिति, २. भाषा समिति, ३. एषणा समिति, ४. आयाण-भंड-निक्षेपणा समिति, और ५. उच्चार-पासवण-खेल-जल-मैल परिठावणिया समिति, प्रवृत्ति की प्रतीक हैं और त्रि-गुप्ति—मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति, निवृत्तिपरक हैं। समिति अपवाद मार्ग है और गुप्ति उत्सर्ग मार्ग है। साधु को जब भी किसी कार्य में प्रवृत्ति करना अनिवार्य हो, तब वह मन, वचन और काय योग को अशुभ से हटाकर, विवेक एवं सावधानी-पूर्वक प्रवृत्ति करे। इस निवृत्ति-प्रधान एवं त्याग-निष्ठ जीवन को ध्यान में रखकर ही साधु की दैनिक चर्या का विभाग किया गया है। इसमें रात और दिन को चार-चार भागों में विभक्त करके बताया गया है कि साधु दिन और रात के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में स्वाध्याय करे और द्वितीय प्रहर में ध्यान एवं आत्म-चिन्तन में संलग्न रहे। दिन के तृतीय प्रहर में वह आहार लेने को जाए और उस लाए हुए निर्दोष आहार को समभाव पूर्वक अनासक्त भाव से खाए और रात्रि के तृतीय प्रहर में निद्रा से निवृत्त होकर, चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय में संलग्न हो जाए।[1] इस प्रकार दिन-रात के आठ प्रहरों में छह प्रहर केवल स्वाध्याय, ध्यान, आत्म-चिन्तन-मनन में लगाने का आदेश है। सिर्फ दो प्रहर प्रवृत्ति के लिए हैं, वह भी संयम-पूर्वक प्रवृत्ति करने के लिए, न कि अपनी इच्छानुसार।

श्रमण-साधना का मूल ध्येय—योगों का पूर्णतः निरोध करना है। परन्तु, इसके लिए हठयोग की साधना को बिल्कुल महत्व नहीं दिया है। यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि वैदिक परम्परा के योग विषयक ग्रन्थों में भी हठयोग को अग्राह्य कहा है,[2] फिर भी वैदिक परम्परा में हठयोग की प्रधानता वाले अनेक ग्रन्थों एवं मार्गों का निर्माण हुआ है। परन्तु, जैन साहित्य में हठयोग को कोई स्थान नहीं दिया है। क्योंकि, हठयोग

१. उत्तराध्ययन सूत्र, २६, ११-१२; १७-१८.

२. योगवासिष्ठ, ९२, ३७-३९।

से हठ पूर्वक, वल पूर्वक रोका गया मन थोड़ी देर के बाद जब छूटता है, तो सहसा टूटे हुए बाँध की तरह तीव्र वेग से प्रवाहित होता है और सारी साधना को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। इसलिए जैन परम्परा में योगों का निरोध करने के लिए हठयोग के स्थान में समिति-गुप्ति का विधान किया गया है, जिसे सहज योग भी कहते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जब भी सावक आने-जाने, उठने-बैठने, खाने-पीने, पढ़ने-पढ़ाने आदि की जो भी क्रिया करे, उस समय वह अपने योगों को अन्यत्र से हटाकर उस क्रिया में केन्द्रित कर ले। वह उस समय तद्रूप वन जाए। इससे मन इतस्ततः न भटक कर एक जगह केन्द्रित हो जाएगा और उसकी साधना निर्वाध गति से प्रगतिशील बनी रहेगी।

जैनागमों में योग-साधना के अर्थ में 'ध्यान' शव्द का प्रयोग हुआ है। ध्यान का अर्थ है—अपने योगों को आत्म-चिन्तन में केन्द्रित करना। ध्यान में काय-योग की प्रवृत्ति को भी इतना रोक लिया जाता है कि चिन्तन के लिए ओष्ठ एवं जिह्वा को हिलाने की भी अनुमति नहीं है। उसमें केवल साँस के आवागमन के अतिरिक्त कोई हरकत नहीं की ज़ाती। इस तरह काय स्थिरता के साथ मन और वचन को भी स्थिर किया जाता है। जब मन चिन्तन में संलग्न हो जाता है; तब उसे यथार्थ में ध्यान एवं साधना कहते हैं। एकाग्रता के अभाव में वह साधना भाव—यथार्थ साधना नहीं, बल्कि द्रव्य-साधना कहलाती है। भाव-आवश्यक की व्याख्या करते हुए कहा है—प्रत्येक साधक—भले ही वह साधु हो या साध्वी, श्रावक हो या श्राविका, जब अपना मन, चित्त, लेश्या, अध्यवसाय, उपयोग उसमें लगा देता है, उसमें प्रीति रखता है, उसकी भावना करता है और अपने मन को अन्यत्र नहीं जाने देता है, इस तरह जो साधक उभय काल आवश्यक—प्रतिक्रमण करता है, उसे 'भाव-आवश्यक' कहते हैं।[1] इसके अभाव में किया जाने वाला

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र, श्रुताधिकार, २७।

अंकुरित एवं पल्लवित-पुष्पित नहीं होता । अतः योग-साधना का विकास देशविरति से माना गया है ।

१. अध्यात्म

यथाशक्य अणुव्रत या महाव्रत को स्वीकार करके मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ भावना-पूर्वक आगम के अनुसार तत्त्व या आत्म-चिन्तन करना अध्यात्म-साधना है । इससे पाप-कर्म का क्षय होता है, वीर्य—सद् पुरुषार्थ का उत्कर्ष होता है और चित्त में समाधि की प्राप्ति होती है ।

२. भावना

अध्यात्म चिन्तन का वार-वार अभ्यास करना 'भावना' है । इससे काम, क्रोध आदि मनोविकारों एवं अशुभ भावों की निवृत्ति होती है और ज्ञान आदि शुभ भाव परिपुष्ट होते हैं ।

३. ध्यान

तत्त्व चिन्तन की भावना का विकास करके मन को, चित्त को किसी एक पदार्थ या द्रव्य के चिन्तन पर एकाग्र करना, स्थिर करना 'ध्यान' है । इससे चित्त स्थिर होता है और भव-परिभ्रमण के कारणों का नाश होता है ।

४. समता

संसार के प्रत्येक पदार्थ एवं सम्बन्ध पर—भले ही वह इष्ट हो या अनिष्ट, तटस्थ वृत्ति रखना 'समता' है । इससे अनेक लब्धियों की प्राप्ति होती है और कर्मों का क्षय होता है ।

५. वृत्ति-संक्षय

विजातीय द्रव्य से उद्भूत चित्त-वृत्तियों का जड़मूल से नाश करना 'वृत्ति-संक्षय' है । इस साधना के सफल होते ही घाति-कर्म का

समूलतः क्षय हो जाता है, केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन की प्राप्ति होती है और क्रमशः चारों अघाति-कर्मो का क्षय होकर निर्वाण पद—मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आत्मा भावों का विकास करके एवं उन्हें शुद्ध बनाते हुए चारित्र की तीन भूमिकाओं को पार करके चौथी समता साधना में प्रविष्ट होता है और वहाँ क्षपक श्रेणी करता है। उसके बाद वह वृत्ति-संक्षय की साधना करता है। आचार्य हरिभद्र ने प्रथम की चार भूमिकाओं का पातञ्जलि योग-सूत्र में वर्णित संप्रज्ञात समाधि के साथ और अन्तिम पाँचवीं भूमिका का असंप्रज्ञात समाधि के साथ समानता बताई है। उपाध्याय यशोविजय जी ने भी अपनी योग-सूत्र वृत्ति में इस समानता को स्वीकार किया है।

आपने प्रस्तुत ग्रन्थ में पाँच अनुष्ठानों का भी वर्णन किया है—१. विष, २. गर, ३. अनुष्ठान, ४. तद्धेतु, और ५. अमृत अनुष्ठान। इसमें प्रथम के तीन असदनुष्ठान हैं। अन्तिम के दो अनुष्ठान सदनुष्ठान हैं और योग-साधना के अधिकारी व्यक्ति को सदनुष्ठान ही होता है।

२. योगदृष्टि-समुच्चय

प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित आध्यात्मिक विकास का क्रम परिभाषा, वर्गीकरण और शैली की अपेक्षा से योग-विन्दु से अलग दिखाई देता है। योग-विन्दु में प्रयुक्त कुछ विचार इसमें शब्दान्तर से अभिव्यक्त किए गए हैं और कुछ विचार अभिनव भी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में योग-विन्दु में प्रयुक्त अचरमावर्त काल—अज्ञान काल की अवस्था को 'ओघ-दृष्टि' और चरमावर्त काल—ज्ञानकाल की अवस्था को 'योग-दृष्टि' कहा है। ओघ-दृष्टि में प्रवृत्तमान भवाभिनन्दी का वर्णन योग-विन्दु के वर्णन-सा ही है।

इस ग्रन्थ में योग की भूमिकाओं या योग के अधिकारियों को तीन

विभागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भेद में प्रारंभिक अवस्था से लेकर विकास की चरम—अन्तिम अवस्था तक की भूमिकाओं के कर्ममल के तारतम्य की अपेक्षा से आठ विभाग किए हैं—१. मित्रा, २. तारा, ३. बला, ४. दीप्रा, ५. स्थिता, ६. कान्ता, ७. प्रभा, और ८. परा।

ये आठ विभाग पातञ्जल योग-सूत्र में क्रमशः यम, नियम, प्रत्याहार आदि; बौद्ध परंपरा के खेद, उद्वेग आदि; अष्ट पृथक्जनर्चित—दोष-परिहार और अद्वेष, जिज्ञासा आदि अष्टयोग गुणों के प्रकट करने के आधार पर किए गए हैं। इसके पश्चात् उक्त आठ भूमिकाओं में प्रवृत्तमान साधक के स्वरूप का वर्णन किया है। इसमें पहली चार भूमिकाएँ प्रारंभिक अवस्था में होती है, इनमें मिथ्यात्व का कुछ अंश शेष रहता है। परन्तु, अन्तिम की चार भूमिकाओं में मिथ्यात्व का अंश नहीं रहता है।

द्वितीय विभाग में योग के तीन विभाग किए हैं—१. इच्छा-योग, २. शास्त्र-योग, और ३. सामर्थ्य-योग। धर्म-साधना में प्रवृत्त होने की इच्छा रखने वाले साधक में प्रमाद के कारण जो विकल-धर्म-योग है, उसे 'इच्छा-योग' कहा है। जो धर्म-योग शास्त्र का विशिष्ट बोध कराने वाला हो या शास्त्र के अनुसार हो, उसे 'शास्त्र-योग' कहते हैं और जो धर्म योग आत्म-शक्ति के विशिष्ट विकास के कारण शास्त्र मर्यादा से भी ऊपर उठा हुआ हो, उसे 'सामर्थ्य-योग' कहते हैं।

तृतीय भेद में योगी को चार भागों में बाँटा है—१. गोत्र-योगी, २. कुल-योगी, ३. प्रवृत्त-चक्र-योगी, और ४. सिद्ध-योगी। इनमें गोत्र-योगी में योग-साधना का अभाव होने के कारण वह योग का अधिकारी नहीं है। दूसरा और तीसरा योगी योग-साधना का अधिकारी है। और सिद्ध-योगी अपनी साधना को सिद्ध कर चुका है, अब उसे योग की आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए वह भी योग-साधना का

अधिकारी नहीं है। इस तरह योगदृष्टि समुच्चय में अष्टांग योग एवं योग तथा योगियों के वर्गीकरण में नवीनता है।

योग-शतक

प्रस्तुत ग्रन्थ विषय निरूपण की दृष्टि से योग-बिन्दु के अधिक निकट है। योग-बिन्दु में वर्णित अनेक विचारों का योग-शतक में संक्षेप से वर्णन किया है। ग्रन्थ के प्रारंभ में योग का स्वरूप दो प्रकार का बताया है—१. निश्चय, और २. व्यवहार। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र का आत्मा के साथ के सम्बन्ध को 'निश्चय योग' कहा है और उक्त तीनों के कारणों—साधनों को 'व्यवहार योग' कहा है। योग-साधना के अधिकारी और अनधिकारी का वर्णन योग-बिन्दु की तरह किया है। चरमावर्त में प्रवृत्तमान योग अधिकारियों का वर्णन एवं अपुनर्बन्धक सम्यग्दृष्टि का वर्गीकरण योग-बिन्दु के समान ही किया है।

साधक जिस भूमिका पर स्थित है, उससे ऊपर की भूमिकाओं पर पहुँचने के लिए उसे क्या करना चाहिए ? इसके लिए योग-शतक में कुछ नियमों एवं साधनों का वर्णन किया है। आचार्य हरिभद्र ने बताया है कि साधक को साधना का विकास करने के लिए—१. अपने स्वभाव की आलोचना, लोक परम्परा के ज्ञान और शुद्ध योग के व्यापार से उचित-अनुचित प्रवृत्ति का विवेक करना चाहिए, २. अपने से अधिक गुण सम्पन्न साधक के सहवास में रहना चाहिए, ३. संसार स्वरूप एवं राग-द्वेष आदि दोषों के चिन्तन रूप आभ्यन्तर साधन और भय, शोक आदि रूप अकुशल कर्म के निवारण के लिए गुरु, तप, जप जैसे बाह्य साधनों का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। साधना की विकसित भूमिकाओं की ओर प्रवृत्तमान साधक को उक्त साधना का आश्रय लेना चाहिए।

अभिनव साधक को पहले श्रुत पाठ, गुरु सेवा, आगम आज्ञा, जैसे स्थूल साधन का आश्रय लेना चाहिए। और शास्त्र के अर्थ का यथार्थ

बोध हो जाने के बाद साधक को राग-द्वेष, मोह जैसे आन्तरिक दोषों को निकालने के लिए आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में यह भी बताया गया है कि चित्त में स्थिरता लाने के लिए साधक को रागादि दोषों के विषय एवं परिणामों का किस तरह चिन्तन करना चाहिए।

इतना वर्णन करने के बाद आचार्य श्री ने यह बताया है कि योग-साधना में प्रवृत्तमान साधक को अपने सद्विचार के अनुरूप कैसा आहार करना चाहिए। इसके लिए ग्रन्थकार ने सर्वसंपत्कारी भिक्षा के स्वरूप का वर्णन किया है। इस प्रकार चिन्तन और उसके अनुरूप आचरण करने वाला साधक अशुभ कर्मों का क्षय और शुभ कर्मों का बन्ध करता है तथा क्रमशः आत्म-विकास करता हुआ अबन्ध अवस्था को प्राप्त करके कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है।

योग-विंशिका

प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल बीस गाथाएँ हैं। इसमें योग-साधना का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसमें आध्यात्मिक विकास की प्रारम्भिक भूमिकाओं का वर्णन नहीं है। परन्तु, योग-साधना की या आध्यात्मिक साधना एवं विचारणा—चिन्तन की विकासशील अवस्थाओं का निरूपण है। इसमें चारित्रशील एवं आचारनिष्ठ साधक को योग का अधिकारी माना है और उसकी धर्म-साधना या साधना के लिए की जाने वाली आवश्यक धर्म-क्रिया को 'योग' कहा है और उसकी पाँच भूमिकाएँ बताई हैं—१. स्थान, २ ऊर्ण, ३. अर्थ, ४. आलम्बन, और ५. अनालम्बन। प्रस्तुत ग्रन्थ में इनमें से आलम्बन और अनालम्बन की ही व्याख्या की है। प्रथम के तीन भेदों की मूल में व्याख्या नहीं की गई है। परन्तु, उपाध्याय यशोविजय जी ने योग-विंशिका की टीका में

पांचों का अर्थ किया है।[1] और इनमें से प्रथम के दो को कर्म-योग और अन्त के तीन भेदों को ज्ञान-योग कहा है। इसके अतिरिक्त स्थान आदि पांचों भेदों के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्ध—ये चार-चार भेद करके उनके स्वरूप और कार्य का वर्णन किया है।

ऊपर आचार्य हरिभद्र के योग-विषयक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इसका अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि आचार्य श्री ने अपने ग्रन्थों में मुख्य रूप से चार बातों का उल्लेख किया है—

१. कौन साधक योग का अधिकारी है और कौन अनधिकारी।
२. योग का अधिकार प्राप्त करने के लिए पूर्व तैयारी—साधना का स्वरूप।
३. योग-साधना की योग्यता के अनुसार साधकों का विभिन्न रूप से वर्गीकरण और उनके स्वरूप एवं अनुष्ठान का वर्णन।
४. योग-साधना के उपाय—साधन और भेदों का वर्णन।

आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हरिभद्र के बाद आचार्य हेमचन्द्र का नम्बर आता है। आचार्य हेमचन्द्र विक्रम की बारहवीं शताब्दी के एक प्रख्यात आचार्य हुए हैं। आप केवल जैनागम एवं न्याय-दर्शन के ही प्रकाण्ड पण्डित नहीं थे, प्रत्युत व्याकरण, साहित्य, छन्द, अलंकार, काव्य, न्याय, दर्शन, योग

---

१. कायोत्सर्ग, पर्यंकासन, पद्मासन आदि आसनों को स्थान कहा है। प्रत्येक क्रिया करते समय जिस सूत्र का उच्चारण किया जाता है, उसे ऊर्ण, वर्ण या शब्द कहते हैं। सूत्र के अर्थ का बोध होना अर्थ है। बाह्य विषयों का ध्यान यह आलम्बन योग है। और रूपी द्रव्य का आलम्बन लिए बिना शुद्ध आत्मा की समाधि को अनालम्बन योग कहा है।

—योग-विंशिका, टीका २.

आदि सभी विषयों पर आपका अधिकार था और उक्त सभी विषयों पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। आपके विशाल एवं गहन अध्ययन एवं ज्ञान के कारण आपको 'कलिकाल सर्वज्ञ' के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योग पर योग-शास्त्र लिखा है। उसमें पातञ्जल योग-सूत्र में निर्दिष्ट अष्टांग योग के क्रम से गृहस्थ जीवन एवं साधु जीवन की आचार साधना का जैनागम के अनुसार वर्णन किया है। इसमें आसन, प्राणायाम आदि से सम्बन्धित बातों का भी विस्तृत वर्णन है। और आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में वर्णित पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का भी उल्लेख किया है। अन्त में आचार्य श्री ने अपने स्वानुभव के आधार पर मन के चार भेदों—विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन—का वर्णन करके नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। निस्सन्देह योग-शास्त्र जैन तत्त्व ज्ञान, आचार एवं योग-साधना का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

आचार्य शुभचन्द्र

योग विषय पर आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव की रचना की है। ज्ञानार्णव और योग-शास्त्र में बहुत-सा विषय एक-सा है। ज्ञानार्णव में सर्ग २९ से ४२ तक प्राणायाम और ध्यान के स्वरूप एवं भेदों का वर्णन किया है। यही वर्णन योग-शास्त्र में पञ्चम प्रकाश से एकादश प्रकाश तक के वर्णन में मिलता है। उभय ग्रन्थों में वर्णित विषय ही नहीं, बल्कि शब्दों में भी बहुत कुछ समानता है। प्राणायाम आदि से प्राप्त होने वाली लब्धियों एवं परकाय आदि प्रवेश के फल का निरूपण करने के बाद दोनों आचार्यों ने प्राणायाम को साध्य सिद्धि के लिए अनावश्यक, निरुपयोगी, अहितकारक एवं अनर्थकारी बताया है। ज्ञानार्णव में २१ से २७ सर्गों में यह बताया है कि आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप है। कषाय आदि दोषों ने आत्म-शक्तियों को आवृत्त कर रखा है। अतः

राग-द्वेष एवं कषाय आदि दोषों का क्षय करना—मोक्ष है। इसलिए इसमें यह बताया है कि कषाय पर विजय प्राप्त करने का साधन इन्द्रिय-जय है, इन्द्रियों को जीतने का उपाय—मन की शुद्धि है, मन-शुद्धि का साधन है—राग-द्वेष को दूर करना, और उसे दूर करने का साधन है—समत्व भाव की साधना। समत्व भाव की साधना ही ध्यान या योग-साधना की मुख्य विशेषता है। यह वर्णन योग-शास्त्र में भी शब्दशः एवं अर्थशः एक-सा है। यह सत्य है कि अनित्य आदि बारह भावनाओं और पाँच महाव्रतों का वर्णन उभय ग्रन्थों में एक-से शब्दों में नहीं है। फिर भी वर्णन की शैली में समानता है। उभय ग्रन्थों में यदि कुछ अन्तर है तो वह यह है कि ज्ञानार्णव के तीसरे प्रकरण में ध्यान-साधना करने वाले साधक के लिए गृहस्थाश्रम के त्याग का स्पष्ट विधान किया गया है, जब कि आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थाश्रम की भूमिका पर ही योग-शास्त्र की रचना की है।

आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं—"बुद्धिशाली एवं त्याग-निष्ठ होने पर भी साधक महादुःखों से भरे हुए और अत्यधिक निन्दित गृहस्थाश्रम में रहकर प्रमाद पर विजय नहीं पा सकता और चंचल मन को वश में नहीं कर सकता। अतः चित्त की शान्ति के लिए महापुरुष गृहस्थाश्रम का त्याग ही करते हैं।" "अरे! किसी देश और किसी काल-विशेष में आकाश-पुष्प और गधे के सिर पर शृङ्ग का अस्तित्व मिल भी सकता है, परन्तु किसी भी काल और किसी भी देश में गृहस्थाश्रम में रहकर ध्यान सिद्धि को प्राप्त करना सम्भव ही नहीं है।" परन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थ अवस्था में ध्यान सिद्धि का निषेध नहीं किया है। आगमों में भी गृहस्थ जीवन में धर्म-ध्यान की साधना को स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि किसी साधु की साधना की अपेक्षा गृहस्थ की साधना में उत्कृष्ट हो

आदि सभी विषयों पर आपका अधिकार था और उक्त सभी विषयों पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। आपके विशाल एवं गहन अध्ययन एवं ज्ञान के कारण आपको 'कलिकाल सर्वज्ञ' के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योग पर योग-शास्त्र लिखा है। उसमें पातञ्जल योग-सूत्र में निर्दिष्ट अष्टांग योग के क्रम से गृहस्थ जीवन एवं साधु जीवन की आचार साधना का जैनागम के अनुसार वर्णन किया है। इसमें आसन, प्राणायाम आदि से सम्बन्धित बातों का भी विस्तृत वर्णन है। और आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में वर्णित पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का भी उल्लेख किया है। अन्त में आचार्य श्री ने अपने स्वानुभव के आधार पर मन के चार भेदों—विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन—का वर्णन करके नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। निस्सन्देह योग-शास्त्र जैन तत्त्व ज्ञान, आचार एवं योग-साधना का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

आचार्य शुभचन्द्र

योग विषय पर आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव की रचना की है। ज्ञानार्णव और योग-शास्त्र में बहुत-सा विषय एक-सा है। ज्ञानार्णव में सर्ग २९ से ४२ तक प्राणायाम और ध्यान के स्वरूप एवं भेदों का वर्णन किया है। यही वर्णन योग-शास्त्र में पञ्चम प्रकाश से एकादश प्रकाश तक के वर्णन में मिलता है। उभय ग्रन्थों में वर्णित विषय ही नहीं, बल्कि शब्दों में भी बहुत कुछ समानता है। प्राणायाम आदि से प्राप्त होने वाली लब्धियों एवं परकाय आदि प्रवेश के फल का निरूपण करने के बाद दोनों आचार्यों ने प्राणायाम को साध्य सिद्धि के लिए अनावश्यक, निरुपयोगी, अहितकारक एवं अनर्थकारी बताया है। ज्ञानार्णव में २१ से २७ सर्गों में यह बताया है कि आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप है। कषाय आदि दोषों ने आत्म-शक्तियों को आवृत्त कर रखा है। अतः

राग-द्वेष एवं कषाय आदि दोषों का क्षय करना—मोक्ष है। इसलिए इसमें यह बताया है कि कषाय पर विजय प्राप्त करने का साधन इन्द्रिय-जय है, इन्द्रियों को जीतने का उपाय—मन की शुद्धि है, मन-शुद्धि का साधन है—राग-द्वेष को दूर करना, और उसे दूर करने का साधन है—समत्व भाव की साधना। समत्व भाव की साधना ही ध्यान या योग-साधना की मुख्य विशेषता है। यह वर्णन योग-शास्त्र में भी शब्दशः एवं अर्थशः एक-सा है। यह सत्य है कि अनित्य आदि बारह भावनाओं और पांच महाव्रतों का वर्णन उभय ग्रन्थों में एक-से शब्दों में नहीं है। फिर भी वर्णन की शैली में समानता है। उभय ग्रन्थों में यदि कुछ अन्तर है तो वह यह है कि ज्ञानार्णव के तीसरे प्रकरण में ध्यान-साधना करने वाले साधक के लिए गृहस्थाश्रम के त्याग का स्पष्ट विधान किया गया है, जब कि आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थाश्रम की भूमिका पर ही योग-शास्त्र की रचना की है।

आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं—"बुद्धिशाली एवं त्याग-निष्ठ होने पर भी साधक महादुःखों से भरे हुए और अत्यधिक निन्दित गृहस्थाश्रम में रहकर प्रमाद पर विजय नहीं पा सकता और चंचल मन को वश में नहीं कर सकता। अतः चित्त की शान्ति के लिए महापुरुष गृहस्थाश्रम का त्याग ही करते हैं।" "अरे! किसी देश और किसी काल-विशेष में आकाश-पुष्प और गधे के सिर पर शृङ्ग का अस्तित्व मिल भी सकता है, परन्तु किसी भी काल और किसी भी देश में गृहस्थाश्रम में रहकर ध्यान सिद्धि को प्राप्त करना सम्भव ही नहीं है।" परन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थ अवस्था में ध्यान सिद्धि का निषेध नहीं किया है। आगमों में भी गृहस्थ जीवन में धर्म-ध्यान की साधना को स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में तो यहां तक कहा गया है कि किसी साधु की साधना की अपेक्षा गृहस्थ की साधना में उत्कृष्ट हो

सकता है।[1] अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने भी पञ्चम गुणस्थान में धर्म ध्यान को माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने तो योग-शास्त्र का निर्माण राजा कुमारपाल के लिए ही किया था।

उपाध्याय यशोविजय

इसके पश्चात् उपाध्याय यशोविजय जी के योग-विषयक ग्रन्थों पर दृष्टि जाती है। उपाध्याय जी का आगम ज्ञान, चिन्तन-मनन, तर्क-कौशल और योगानुभव विस्तृत एवं गंभीर था। ज्ञान की विशालता के साथ उनकी दृष्टि भी विशाल एवं व्यापक थी। उनका हृदय सांप्रदायिक संकीर्णताओं से रहित था। वस्तुतः उपाध्याय जी केवल परंपराओं के पुजारी नहीं, बल्कि सत्योपासक थे।

उपाध्याय यशोविजय जी ने योग पर अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् और सटीक बत्तीस बत्तीसियाँ लिखीं, जिनमें जैन मान्यताओं का स्पष्ट एवं रोचक वर्णन करने के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के साथ जैन-दर्शन की साम्यता का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त गुजराती भाषी विचारकों के लिए आपने गुजराती भाषा में भी योगदृष्टि सज्झाय की रचना की।

अध्यात्मसार ग्रन्थ में उपाध्याय जी ने योगाधिकार और ध्यानाधिकार प्रकरण में मुख्य रूप से गीता एवं पातञ्जल योग-सूत्र का उपयोग करके जैन परंपरा में प्रसिद्ध ध्यान के अनेक भेदों का उभय ग्रन्थों के साथ समन्वय किया है। उपाध्याय जी का यह समन्वयात्मक वर्णन दृष्टि तथा विचार समन्वय के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

आध्यात्मोपनिषद् ग्रन्थ में आपने शास्त्र-योग, ज्ञान-योग, क्रिया-योग और साम्य-योग के सम्बन्ध में योगवासिष्ठ और तैत्तिरीय उपनिषद्

---

१. संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।

—उत्तराध्ययन, ५, २०.

के वाक्यों से उद्धरण देकर जैन-दर्शन के साथ तात्त्विक ऐक्य या समानता दिखाई है।

योगावतार बत्तीसी में आपने मुख्यतया पातञ्जल योग-सूत्र में वर्णित योग-साधना का जैन प्रक्रिया के अनुसार विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त उपाध्याय जी ने आचार्य हरिभद्र की योग-विंशिका एवं षोडशक पर टीकाएँ लिखकर उनमें अन्तर्निहित गूढ़ तत्त्वों का उद्घाटन किया है। वे इतना लिखकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने पातञ्जल योग-सूत्र पर भी जैन-सिद्धान्त के अनुसार एक छोटी-सी वृत्ति भी लिखी है। उसमें उन्होंने अनेक स्थानों पर सांख्य विचारधारा का जैन विचारधारा के साथ मिलान भी किया और कई स्थलों पर युक्ति एवं तर्क के साथ प्रतिवाद भी किया।

उपाध्याय यशोविजय जी के ग्रन्थों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपाध्याय जी ने अपने वर्णन में मध्यस्थ भावना, गुण-ग्राहकता, सूक्ष्म समन्वय शक्ति एवं स्पष्टवादिता दिखाई है। अतः हम निस्संकोच भाव से यह कह सकते हैं कि उपाध्यायजी ने आचार्य हरिभद्र की समन्वयात्मक दृष्टि को पल्लवित, पुष्पित किया है, उसे आगे बढ़ाया है।

योगसार ग्रन्थ

इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर साहित्य में एक योगसार ग्रन्थ भी है। उसमें लेखक के नाम का उल्लेख नहीं है और यह भी उल्लेख नहीं मिलता है कि यह कब और कहाँ लिखा गया है। परन्तु उसके वर्णन, शैली एवं दृष्टान्तों का अवलोकन करने से ऐसा लगता है कि आचार्य हेमचन्द्र के योग-शास्त्र के आधार पर किसी श्वेताम्बर आचार्य ने लिखा हो।

सकता है।[1] अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने भी पञ्चम गुणस्थान में धर्म ध्यान को माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने तो योग-शास्त्र का निर्माण राजा कुमारपाल के लिए ही किया था।

उपाध्याय यशोविजय

इसके पश्चात् उपाध्याय यशोविजय जी के योग-विषयक ग्रन्थों पर दृष्टि जाती है। उपाध्याय जी का आगम ज्ञान, चिन्तन-मनन, तर्क-कौशल और योगानुभव विस्तृत एवं गंभीर था। ज्ञान की विशालता के साथ उनकी दृष्टि भी विशाल एवं व्यापक थी। उनका हृदय सांप्रदायिक संकीर्णताओं से रहित था। वस्तुतः उपाध्याय जी केवल परंपराओं के पुजारी नहीं, वल्कि सत्योपासक थे।

उपाध्याय यशोविजय जी ने योग पर अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् और सटीक वत्तीस वत्तीसियाँ लिखीं, जिनमें जैन मान्यताओं का स्पष्ट एवं रोचक वर्णन करने के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के साथ जैन-दर्शन की साम्यता का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त गुजराती भाषी विचारकों के लिए आपने गुजराती भाषा में भी योगदृष्टि सज्झाय की रचना की।

अध्यात्मसार ग्रन्थ में उपाध्याय जी ने योगाधिकार और ध्यानाधिकार प्रकरण में मुख्य रूप से गीता एवं पातञ्जल योग-सूत्र का उपयोग करके जैन परंपरा में प्रसिद्ध ध्यान के अनेक भेदों का उभय ग्रन्थों के साथ समन्वय किया है। उपाध्याय जी का यह समन्वयात्मक वर्णन दृष्टि तथा विचार समन्वय के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

आध्यात्मोपनिषद् ग्रन्थ में आपने शास्त्र-योग, ज्ञान-योग, क्रिया-योग और साम्य-योग के सम्बन्ध में योगवासिष्ठ और तैत्तिरीय उपनिषद्

---

१. संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।

—उत्तराध्ययन, ५, २०.

सकता है।[१] अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने भी पञ्चम गुणस्थान में धर्म ध्यान को माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने तो योग-शास्त्र का निर्माण राजा कुमारपाल के लिए ही किया था।

उपाध्याय यशोविजय

इसके पश्चात् उपाध्याय यशोविजय जी के योग-विषयक ग्रन्थों पर दृष्टि जाती है। उपाध्याय जी का आगम ज्ञान, चिन्तन-मनन, तर्क-कौशल और योगानुभव विस्तृत एवं गंभीर था। ज्ञान की विशालता के साथ उनकी दृष्टि भी विशाल एवं व्यापक थी। उनका हृदय सांप्रदायिक संकीर्णताओं से रहित था। वस्तुतः उपाध्याय जी केवल परंपराओं के पुजारी नहीं, बल्कि सत्योपासक थे।

उपाध्याय यशोविजय जी ने योग पर अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् और सटीक बत्तीस बत्तीसियाँ लिखीं, जिनमें जैन मान्यताओं का एवं रोचक वर्णन करने के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के साथ जैन-दर्शन की साम्यता का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त गुजराती विचारकों के लिए आपने गुजराती भाषा में भी योगदृष्टि सज्झाय की रचना की।

अध्यात्मसार ग्रन्थ में उपाध्याय जी ने योगाधिकार और ध्यानाधिकार प्रकरण में मुख्य रूप से गीता एवं पातञ्जल योग-सूत्र का उपयोग करके जैन परंपरा में प्रसिद्ध ध्यान के अनेक भेदों का उभय ग्रन्थों के साथ समन्वय किया है। उपाध्याय जी का यह समन्वयात्मक वर्णन दृष्टि तथा विचार समन्वय के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

आध्यात्मोपनिषद् ग्रन्थ में आपने शास्त्र-योग, ज्ञान-योग, क्रिया-योग और साम्य-योग के सम्बन्ध में योगवासिष्ठ और तैत्तिरीय उपनिषद्

---

१. संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।

—उत्तराध्ययन, ५, २०.

के वाक्यों से उद्धरण देकर जैन-दर्शन के साथ तात्विक ऐक्य या समानता दिखाई है।

योगावतार बत्तीसी में आपने मुख्यतया पातञ्जल योग-सूत्र में वर्णित योग-साधना का जैन प्रक्रिया के अनुसार विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त उपाध्याय जी ने आचार्य हरिभद्र की योग-विंशिका एवं षोडशक पर टीकाएँ लिखकर उनमें अन्तर्निहित गूढ़ तत्त्वों का उद्घाटन किया है। वे इतना लिखकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने पातञ्जल योग-सूत्र पर भी जैन-सिद्धान्त के अनुसार एक छोटी-सी वृत्ति भी लिखी है। उसमें उन्होंने अनेक स्थानों पर सांख्य विचारधारा का जैन विचार-धारा के साथ मिलान भी किया और कई स्थलों पर युक्ति एवं तर्क के साथ प्रतिवाद भी किया।

उपाध्याय यशोविजय जी के ग्रन्थों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपाध्याय जी ने अपने वर्णन में मध्यस्थ भावना, गुण-ग्राहकता, सूक्ष्म समन्वय शक्ति एवं स्पष्टवादिता दिखाई है। अतः हम निस्संकोच भाव से यह कह सकते हैं कि उपाध्यायजी ने आचार्य हरिभद्र की समन्वयात्मक दृष्टि को पल्लवित, पुष्पित किया है, उसे आगे बढ़ाया है।

योगसार ग्रन्थ

इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर साहित्य में एक योगसार ग्रन्थ भी है। उसमें लेखक के नाम का उल्लेख नहीं है और यह भी उल्लेख नहीं मिलता है कि वह कब और कहाँ लिखा गया है। परन्तु उसके वर्णन, शैली एवं दृष्टान्तों का अवलोकन करने से ऐसा लगता है कि आचार्य हेमचन्द्र के योग-शास्त्र के आधार पर किसी श्वेताम्बर आचार्य ने लिखा हो।

पर ध्यान, समाधि आदि योगांगों का भव्य भवन खड़ा कर दिया है और क्रमशः योग-साधना का सांगोपांग वर्णन किया है।

प्रथम-प्रकाश

प्रस्तुत योग-शास्त्र बारह प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश में साधुत्व की साधना का वर्णन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में तीन श्लोकों में मंगलाचरण है। चतुर्थ श्लोक में योग-शास्त्र रचने की प्रतिज्ञा की है। उसके बाद श्लोक ५ से १३ तक योग-साधना से प्राप्त लब्धियों का उल्लेख किया गया है। उसके पश्चात् योग के स्वरूप एवं उसके मूल-सम्यग्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के स्वरूप का वर्णन किया है। चारित्र—आचार-साधना में साधु के पाँच महाव्रतों, उनकी पच्चीस भावनाओं, पञ्च-समिति, त्रि-गुप्ति का तथा द्विविध—साधु-धर्म एवं गृहस्थ-धर्म का वर्णन किया है।

द्वितीय-प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश के प्रारम्भ में सम्यक्त्व-मूलक श्रावक के बारह व्रतों के नामों का उल्लेख किया है। दूसरे-तीसरे श्लोक में सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व के स्वरूप को बताया है। श्लोक ४ से १४ तक देव और कुदेव गुरु और कुगुरु एवं धर्म और कुधर्म के लक्षण को बताकर साधक को यह संकेत किया है कि उसे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का त्याग करके सच्चे देव, गुरु और धर्म की उपासना करनी चाहिए। १५ से १७ तक तीन श्लोकों में सम्यक्त्व के लक्षण, उसके भूषण एवं दूषणों का वर्णन किया है। श्लोक १८ से ११५ तक पाँच अणुव्रतों के स्वरूप, उनके भेद-प्रभेद एवं उनके गुण-दोषों का विस्तार से वर्णन किया है। इसमें यह स्पष्ट रूप से बताया है कि श्रावक को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत का कैसे पालन करना चाहिए। उसका खान-पान

यहाँ तक भारतीय परंपरा में प्रवहमान तीनों—१. वैदिक, २. जैन, और ३. बौद्ध, योग-धाराओं का अध्ययन किया है। और उनमें रही हुई दृष्टि समानता या विचार समानता को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भारतीय योग-साहित्य एवं योग-साधना पर संक्षेप में, किन्तु खुलकर विचार करने के बाद अब प्रस्तुत ग्रन्थ अर्थात् आचार्य हेमचन्द्र के योग-शास्त्र पर विस्तार से विचार करेंगे।

योग-शास्त्र

आचार्य हेमचन्द्र का गुर्जर प्रान्त के राजा सिद्धराज जयसिंह पर प्रभाव था। उसके आग्रह से आपने सिद्धहेम व्याकरण की रचना की। सिद्धराज के देहावसान के बाद कुमारपाल राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वह भी आचार्य हेमचन्द्र का परम भक्त था। उसकी साधना करने की अभिलाषा थी और राज्य का दायित्व आने के बाद उसके सामने यह एक प्रश्न बन गया कि अब वह आध्यात्मिक साधना कैसे कर सकता है? अपनी इस इच्छा को उसने आचार्य हेमचन्द्र के सामने अभिव्यक्त किया। उसकी अभिलाषा को पूरी करने तथा उस में आध्यात्मिक साधना की अभिरुचि पैदा करने के लिए आपने योग-शास्त्र की रचना की। और उसके निर्माण में इस बात का पूरा ध्यान रखा कि इससे गृहस्थ भी सरलता के साथ आध्यात्मिक साधना के पथ पर गति-प्रगति कर सके। क्योंकि, उन्हें अपना योग-शास्त्र एक गृहस्थ—उसमें भी राज्य के गुरुतर दायित्व को वहन करने वाले राजा के लिए बनाना था। अतः प्रस्तुत योग-शास्त्र में साधु धर्म के साथ गृहस्थ धर्म का भी विस्तार से वर्णन किया है। यह सत्य है कि गृहस्थ के आचार धर्म में उन्होंने अपनी ओर से कोई अभिनव बात नहीं कही है। उपासकदशांग सूत्र में वर्णित अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत का ही वर्णन किया है। यदि इसमें उनकी अपनी कुछ विशेषता है, तो वह यह है कि श्रावक धर्म की नींव

पर ध्यान, समाधि आदि योगांगों का भव्य भवन खड़ा कर दिया है और क्रमशः योग-साधना का सांगोपांग वर्णन किया है।

प्रथम-प्रकाश

प्रस्तुत योग-शास्त्र बारह प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश में साधुत्व की साधना का वर्णन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में तीन श्लोकों में मंगलाचरण है। चतुर्थ श्लोक में योग-शास्त्र रचने की प्रतिज्ञा की है। उसके बाद श्लोक ५ से १३ तक योग-साधना से प्राप्त लब्धियों का उल्लेख किया गया है। उसके पश्चात् योग के स्वरूप एवं उसके मूल-सम्यग्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के स्वरूप का वर्णन किया है। चारित्र—आचार-साधना में साधु के पांच महाव्रतों, उनकी पचीस भावनाओं, पञ्च-समिति, त्रि-गुप्ति का तथा द्विविध—साधु-धर्म एवं गृहस्थ-धर्म का वर्णन किया है।

द्वितीय-प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश के प्रारम्भ में सम्यक्त्व-मूलक श्रावक के बारह व्रतों के नामों का उल्लेख किया है। दूसरे-तीसरे श्लोक में सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व के स्वरूप को बताया है। श्लोक ४ से १४ तक देव और कुदेव गुरु और कुगुरु एवं धर्म और कुधर्म के लक्षण को बताकर साधक को यह संकेत किया है कि उसे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का त्याग करके सच्चे देव, गुरु और धर्म की उपासना करनी चाहिए। १५ से १७ तक तीन श्लोकों में सम्यक्त्व के लक्षण, उसके भूषण एवं दूषणों का वर्णन किया है। श्लोक १८ से ११५ तक पांच अणुव्रतों के स्वरूप, उनके भेद-प्रभेद एवं उनके गुण-दोषों का विस्तार से वर्णन किया है। इसमें यह स्पष्ट रूप से बताया है कि श्रावक को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत का कैसे पालन करना चाहिए। उसका खान-पान

यहाँ तक भारतीय परंपरा में प्रवहमान तीनों—१. वैदिक, २. जैन, और ३. बौद्ध, योग-धाराओं का अध्ययन किया है। और उनमें रही हुई दृष्टि समानता या विचार समानता को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भारतीय योग-साहित्य एवं योग-साधना पर संक्षेप में, किन्तु खुलकर विचार करने के बाद अब प्रस्तुत ग्रन्थ अर्थात् आचार्य हेमचन्द्र के योग-शास्त्र पर विस्तार से विचार करेंगे।

योग-शास्त्र

आचार्य हेमचन्द्र का गुर्जर प्रान्त के राजा सिद्धराज जयसिंह पर प्रभाव था। उसके आग्रह से आपने सिद्धहेम व्याकरण की रचना की। सिद्धराज के देहावसान के बाद कुमारपाल राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वह भी आचार्य हेमचन्द्र का परम भक्त था। उसकी साधना करने की अभिलाषा थी और राज्य का दायित्व आने के बाद उसके सामने यह एक प्रश्न बन गया कि अब वह आध्यात्मिक साधना कैसे कर सकता है? अपनी इस इच्छा को उसने आचार्य हेमचन्द्र के सामने अभिव्यक्त किया। उसकी अभिलाषा को पूरी करने तथा उस में आध्यात्मिक साधना की अभिरुचि पैदा करने के लिए आपने योग-शास्त्र की रचना की। और उसके निर्माण में इस बात का पूरा ध्यान रखा कि इससे गृहस्थ भी सरलता के साथ आध्यात्मिक साधना के पथ पर गति-प्रगति कर सके। क्योंकि, उन्हें अपना योग-शास्त्र एक गृहस्थ—उसमें भी राज्य के गुरुतर दायित्व को वहन करने वाले राजा के लिए बनाना था। अतः प्रस्तुत योग-शास्त्र में साधु धर्म के साथ गृहस्थ धर्म का भी विस्तार से वर्णन किया है। यह सत्य है कि गृहस्थ के आचार धर्म में उन्होंने अपनी ओर से कोई अभिनव बात नहीं कही है। उपासकदशांग सूत्र में वर्णित अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत का ही वर्णन किया है। यदि इसमें उनकी अपनी कुछ विशेषता है, तो वह यह है कि श्रावक धर्म की नींव

पर ध्यान, समाधि आदि योगांगों का भव्य भवन खड़ा कर दिया है और क्रमशः योग-साधना का सांगोपांग वर्णन किया है।

प्रथम-प्रकाश

प्रस्तुत योग-शास्त्र बारह प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश में साधुत्व की साधना का वर्णन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में तीन श्लोकों में मंगलाचरण है। चतुर्थ श्लोक में योग-शास्त्र रचने की प्रतिज्ञा की है। उसके बाद श्लोक ५ से १३ तक योग-साधना से प्राप्त लब्धियों का उल्लेख किया गया है। उसके पश्चात् योग के स्वरूप एवं उसके मूल-सम्यज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के स्वरूप का वर्णन किया है। चारित्र—आचार-साधना में साधु के पाँच महाव्रतों, उनकी पच्चीस भावनाओं, पञ्च-समिति, त्रि-गुप्ति का तथा द्विविध—साधु-धर्म एवं गृहस्थ-धर्म का वर्णन किया है।

द्वितीय-प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश के प्रारम्भ में सम्यक्त्व-मूलक श्रावक के बारह व्रतों के नामों का उल्लेख किया है। दूसरे-तीसरे श्लोक में सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व के स्वरूप को बताया है। श्लोक ४ से १४ तक देव और कुदेव गुरु और कुगुरु एवं धर्म और कुधर्म के लक्षण को बताकर साधक को यह संकेत किया है कि उसे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का त्याग करके सच्चे देव, गुरु और धर्म की उपासना करनी चाहिए। १५ से १७ तक तीन श्लोकों में सम्यक्त्व के लक्षण, उसके भूषण एवं दूषणों का वर्णन किया है। श्लोक १८ से ११५ तक पाँच अणुव्रतों के स्वरूप, उनके भेद-प्रभेद एवं उनके गुण-दोषों का विस्तार से वर्णन किया है। इसमें यह स्पष्ट रूप से बताया है कि श्रावक को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत का कैसे पालन करना चाहिए। उसका खान-पान

कितना सादा, सात्विक एवं निर्दोष होना चाहिए तथा आचार-निष्ठ श्रावक के जीवन में कितना सन्तोष होना चाहिए।

तृतीय-प्रकाश

तृतीय-प्रकाश के ११८ श्लोकों में तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रतों का वर्णन किया है और उनके भेद-प्रभेद एवं व्रतों की शुद्धि को बनाए रखने के लिए उसके दोषों का विस्तार से वर्णन किया है तथा बारह व्रतों के अतिचारों का भी उल्लेख किया है, जिससे साधक अतिचारों का परित्याग करके निर्दोष व्रतों का परिपालन कर सके। इसके पश्चात् श्रावक के स्वरूप, उसकी दिनचर्या, साधना के स्वरूप एवं साधना के फल का वर्णन किया है। इस तरह द्वितीय एवं तृतीय प्रकाश के करीब २७० श्लोकों में गृहस्थ धर्म एवं साधना का सांगोपांग वर्णन किया है।

चतुर्थ-प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश के प्रारंभ में रत्न-त्रय—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का आत्मा के साथ अभेद सम्बन्ध बताया है। द्वितीय श्लोक में इस अभेद सम्बन्ध का समर्थन करते हुए स्पष्ट शब्दों कहा गया है कि—"जो योगी अपनी आत्मा को, अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा में जानता है, वही उसका चारित्र है, वही उसका ज्ञान है और वही उसका दर्शन है।" इस तरह आचार्य श्री ने साधना के लिए आत्म-ज्ञान के महत्व को स्वीकार किया है।

राग-द्वेष एवं कषायों की प्रबलता के कारण आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को जान नहीं पाता है। अतः कषायों के आवरण को अनावृत्त करने के लिए कषाय एवं राग-द्वेष के स्वरूप, राग-द्वेष की दुर्जयता एवं इन्द्रिय, कषाय तथा राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने के मार्ग का वर्णन किया है। राग-द्वेष का क्षय करने के लिए समभाव की साधना आवश्यक है और उसके लिए अनित्य आदि भावनाएँ भी सहायक होती हैं। इसलिए

समभाव के महत्व, उसकी साधना, बारह भावनाओं के स्वरूप, उसकी विधि एवं उसके फल का वर्णन किया है। उसके आगे ध्यान के महत्त्व एवं ध्यान को परिपुष्ट करने वाली मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ भावना का भी वर्णन किया है।

ध्यान में स्थिरता एवं एकाग्रता लाने के लिए आसन एक उपयोगी साधन है। अतः आचार्य श्री ने विविध आसनों का एवं उनके स्वरूप का उल्लेख किया है। परन्तु, किसी आसन विशेष पर ज्यादा जोर नहीं दिया है। आसनों के सम्बन्ध में उनका यह संकेत महत्त्वपूर्ण है कि—"जिस-जिस आसन का प्रयोग करने से मन स्थिर होता हो, उसी आसन का ध्यान के साधन के रूप में प्रयोग करना चाहिए।"

पञ्चम-प्रकाश

पातञ्जल योग-सूत्र में प्राणायाम को योग का चतुर्थ अंग माना है और उसे मुक्ति-साधना के लिए उपयोगी माना है। परन्तु, जैन विचारक मोक्ष-साधना के साधन रूप ध्यान में इसे सहायक नहीं मानते। आचार्य हेमचन्द्र ने भी इसे मोक्ष-साधना के लिए उपयोगी नहीं माना है। उन्होंने साधक के लिए प्राणायाम या हठयोग की साधना का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है।[1] इससे मन का कुछ देर के लिए निरोध हो जाता है, परन्तु उसमें एकाग्रता एवं स्थिरता नहीं आती। और इस प्रक्रिया से मन में शान्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता, बल्कि संक्लेश उत्पन्न होता है।

योग-साधना के लिए प्राणायाम को निरुपयोगी बताने पर भी उसका प्रस्तुत ग्रन्थ में विस्तार से वर्णन किया है। २७३ श्लोकों में

---

१. तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्त-विप्लवः।
—योग-शास्त्र, ६, ४.

प्राणायाम के स्वरूप, उसके भेदों एवं उससे मिलने वाले शुभाशुभ फल तथा उसके माध्यम से होने वाले काल-ज्ञान का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त प्राणायाम से होने वाले अनेक चमत्कारों एवं परकाय प्रवेश जैसे क्लेशकारी साधनों का तथा उससे मिलने वाले फल का भी वर्णन किया है।

षष्ठ प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश में परकाय-प्रवेश को अपारमार्थिक एवं अहितकर बताया है और प्राणायाम की प्रक्रिया को साध्य सिद्धि के लिए अनुपयोगी बताकर उसका भी निषेध किया है। इसके अतिरिक्त प्रत्याहार और धारणा के स्वरूप, उसके भेद एवं फल का वर्णन किया है।

सप्तम-प्रकाश

इसमें ध्यान के स्वरूप, ध्याता की योग्यता, ध्येय का स्वरूप और धारणाओं के भेदों का तथा धर्म-ध्यान के चार भेदों—१. पिण्डस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ, और ४. रूपातीत ध्यान का और उसमें पिण्डस्थ ध्यान के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

अष्टम-प्रकाश

इसमें पदस्थ ध्यान के स्वरूप, उसके फल, ध्यान के भेद, विभिन्न मंत्र एवं विद्याओं का वर्णन किया है। प्रस्तुत प्रकाश में आचार्य हेमचन्द्र ने लौकिक एवं लोकोत्तर कार्यों की सिद्धि के लिए तथा साध्य को सिद्ध करने के लिए अनेक मंत्रों का तथा उसकी साधना का विस्तार से वर्णन किया है।

नवम-प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश में रूपस्थ ध्यान के स्वरूप एवं उसके फल का विस्तार से वर्णन किया है।

दशम-प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश में रूपातीत-ध्यान के स्वरूप, ध्यान के क्रम एवं उसके फल का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त धर्म-ध्यान के प्रकारान्तर से चार भेदों—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय, संस्थान-विचय, उसके स्वरूप एवं उससे मिलने वाले आत्मिक आनन्द एवं पारलौकिक फल का भी वर्णन किया है।

एकादश-प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश में शुक्ल-ध्यान का वर्णन है। इसमें शुक्ल-ध्यान के स्वरूप, उसके अधिकारी, उसके भेद एवं भेदों के स्वरूप, त्रि-योग—१. मन, २. वचन, और ३. काय योग की अपेक्षा से शुक्ल-ध्यान के विभाग का विस्तार से वर्णन किया है तथा सयोगी एवं अयोगी अवस्था में किए जाने वाले शुक्ल-ध्यान का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त शुक्ल-ध्यान के स्वामी एवं उसके फल का भी निर्देश किया है।

शुक्ल-ध्यान का वर्णन करने के पश्चात् आचार्य श्री ने घाति-कर्म एवं उसके नाश से मिलने वाले फल का वर्णन किया है और तीर्थंकर एवं सामान्य केवली में रहे हुए अतिशयों आदि के अन्तर को बताया है। इसमें तीर्थंकर भगवान् के चौंतीस अतिशयों का भी वर्णन है। अन्त में केवली किस अवस्था में समुद्घात करते हैं, इसका वर्णन करके योग निरोध करने की प्रक्रिया का तथा उससे प्राप्त होने वाले निर्वाण पद एवं मुक्त पुरुष—सिद्धों के स्वरूप का वर्णन किया है।

द्वादश प्रकाश

पीछले ग्यारह प्रकाशों में आगम एवं गुरु के उपदेश के आधार पर योग-साधना का वर्णन किया है। परन्तु, प्रस्तुत प्रकाश में आचार्य हेमचन्द्र ने अपने अनुभव के प्रकाश में योग-साधना का निरूपण किया है। इसमें उन्होंने मन के—१. विक्षिप्त मन, २. यातायात मन,

३. श्लिष्ट मन, और ४. सुलीन मन—चार भेद करके वर्णन में नवीनता एवं शैली में चमत्कार लाने का प्रयत्न किया है।

इसके अतिरिक्त बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप, सिद्धि प्राप्त करने के साधन, गुरु सेवा के महत्व एवं उसके फल तथा दृष्टि, इन्द्रिय एवं मन पर विजय प्राप्त करने के साधनों का वर्णन किया है। इसके पश्चात् भव्य जीवों को उपदेश देकर शान्ति एवं आत्म-साधना के रहस्य को समझाया है।

अन्त में ग्रन्थकार ने योग-शास्त्र रचने के उद्देश्य का भी उल्लेख कर दिया है। इसमें उन्होंने बताया है कि राजा कुमारपाल की प्रार्थना पर मैंने योग-शास्त्र का निर्माण किया है।

योग-विषयक साहित्य का एवं प्रस्तुत ग्रन्थ का अनुशीलन-परिशीलन करने के बाद हम निःसन्देह कह सकते हैं कि भारत में योग का अत्यधिक महत्व रहा है। और मध्य युग में लौकिक कार्यों को सिद्ध करने के लिए भी योग का सहारा लिया जाता रहा है। और अनेक मंत्र एवं विद्याओं की साधना की जाती रही है।

भारत में योग का क्या महत्त्व था और किस परंपरा में वह किस रूप में आया एवं विकसित हुआ? इस बात को स्पष्ट करने के लिए हमने योग-शास्त्र का गहराई से परिशीलन किया और वह पाठकों के सामने प्रस्तुत है। प्रस्तुत निबन्ध में हमने भारतीय योग-साधना एवं साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है और तीनों विचार-धाराओं में रहे हुए साम्य को भी दिखाने का प्रयत्न किया है, जिससे योग-शास्त्र के जिज्ञासु पाठकों को समग्र भारतीय योग-साहित्य का सहज ही परिचय मिल जाए।

जैन परंपरा निवृत्ति-प्रधान है। इसलिए जैन विचारकों ने योग-साधना पर विशेष जोर दिया है। और आचार-साधना में योग को

महत्व दिया है—भले ही वह आचार श्रमण-साधना का हो या श्रमणोपासक—गृहस्थ की उपासना का। साधु एवं गृहस्थ दोनों के आध्यात्मिक विकास करने एवं साध्य तक पहुँचने के लिए योग को उपयोगी माना है। ज्ञान के साथ साधना के महत्त्व को स्पष्टतः स्वीकार किया है। ज्ञान और योग—आचार या क्रिया की समन्वित साधना के बिना मोक्ष की प्राप्ति होना कठिन ही नहीं, असंभव है, अशक्य है।

जैन परंपरा में योग-साधना पर संस्कृत एवं प्राकृत में बहुत कुछ लिखा गया है। आगमों में योग पर अनेक स्थलों पर विचार बिखरे पड़े हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग एवं भगवती सूत्र में अनेक स्थानों पर योग का वर्णन मिलता है। जैन आगम-साहित्य में साधना के अर्थ में योग के स्थान में 'ध्यान' शब्द का प्रयोग किया है।

आगमों के बाद निर्युक्ति, चूर्णि एवं भाष्यों में भी आगम-सम्मत योग-साधना का विस्तृत वर्णन मिलता है। आवश्यक निर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक वृत्ति में भी ध्यान के स्वरूप, उसके भेदों एवं उसकी साधना का विस्तार से वर्णन किया है। आचार्य कुन्द-कुन्द के ग्रन्थों में भी योग का वर्णन मिलता है।

जैन परंपरा में योग-साधना पर क्रम-बद्ध साहित्य सृजन करने का श्रेय आचार्य हरिभद्र को है। योग-साहित्य पर सर्व-प्रथम उन्होंने लेखनी चलाई। उनके बाद दिगम्बर-श्वेताम्बर अनेक आचार्यों एवं विचारकों ने योग पर साहित्य लिखा और कई विचारकों ने वैदिक एवं बौद्ध परंपरा की योग प्रक्रिया का जैन परंपरा के साथ समन्वय करने का भी प्रयत्न किया। वस्तुतः देखा जाए तो इस विषय में समन्वयात्मक शैली के जन्मदाता भी आचार्य हरिभद्र ही थे।

प्रस्तुत निबन्ध में योग-साहित्य का पूरा परिचय तो नहीं दिया जा सकता। प्रस्तुत में संक्षिप्त परिचय ही दिया जा सकता है। अतः

यहाँ पर पूरे साहित्य का परिचय न देकर, कुछ प्रमुख ग्रन्थों का ही उल्लेख कर रहे हैं।

	ग्रन्थ	लेखक		समय
१.	आचारांग सूत्र	आर्य सुधर्मा		
२.	सूत्रकृतांग सूत्र	,,		
३.	भगवती सूत्र	,,		
४.	अनुयोगद्वार सूत्र	,,		
५.	स्थानांग सूत्र	,,		
६.	ध्यान-शतक	जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण		
७.	समयसार	आचार्य	कुन्दकुन्द	
८.	प्रवचन सार	,,	,,	
९.	योग-बिन्दु	आचार्य	हरिभद्र	७-८ वीं
१०.	योगदृष्टि-समुच्चय	,,	,,	,,
११.	योगशतक	,,	,,	,,
१२.	योगविंशिका	,,	,,	,,
१३.	ज्ञानार्णव	आचार्य	शुभचन्द्र	११ वीं
१४.	योगशास्त्र	आचार्य	हेमचंद्र	१२ वीं
१५.	अध्यात्मसार	उपाध्याय	यशोविजय	१८ वीं
१६.	अध्यात्मोपनिषद्	,,	,,	,,
१७.	योगावतार बत्तीसी	,,	,,	,,
१८.	पातञ्जल योग-सूत्र (वृत्ति)	,,	,,	,,
१९.	योगविंशिका (टीका)	,,	,,	,,
२०.	योगदृष्टि नी सज्झाय (गुज०)	,,	,,	,,

योगः सर्वविपद्वल्ली-विताने परशुः शितः ।
अमूलमन्त्र-तन्त्रं च कार्मणं निर्वृत्तिश्रियः ॥

भूयांसोऽपि पाप्मानः, प्रलयं यान्ति योगतः ।
चण्डवाताद् घनघना, घनाघनघटा इव ॥

आत्मानमात्मना वेत्ति मोहत्यागाद्य आत्मनि ।
तदेव तस्य चारित्रं तज्ज्ञानं तच्चदर्शनम् ॥

सत्यां हि मनसः शुद्धौ सन्त्यसन्तोऽपि यद्गुणाः ।
सन्तोऽप्यसत्यां नो सन्ति, सैव कार्या बुधैस्ततः ॥
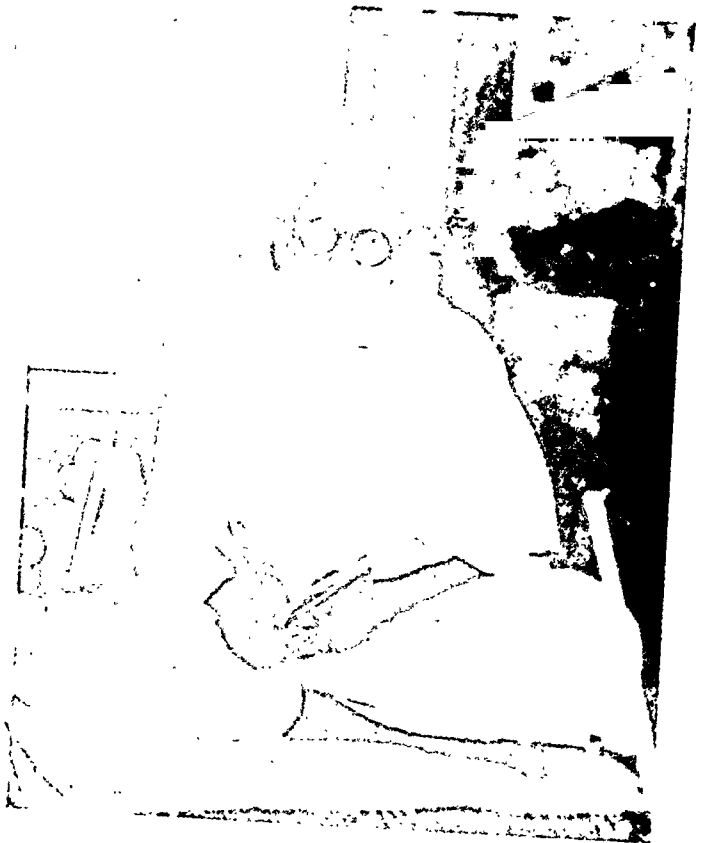
जन्म	दीक्षा	स्वर्गवास
१९४०	१९९४	२०१३

जीवन रेखा

परम श्रद्धेय मुनि श्री मांगीलालजी म०[1] का जन्म वि० सं० १९४० भाद्रपद शुक्ला दशमी को राजस्थान की किशनगढ़ स्टेट के दादिया गाँव में हुआ था। श्री हजारीमल जी तातेड़ आपके पूज्य पिता थे और श्रीमती पुष्पादेवी आपकी माता थीं। आप तीन भाई थे—१. श्री जवाहर सिंह जी, २. श्री मोतीलाल जी, और ३. रघुनाथसिंह जी। आप सबसे छोटे थे। जन्म के कुछ दिन बाद आपको मांगीलाल के नाम से पुकारने लगे और अन्त तक आप इसी नाम से प्रसिद्ध रहे। संयम स्वीकार करने के बाद भी आपका नाम मुनि श्री मांगीलालजी महाराज ही रहा।

बाल्य-काल

बाल्य-काल जीवन का सुखद एवं सुहावना समय होता है। यह जीवन का स्वर्णिम काल होता है। इस समय मनुष्य दुनिया की समस्त चिन्ताओं एवं परेशानियों से मुक्त होता है और विषय-विकारों से भी कोसों दूर होता है। परन्तु, इस सुहावने समय में आपको अपने पूज्य पिता श्री का वियोग सहना पड़ा। यह सौभाग्य की बात है कि माता के अगाध स्नेह एवं प्यार दुलार में आपका जीवन विकसित होता रहा। चौंतीस वर्ष की अवस्था तक आपको माता श्री का सान्निध्य बना रहा, प्यार-दुलार मिलता रहा।

---

१. मेरे (लेखिका के) पूज्य-पिताजी हैं।

आपका ननिहाल नसीराबाद छावनी के निकट बाण्या गाँव में था और वहीं के प्रसिद्ध व्यापारी श्री हजारीमल जी की सुपुत्री अनुपम कुमारी के साथ आपका विवाह हुआ। और जीवन का नया अध्याय शुरू हो गया। जवानी जीवन के उत्थान-पतन का समय है। इस समय शक्ति का विकास होता है। यदि इस समय मानव को पथ-प्रदर्शन एवं सहयोग अच्छा मिल जाए और संगी-साथी योग्य मिल जाएँ तो वह अपने जीवन को विकास की ओर ले जा सकता है और यदि उसे बुरे साथियों का संपर्क मिल जाए, तो वह अपना पतन भी कर सकता है। वस्तुत: यौवन—जीवन की एक अनुपम शक्ति है, ताकत है। इसका सदुपयोग किया जाए तो मनुष्य का जीवन अपने लिए, धर्म, समाज, प्रान्त एवं राष्ट्र के लिए हितप्रद बन सकता है, और इसका दुरुपयोग करने पर वह सबके लिए विनाश का कारण भी बन सकता है। यह जीवन का एक सुनहरा पृष्ठ है, जिसमें मानव अपने आप को अच्छा या बुरा जैसा चाहे वैसा बना सकता है।

आपका जीवन प्रारंभ से ही संस्कारित था। बाल्य-काल में मिले हुए सुसंस्कारों का विकास होता रहा है। और आप प्राय: साधु-संन्यासियों के संपर्क में आते रहते थे। इसका ही यह मधुर परिणाम है कि आगे चलकर आप एक महान् साधक बने और अपने जीवन का सही दिशा में विकास किया। आपके जीवन में अनेक गुण विद्यमान थे। परन्तु सरलता, स्नेहशीलता, दयालुता एवं न्यायप्रियता आपके जीवन के कण-कण में समा चुकी थी। आपके जीवन की यह विशेषता थी कि आप कभी किसी के दु:ख को देख नहीं सकते थे। आप सदा-सर्वदा दूसरे के दु:ख को दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

सेवा-निष्ठ जीवन

वि० सं० १९७४ में प्लेग की भयंकर बीमारी फैल गई। जन-मानस आतंक की उत्ताल तरंगों से आन्दोलित एवं विचलित हो उठा।

देखते ही देखते सबके स्वजन-परिजन काल के गाल में समाने लगे और लोग अपने परिवार के साथियों का मोह त्यागकर अपने प्राण बचाने का प्रयन्त करने लगे। गाँव खाली होने लगा, और घरों में लाशों के ढ़ेर लगने लगे। उन्हें श्मशान भूमि तक ले जाकर दाह संस्कार करने वाले मिलने कठिन हो रहे थे। चारों तरफ त्राहि-त्राहि मच गई। मेरे पिताजी के परिवार के सदस्य भी महामारी की चपेट में आ गए थे और ८ दिन में परिवार के २३ सदस्य सदा के लिए इस लोक से विदा हो चुके थे। घर में सन्नाटा छाया हुआ था। चारों तरफ कुहराम मच रहा था। ऐसे विकट एवं दुखद समय में भी आपके धैर्य का बाँध नहीं टूटा। आप दिन-रात जन-सेवा में लगे रहे; लोगों के लिए दवा की व्यवस्था करना और जिस परिवार में मृत व्यक्ति को कोई कंधा देने वाला नहीं रहता, उस लाश को उठाकर उसे श्मशान में ले जाकर दाह-संस्कार कर देना। इस तरह आपने हृदय से बीमारों की सेवा की और साहस के साथ महामारी का सामना किया।

प्लेग के कारण बहुत-से लोग मर गए और बहुत-से लोग अपने जीवन को बचाने के लिए गाँव छोड़कर जंगलों में चले गए और वहीं झोंपड़ियाँ बनाकर रहने लगे। परन्तु परिवार में सदस्यों की कमी हो जाने तथा बीमारी के कारण शक्ति क्षीण हो जाने से उनमें खेती करने की शक्ति कम रह गई और अर्थभाव भी उनके सामने मुँह फाड़े खड़ा था। अन्न की समस्या विकट हो रही थी। लोगों को खाने के लिए रोटी नहीं मिल रही थी। लोग वृक्षों की छालें पीसकर उसकी रोटियाँ बनाकर खाते या झाड़ियों के बेर खाकर ही सन्तोष करते थे। अन्त में विवश होकर लोग अपने राजा के पास पहुंचे और उनसे सहायता माँगी। उस समय मेरे पिताजी राज-दरबार में कामदार थे। उन्होंने भी जनता का साथ दिया और राजा से अन्न-संकट को दूर करने का प्रयत्न करने की प्रार्थना की। किन्तु, जनता की प्रार्थना राजा के कर्ण कुहरों से

टकराकर अनन्त आकाश में विलीन हो गई। दुर्भाग्य से, वह राजा के हृदय में नहीं पहुँच पाई। उस करुण दृश्य को देखकर भी राजा का वज्र हृदय नहीं पसीजा। उसने स्पष्ट शब्दों में सहायता देने से इन्कार कर दिया। जन-मन भय से काँप उठा। लोगों की आँखों से अविरल अश्रु धारा बहने लगी।

इस समय आप शान्त नहीं रह सके। आवेश में उठ खड़े हुए और राजा से दो हाथ करने को तैयार हो गए। इस समय जनता का उन्हें सहयोग प्राप्त था। परिणाम यह हुआ कि राजा को सिंहासन से हटा दिया गया और उनके पुत्र को राजगद्दी पर बैठा दिया। परन्तु, उन्हें इतने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ। वे स्वयं भी कुछ करना चाहते थे। अतः वहाँ से घर पहुँचते ही उन्होंने अपनी जमीन और जेवर आदि बेचकर जनता के अन्न संकट को दूर करने का प्रयत्न किया। और उनकी सेवा-निष्ठा एवं उनके सद्प्रयत्नों के फलस्वरूप जनता की स्थिति में सुधार हुआ। लोग अपना कार्य करने एवं जीवन निर्वाह करने में समर्थ हो गए और महामारी भी समाप्त हो गई। चारों ओर शान्ति की सरिता प्रवहमान होने लगी। गाँव में फिर से चहल-पहल शुरू हो गई। परन्तु, राजा के दुर्व्यवहार से आपके मन में राज-दरबार के प्रति घृणा हो गई थी। अतः आपने इस राज्य में काम नहीं करने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली।

जीवन का नया मोड़

आपके ज्येष्ठ भ्राता उन दिनों इन्दौर में रहते थे। सरकारी कार्य-कर्त्ता होने के कारण सारा परिवार सनातन—वैदिक धर्म में विश्वास रखता था। जैनधर्म से उनका कोई परिचय नहीं था। परन्तु, उन दिनों इन्दौर में जैन सन्तों का चातुर्मास था और एक मुनि जी ने चार महीने का व्रत ग्रहण कर लिया। वे सिर्फ गर्म पानी ही लेते थे। आपके भ्राता ज उनकी सेवा में पहुँचे और जैन मुनियों के त्याग-निष्ठ जीवन

से प्रभावित हुए। उन्होंने एक दिन मुनिजी को आहार के लिए निमंत्रण दिया। क्योंकि, वे जैन मुनियों के आचार-विचार से परिचित थे नहीं। उन्हें यह भी पता नहीं था कि जैन मुनि किसी का निमंत्रण स्वीकार नहीं करते और न अपने लिए तैयार किया गया विशेष भोजन ही स्वीकार करते हैं। अतः मुनि जी ने यही कहा कि यथासमय जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होगा देखा जाएगा। परन्तु, भाग्य की बात है कि सन्त घूमते-घूमते उसी गली में आ पहुँचे और उनके घर में प्रविष्ट हो गए। जब आपके बड़े भाई ने मुनिजी को अपने घर में प्रविष्ट होते देखा तो उनका रोम-रोम हर्ष से विकसित हो उठा, उनका मन प्रसन्नता से नाच उठा। वे अपने आसन से उठे और सन्तों के सामने जा पहुँचे उन्हें भक्ति पूर्वक वन्दन किया। मुनि जी ने घर में प्रवेश किया और उनके चरण भोजनशाला—रसोई घर की ओर बढ़ने लगे। वहाँ पहुँचकर मुनि जी ने निर्दोष आहार ग्रहण किया और वहाँ से चल पड़े। परन्तु उनके वहाँ से चलते ही रसोई घर में केशर ही केशर बिखर गई। इस दृश्य को देखकर उनके मन में जैन-धर्म एवं जैन सन्तों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई और सारा परिवार जैन बन गया।

उन दिनों मेरे पिताजी किशनगढ़ रहते थे। जब वे अपने बड़े भाई से मिलने को इन्दौर गए और वहाँ जाकर यह सुना कि इन्होंने जैनधर्म स्वीकार कर लिया है, तो उन्हें आवेश आ गया। और वे अपने बड़े भाई को बहुत-कुछ खरी-खोटी सुनाने लगे। परन्तु बड़े भाई शान्त स्वभाव के थे। उन्होंने उन्हें शान्त करने का प्रयत्न किया। उन्हें जैन-धर्म एवं सन्तों की विशेषता का परिचय दिया। परन्तु, इससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। वे स्वयं चमत्कार देखना चाहते थे। अतः सन्तों के सम्पर्क में आते रहे और नवकार मंत्र की साधना करते रहे। उनके जीवन में यह एक विशेषता थी कि वे श्रद्धा में पक्के थे। उन्हें कोई भी व्यक्ति अपने पथ से, ध्येय से विचलित नहीं कर सकता था। वे जब

साधना में संलग्न होते, तब और सब कुछ भूल जाते थे। यहाँ तक कि उन्हें अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं रहती थी। एक दिन उन्होंने अपने रुई के गोदाम में आग लगादी और स्वयं वहीं अपने ध्यान में मस्त हो गए। चारों ओर हल्ला मच गया। परन्तु, वे विचलित नहीं हुए। जब लोग वहाँ पहुँचे तो देखा कि आग उनके शरीर को छू ही नहीं पाई। उनके निकट में पाँच-पाँच गज तक की रुई सुरक्षित थी। इस घटना ने उनके जीवन को बदल दिया। अब वे जैन-धर्म पर पूरा विश्वास रखने लगे, श्रद्धा में दृढ़ता आ गई।

आप श्रद्धा-निष्ठ एवं साहसी व्यक्ति थे। घोर संकट के समय भी घबराते नहीं थे। एक बार आप किसी कार्यवश ऊँट पर जा रहे थे। जंगल में चलते-चलते ऊँट विक्षिप्त हो गया और आपके प्राण संकट में पड़ गए। परन्तु, इस समय भी आप घबराए नहीं। आपने साहस के साथ एक वृक्ष की टहनी को पकड़ा और उस पर चढ़ गए। ऊँट भी उस वृक्ष के चारों ओर चक्कर काटता रहा, परन्तु उनका कुछ नहीं बिगाड़ सका। उन्हें निरन्तर ६ दिन तक वृक्ष पर ही रहना पड़ा, क्योंकि भयानक जंगल होने के कारण उस रास्ते से लोगों का आवागमन कम ही था। फिर भी आपने नमस्कार मंत्र का स्मरण किया और साहस पूर्वक वृक्ष से नीचे उतरे और ऊँट पर काबू पाया। इस तरह आपको धर्म पर.अटूट श्रद्धा-निष्ठा थी।

परिस्थितियों का परिवर्तन

समय परिवर्तनशील है। वह सदा-सर्वदा एक-सा नहीं रहता। धूप-छाया की तरह परिर्वातत होता रहता है। कभी राजा को रंक बना देता है, तो कभी दर-दर की खाक छानने वाले भिखारी को छत्रपति बना देता है। मनुष्य सोचता कुछ है और परिस्थितियाँ कुछ और ही बना देती हैं। वह संभल ही नहीं पाता कि जीवन करवटें बदलने लगता

है और नई-नई समस्याएँ उसके सम्मुख आ खड़ी होती हैं। पूज्य पिता श्री का समय आनन्द से बीत रहा था, परन्तु एकाएक परिस्थितियाँ बदलने लगीं और उन्हें अपने जीवन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

प्लेग के समय घर की बहुत-सी पूँजी जन सेवा में खर्च हो गई थी। घर का जेवर एवं जमीन आदि भी बेच दी गई थी। इससे उनकी भाभी जी काफी नाराज रहती थीं और अपनी देवरानी (मेरी माता जी) पर ताने एवं व्यंग कसती रहती थीं। माताजी शान्त स्वभाव की थीं। वह सब कुछ सहन कर लेती थीं। वह पिताजी के उग्र स्वभाव से परिचित थीं, अतः उन्होंने उनके सामने इस बात का कभी जिक्र तक नहीं किया, परन्तु एक दिन एक पड़ौसिन ने मेरे पिताजी को सारी घटना कह सुनाई। यह सुनते ही पिताजी को आवेश आ गया और वे आवेश में ही घर से चल पड़े। उन्होंने घर से कोई वस्तु साथ नहीं ली। माता जी को साथ लेकर वे घर से खाली हाथ अहमदाबाद की ओर रवाना हो गए और किसी तरह अहमदाबाद आ पहुँचे।

अहमदाबाद में उनका किसी से कोई परिचय नहीं था और न पास में पैसा ही था कि कोई काम शुरू किया जाए। परन्तु अचानक उन्हें एक परिचित छींपा – कपड़े छापने वाला मिल गया। उससे चार आने उधार लिए और दाल-सेव का खोंमचा लगाकर अपना काम शुरू किया। उसके बाद एक अस्पताल में कम्पाउंडर का काम करने लगे। दिन में अस्पताल में काम करते, शाम को दाल-सेव बेचते और रात को खान (Minc) पर पहरा देते। इस तरह दिन-रात कठोर परिश्रम करके उन्होंने ११००० रूपए कमाए। अपने श्रम से अपने भाग्य को नया मोड़ देने लगे।

परन्तु, दुर्भाग्य ने अभी भी उनका पीछा नहीं छोड़ा। एक दिन

पहरा देते समय असावधानी के कारण वे खान (Mine) में गिर पड़े और अपने हाथ की नंगी तलवार से उनके पैर में गहरा घाव पड़ गया। उन्हें अस्पताल में दाखिल कर दिया। उस समय माताजी गर्भवती थीं। अतः उन्हें किशनगढ़ भेज दिया और १०-१२ दिन बाद मेरा जन्म हुआ और जन्म के सात दिन बाद ही माताजी का देहान्त हो गया। अभी तक पिताजी के अपने एवं भाइयों के २३ पुत्रों के वियोग के आँसू सूख ही नहीं पाए थे कि उन पर यह वज्रपात हो गया। इस समय चार व्यक्ति उन्हें अहमदाबाद के अस्पताल से लेकर घर पर आए। वहाँ पर आते ही देखा तो घर का ताला टूटा हुआ था और रात-दिन खून-पसीना एक-करके जो पैसा कमाया था, वह सब चोर ले गए थे। उनके पास कुछ भी नहीं बचा था। खैर, एक व्यक्ति से पचास रुपए उधार लेकर वे किशनगढ़ पहुँचे। परन्तु जब तक वे पहुँचे, तब तक माताजी का अग्नि-संस्कार हो चुका था।

सन्तोषमय जीवन

मेरी माताजी के देहान्त के बाद परिजनों ने उन्हें दूसरा विवाह करने के लिए बहुत जोर दिया। परन्तु वे अब पुनर्विवाह करने के पक्ष में नहीं थे। वे अपना जीवन शान्ति एवं स्वतंत्रता के साथ बिताना चाहते थे। अतः उन्होंने विवाह करने से इन्कार कर दिया और सीधा-सादा एवं त्याग-निष्ठ जीवन बिताने लगे। उन्होंने दूध, दही, घी, तैल, मिष्ठान, नमक और सब्जी आदि के त्याग कर दिए। आपने सात वर्ष तक बिना नमक-मिर्च की उड़द की दाल और जौ की रूखी रोटी खाई। गृहस्थ जीवन में भी आप त्याग-विराग के साथ रहने लगे। आपने रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर ली थी।

अपूर्व साहस

जब मैं पाँच वर्ष की थी, तब मेरे पिताजी एक दिन मुझे ननिहाल ले जा रहे थे। रास्ते में एक दिन के लिए मौसीजी के घर पर ठहरे।

वहाँ से मेरा ननिहाल दो मील था। अतः रात को बहुत जल्दी उठकर चल पड़े। वे मुझे गोद में उठाए हुए तेजी से कदम बढ़ा रहे थे। पहाड़ी रास्ता था और पगडण्डी के रास्ते से चल रहे थे। दुर्भाग्यवश रास्ता भूल गए और घने जंगल में भटक गए। फिर भी वे साहस के साथ बढ़ रहे थे कि एक झाड़ी में से शेर निकल आए। शेरों को देखते ही उन्होंने मुझे घास के गट्ठर की तरह जमीन पर एक ओर फेंक दिया और म्यान में से तलवार निकालकर शेरों पर टूट पड़े। मेरे बदन में काफी चोट लगी, फिर भी मैं भय के कारण सहम गई और शेरों के साथ चलने वाले उनके संघर्ष को देखती रही। कई घंटों तक उनमें और शेरों में युद्ध चलता रहा। आखिर, उन्होंने साहस के साथ शेरों पर विजय प्राप्त की। एक-दो शेर मर गए और एक-दो अत्यधिक घायल होकर झाड़ियों में जा छिपे। पिता जी का शरीर भी काफी क्षित-विक्षित हो गया था। परन्तु उन्होंने उसकी कुछ भी परवाह नहीं की। मुझे गोद में उठाया और रास्ता खोजते हुए आगे बढ़ते चले। भाग्यवश, सही रास्ता मिल गया और सूर्योदय से एक-डेढ़ घंटे पूर्व ही वे मुझे लेकर मेरे ननिहाल आ पहुँचे। अभी तक घर का द्वार नहीं खुला था। अतः उसे खुलवाया, परन्तु घावों में से खून बह रहा था और वे पर्याप्त थक चुके थे। इसलिए वे न तो ठीक तरह से खड़े ही रह सके और न किसी से बात ही कर पाए। वे तो एकदम चारपाई पर गिर पड़े। उनकी यह दशा—हालत देखकर मेरे ननिहाल वाले काफी घबरा गए। फिर मैंने उन्हें सारी घटना कह सुनाई। उन्होंने उनको नसीराबाद के अस्पताल में दाखिल करवाया, वहाँ कई महीने उपचार होता रहा और डाक्टरों के सद्प्रयत्न से वे पूर्णतः स्वस्थ हो गए।

स्नेह और प्रतिज्ञा

पिताजी का स्वाथ्य ठीक होते ही, वे पुनः मुझे घर ले गए। क्योंकि मेरी बड़ी बहिन का विवाह था। विवाह खूब धूम-धाम से हो रहा था।

परन्तु, पिताजी सात वर्ष से बिना नमक-मिर्च की उड़द की दाल और जौ की रूखी रोटी खा रहे थे। अतः उन्होंने सबके साथ भोजन नहीं किया। इससे सभी बरातियों ने तब तक भोजन करने से इन्कार कर दिया, जब तक वे साथ बैठकर भोजन नहीं करते। कुछ देर तक मान-मनुहार होती रही। अन्त में सम्बन्धियों के हार्दिक स्नेह के सामने उन्हें झुकना पड़ा। उन्होंने सात वर्ष से चली आ रही परंपरा को तोड़कर उनके साथ भोजन किया। वस्तुतः हार्दिक स्नेह एवं सच्चा प्यार भी मनुष्य को विवश कर देता है।

निर्भयता

बहिन के विवाह कार्य से निवृत्त होकर पिताजी एक निकट के सम्बन्धी के विवाह में शामिल होने जा रहे थे। मैं भी साथ थी। हम बैलगाड़ी में जा रहे थे। रास्ते में एक नदी पड़ती थी। उसे पार करते समय बैलों के पैर उखड़ गए और गाड़ीवान भी उन्हें नहीं सँभाल पाया। इस संकट के समय भी वे घबराए नहीं। डरना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था। अतः साहस के साथ गाड़ी से कूद पड़े और बैलों की लगाम पकड़कर गाड़ी को नदी से पार कर दिया। परन्तु, यह क्या? एक सफेद रंग का सर्प उनके पैरों से चिपटा हुआ था। सर्प को देखते ही मैं चीख उठी। परन्तु वे विचलित नहीं हुए और न डरे ही। उन्होंने निर्द्वन्द भाव से सर्प को हाथ से खींचा और पानी में फेंक दिया।

अन्तिम वियोग

जब मैं साढ़े ग्यारह वर्ष की थी, तब मेरा विवाह कर दिया। दो वर्ष बड़े आनन्द में बीत गए। विवाह के बाद अभी तक मेरा गौना नहीं हुआ था। उसकी तैयारियाँ हो ही रही थीं कि अचानक उनके देहावसान का समाचार मिला। यह समाचार सुनकर पिताजी के मन पर बहुत गहरा आघात लगा। उन्होंने अपने जीवन में अनेक वियोग सहे, परन्तु यह सबसे कठिन आघात था और यों कहिए—गृहस्थ जीवन में

घटने वाला अन्तिम वियोग था। उनके मन में मेरे भविष्य की अत्यधिक चिन्ता एवं वेदना थी।

साधना के पथ पर

उनकी मृत्यु के १० या ११ दिन वाद परम श्रद्धेय महासती श्री सरदार कुंवर जी म० (मेरी गुरणी जी म०) अजमेर में पधारीं और मुझे मांगलिक सुनाने आई। मेरी अन्तर्वेदना देखकर उनका हृदय भर आया। उन्होंने मुझे सान्त्वना दी और जीवन का सही मार्ग वताने का प्रयास किया। इसके एक वर्ष वाद जब मैं अपने मायके दादिया गाँव में थी, तब भी श्रद्धेय गुरणी जी म० किशनगढ़ पधारीं और पिताजी की आग्रहभरी विनती स्वीकार करके वे मुझे दर्शन देने दादिया गाँव पहुँचीं, और यहीं पर मेरे मन में श्रमण-साधना का वीज अंकुरित होने लगा।

इसके पश्चात् मेरे पिताजी मुझे लेकर नोखा गाँव (जोधपुर) में गुरणी जी म० के दर्शनों के लिए पहुँचे और यहीं मेरे मन में दीक्षा ग्रहण करने का भाव जगा और मैंने अपना दृढ़ निश्चय पिताजी के सामने प्रकट कर दिया। उस समय नोखा गाँव से कुछ दूर कुचेरा में स्व० स्वामी जी हजारीमल जी महाराज विराजमान थे। पूज्य पिताजी उनके चरणों में पहुँचे और उनके मन में दीक्षा लेने की भावना जागृत हो उठी। और उसी समय मेरी ससुराल वालों को अजमेर तार दे दिया कि वह मेरे साथ दीक्षा ले रही है। वहुत प्रयत्न के वाद हम दोनों को दीक्षा स्वीकार करने की आज्ञा मिल गई।

वि० सं० १९९४ मगसिर कृष्णा ११ को प्रातः ८ वजे परम श्रद्धेय स्वामी जी श्री हजारीमल जी महाराज के कर-कमलों से मेरी और पिताजी की दीक्षा सम्पन्न हुई। मैं परम श्रद्धेय महासती श्री सरदार कुंवरजी महाराज की शिष्या वनी और पिता जी परम श्रद्धेय श्री हजारीमल महाराज के शिष्य वने।

साधना का प्रारम्भ

दीक्षा के समय आपकी आयु ५३ वर्ष की थी और अध्ययन बहुत गहरा नहीं था। परन्तु, गृहस्थ जीवन से ही ध्यान एवं आत्म-चिन्तन की ओर मन लगा रहता था। उसी भावना को विकसित करने के लिए आप प्रायः मौन रखते थे। और ध्यान, जप एवं आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे। इसके साथ-साथ उन्होंने तप-साधना भी प्रारंभ कर दी। वे सदा दिन भर में एक बार ही आहार करते थे और वह भी एक ही पात्र में खाते थे। उन्हें जो कुछ खाना होता, वह अपने एक पात्र में ही ले लेते थे। स्वाद पर, जिह्वा पर उनका पूरा अधिकार था। वे स्वाद के लिए नहीं, केवल जीवन निर्वाह के लिए खाते थे।

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भी आपको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, अनेक परीषह सहने पड़े। अनेक अनुकूल एवं प्रतिकूल समस्याएँ आपके सामने आईं। परन्तु, आप सदा अपने विचारों पर, अपने साधना पथ पर अडिग रहे। आप उनसे कभी घबराए नहीं, विचलित नहीं हुए। वे समस्याओं को दुःख का, पतन का कारण नहीं, बल्कि जीवन विकास का कारण मानते थे। अतः शान्त भाव से उन्हें सुलझाते रहे और उन पर विजय पाने का प्रयत्न करते रहे।

स्थविर-वास

कुछ वर्षों में आपकी शारीरिक शक्ति काफी क्षीण हो गई। फिर भी आप विहार करते रहे। जब तक पैरों में चलने की शक्ति रही, तब तक अपने परम श्रद्धेय गुरुदेव के साथ विचरण करते रहे। परन्तु, जब पैरों में गति करने की शक्ति नहीं रही, चलते-चलते पैर लड़खड़ाने लगे, तब पूज्य-गुरुदेव की आज्ञा से आप कुन्दन-भवन, ब्यावर में स्थानापति हो गए। मुनि श्री भानुऋषि जी म० आपकी सेवा में रहे। मुनि श्री पाथर्डी परीक्षा बोर्ड से जैन सिद्धान्ताचार्य की परीक्षा की तैयारी

कर रहे थे। परन्तु, अध्ययन के साथ सेवा भी बहुत करते थे। मुनि श्री जी ने दो वर्ष तक तन-मन से जो सेवा-सुश्रूषा की वह कभी भी विस्मृति के अंधेरे कोने में नहीं धकेली जा सकती। मुनिश्री का उनके साथ पिता-पुत्र-सा स्नेह संबंध था। वह दृश्य आज भी मेरी आँखों के सामने घूमता रहता है।

दयालु हृदय

आप करीब १८ वर्ष ८ महीने श्रमण-साधना में संलग्न रहे। इस साधना काल में आपके जीवन में अनेक घटनाएँ घटित हुईं, परन्तु आप सदा शान्तभाव से सहते रहे। आप में अपने कष्टों एवं दुःखों को सहने की हिम्मत थी। परन्तु, वे दूसरे का दुःख नहीं देख सकते थे। उनके अन्तर्मन में दया एवं करुणा का सागर ठाठें मारा करता था। स्वर्गवास के एक वर्ष पहले की बात है—आप एक दिन शौच के लिए बाहर पधारे और वहाँ चारे की कमी के कारण दुर्बल एवं भूखी गायों को देखकर आपका हृदय रो उठा और आँखों से अजस्र अश्रुधारा बह निकली। वे परवेदना को सहने में बहुत कमजोर थे। गायों की दयनीय स्थिति देखकर उन्होंने उस दिन से दूध-दही आदि का त्याग कर दिया।

आपका जीवन सादा और सरल था। आप हमेशा सादगी से रहना पसन्द करते थे। आप यथासंभव अल्प से अल्प मूल्य के वस्त्र ग्रहण करते थे और वह भी मर्यादा से कम ही रखते थे। सर्दियों के दिनों में आप टाट ओढ़कर रात बिता देते थे। आसन के लिए तो आप टाट का ही उपयोग करते थे। आपकी आवश्यकताएँ भी बहुत सीमित थीं।

समाधि-मरण

यह मैं ऊपर लिख चुकी हूँ कि वे अधिकतर ध्यान एवं जप-साधना में ही संलग्न रहते थे। रात के समय ३-४ घंटे निद्रा लेते थे, शेष समय

ध्यान एवं जप में ही बीतता था और इसी कारण उन्हें अपना भविष्य भी स्पष्ट परिलक्षित होने लगा। आपने अपने महाप्रयाण के ६ महीने पूर्व ही अपने देह-त्याग के सम्बन्ध में बता दिया था। जब मेरी ज्येष्ठ गुरु बहिन परम श्रद्धेय महासती श्री झमकू कुँवर जी म० का संथारा चल रहा था, तब भी आपने सबके सामने कहा कि मेरा जीवन भी अब चार महीने का ही शेष रहा है। यह सुनते ही निहालचन्द जी मोदी ने कहा कि—"महाराज आप ऐसा क्यों फरमा रहे हैं? अभी तो श्रद्धेय सतीजी म० चलने की तैयारी कर रही हैं। अभी हमें आपके मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है।" आपने अपने भविष्य की बात को दोहराते हुए दृढ़ स्वर में कहा कि—"आप मानें या न मानें, होगा ऐसा ही।" उसके डेढ़ महीने के बाद महासती श्री झमक् कुँवर जी म० का स्वर्गवास हो गया। मेरा अध्ययन चल रहा था और ब्यावर संघ का आग्रह होने से हमने वहीं वर्षावास मान लिया। इससे पूज्य पिता श्री जी के दर्शनों एवं सेवा का लाभ मिलता रहा। परन्तु उनका अन्तिम समय भी निकट आ गया। स्वर्गवास के तीन दिन पूर्व भी आपने हमें सजग कर दिया कि अब मैं सिर्फ तीन दिन का ही मेहमान हूँ। परन्तु हमने इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

परन्तु आप अपने कार्य में सजग थे। अतः आपने अपने जीवन की आलोचना करके शुद्धि की और सबसे क्षमित-क्षमापना की। स्वर्गवास के दिन करीब १२ बजे तक अपने भक्तों के घर जाकर उन्हें दर्शन देते रहे। सबसे शुद्ध हृदय से क्षमित-क्षमापना करके हमारे स्थानक में भी दर्शन देने पधारे। जब मैंने उनसे कहा कि "आपके घुटनों में दर्द है, फिर आपने यहाँ आने का कष्ट क्यों किया।" तब आपने शान्त स्वर में कहा कि "जीवन में दर्द तो चलता ही रहता है। जब तक आत्मा के साथ शरीर है, तब तक वेदनाएँ तो लगी ही रहती हैं। और अपना सम्बन्ध

तो सिर्फ आज का ही और है। कल तो केवल मेरी स्मृति मात्र ही रह जाएगी। इसलिए तुमसे भी क्षमित-क्षमापना करने आ गया।"

उस समय उनका स्वास्थ्य अच्छा था। शरीर पर ऐसे कोई चिह्न दिखाई नहीं दे रहे थे कि जिससे ऐसी कल्पना कर सकें कि यह महापुरुष हम सबको छोड़कर आज ही चले जाएँगे। उनके जाने के बाद हम कुन्दन भवन पढ़ने के लिए गईं। अध्ययन करने के बाद हम सदा कुछ देर तक महाराज श्री की सेवा में बैठती थीं। उस दिन भी सेवा में थी। वहाँ से चलते समय मुनि श्री भानुऋषिजी म० से पूछा तो उन्होंने बताया कि कल रात को १२ बजे ध्यान करते समय हाल कुछ क्षणों के लिए तेज प्रकाश से भर गया और उनके मुख से यह आवाज सुनाई दी कि "पैगाम आ गया है।"

हम चार बजे कुन्दन भवन से अपने स्थानक में आईं। सायंकाल प्रतिक्रमण के पश्चात् समाचार मँगवाए तो सुख-शान्ति के ही समाचार मिले। कोई चिन्ता जैसी बात नहीं थी। परन्तु, रात को चार-पाँच बजे कुन्दन भवन के बाहर हल-चल देखकर मन में कुछ सन्देह हुआ। और पूछने पर पता लगा कि परम श्रद्धेय पूज्य-पिताश्री का स्वर्गवास हो गया। यह सुनते ही मन रो उठा और अपने अन्तिम समय के लिए उनके द्वारा कहे गये शब्द याद आने लगे।

इस तरह वह महासाधक वि० सं० २०१३ श्रावण कृष्णा दशमी की रात को अनन्त की गोद में सदा के लिए सो गया। आज उनका भौतिक शरीर हमारे सम्मुख नहीं है। परन्तु उनकी साधना, सरलता, सौजन्यता एवं दयालुता आज भी हमारे सामने है। उनके गुण आज भी जीवित हैं। अतः वे मरे नहीं, बल्कि मरकर भी जीवित हैं और सदा-सर्वदा जीवित रहेंगे।

—महासती उमराव कुँवर

भक्ति-योग सर्वोच्च योग है,

अगर साथ हो उचित विवेक।

सर्वनाश का बीज अन्यथा—

अन्ध भक्ति का है अतिरेक॥

—उपाध्याय अमर मुनि

योग-शास्त्र

(हिन्दी अनुवाद सहित)

प्रथम प्रकाश

मंगलाचरण

नमो दुर्वाररागादि-वैरिवार निवारिणे ।
अर्हते योगिनाथाय, महावीराय तायिने ॥ १ ॥

जिनको जीतना कठिन है, ऐसे राग-द्वेष आदि वैरियों के समूह को निवारण करने वाले, चार घाति कर्मों का नाश करने वाले, योगियों के नाथ और प्राणी मात्र के संरक्षक भगवान महावीर को नमस्कार हो ।

पन्नगे च सुरेन्द्रे च, कौशिके पाद-संस्पृशि ।
निर्विशेषमनस्काय, श्री वीरस्वामिने नमः ॥ २ ॥

अपने चरणों का स्पर्श करने वाले चण्डकौशिक साँप पर और सुरेन्द्र पर पूर्ण रूप से समभाव रखने वाले, परम वीतराग मनोवृत्ति वाले श्री वीर भगवान् को नमस्कार हो । तात्पर्य यह है कि चण्डकौशिक पूर्व भव में कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण था और सुरेन्द्र का नाम भी कौशिक है । सर्प ने काटने—डँसने के इरादे से प्रभु के पैर का स्पर्श किया था और इन्द्र ने भक्ति से प्रेरित होकर । दोनों की भावनाओं में आकाश-पाताल का अन्तर था, किन्तु भगवान् के भाव में कुछ भी अन्तर नहीं था । उनका दोनों पर एक-सा करुणामय भाव था ।

कृतापराधेऽपि जने, कृपामन्थरतारयोः ।
ईषद्वाष्पार्द्रयोर्भद्रं, श्री वीर जिननेत्रयोः ॥ ३ ॥

संगम देव जैसे अपराधी जन पर भी दयामय होने से जिनके नेत्रों के तारे झुक गये तथा हल्के से वाष्प से आर्द्र हो गए हैं, ऐसे श्री वीर भगवान् के दोनों कल्याणमय नेत्रों को नमस्कार हो ।

श्रुताम्भोधेरधिगम्य, सम्प्रदायाच्च सद्गुरोः ।
स्वसंवेदनतश्चापि, योगशास्त्रं विरच्यते ॥ ४ ॥

श्रुत रूपी सागर से, गुरु की परम्परा से और स्वानुभव से ज्ञान प्राप्त करके योग-शास्त्र की रचना की जाती है ।

योग की महिमा

योगः सर्वविपद्वल्ली-विताने परशुः शितः ।
अमूलमन्त्र-तन्त्रं च, कार्मणं निर्वृत्तिश्रियः ॥ ५ ॥

योग समस्त विपत्ति रूपी लताओं के वितान को काटने के लिए तीखी धार वाले परशु के समान है । मुक्ति रूपी लक्ष्मी को वश में करने के लिए विना मन्त्र-तन्त्र के कामण के समान है । अर्थात् योग के माहात्म्य से समस्त विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और मुक्ति रूपी लक्ष्मी स्वयं ही वश में हो जाती है ।

भूयांसोऽपि पाप्मानः, प्रलयं यान्ति योगतः ।
चण्डवाताद् घनघना, घनाघनघटा इव ॥ ६ ॥

योग के प्रभाव से विपुलतर पाप भी उसी प्रकार विलीन-विनष्ट हो जाते हैं; जैसे—प्रचंड वायु के चलने से मेघों की सघन घटाएँ विलीन हो जाती हैं ।

क्षिणोति योगः पापानि, चिरकालार्जितान्यपि ।
प्रचितानि यथैधांसि, क्षणादेवाशुशुक्षणिः ॥ ७ ॥

चिरकाल से उपार्जन किये हुए पापों को योग उसी तरह नष्ट कर देता है, जैसे इकट्ठी की हुई बहुत-सी लकड़ियों को अग्नि क्षण भर में भस्म कर देती है।

कफविप्रुण्मलामर्श - सर्वौषधमहर्द्धय ।
सम्भिन्नश्रोतोलब्धिश्च, यौगं ताण्डवडम्बरम् ॥ ८ ॥

कफ, मूत्र, मल, अमर्श और सर्वौषध ऋद्धियाँ तथा संभिन्न-श्रोतोलब्धि, यह सब योग के ही प्रभाव से प्राप्त होती हैं।

टिप्पण—योग के अचिन्त्य प्रभाव से योगी जनों को नाना प्रकार की अद्‌भुत ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। किसी योगी को ऐसी ऋद्धि प्राप्त होती है कि उसका कफ समस्त रोगों के लिए औषध बन जाता है, किसी के मूत्र में रोगों का शमन करने की शक्ति आ जाती है, किसी के मल में सब बीमारियों को हटा देने का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है, किसी के स्पर्श मात्र से रोग दूर हो जाते हैं।

किसी-किसी के मल, मूत्र आदि सभी औषध रूप हो जाते हैं। यह सब महान् ऋद्धियाँ योग के ही प्रभाव से उत्पन्न होती हैं। इनके अतिरिक्त संभिन्नश्रोतोलब्धि भी योग का ही एक महान् फल है। संभिन्नश्रोतोलब्धि का स्वरूप इस प्रकार है—

सर्वेन्द्रियाणां विषयान्, गृह्णात्येकमपीन्द्रियम् ।
यत्प्रभावेन सम्भिन्नश्रोतोलब्धिस्तु सा मता ॥

जिस लब्धि के प्रभाव से एक ही इन्द्रिय सभी इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करने लगती है, वह संभिन्नश्रोतोलब्धि कहलाती है।

टिप्पण—यह लब्धि जिसे प्राप्त होती है वह स्पर्शेन्द्रिय से रस, गंध, रूप और शब्द को ग्रहण कर लेता है, जीभ से सूंघता और देखता है, नाक से चखता और देखता है, आंख से सुनता है, सूंघता है, चखता है,

और स्पर्श का भी अनुभव करने लगता है। आशय यह है कि ऐसा योगी किसी भी एक इन्द्रिय से सभी इन्द्रियों का काम ले सकता है।

चारणाशीविषावधि-मनःपर्यायसम्पदः ।
योगकल्पद्रुमस्यैता, विकासिकुसुमश्रियः ॥ ९ ॥

चारण लब्धि, आशीविष लब्धि, अवधिज्ञान लब्धि और मनःपर्याय लब्धि; यह सब योग रूपी कल्प-वृक्ष के खिले हुए पुष्प हैं। योग के निमित्त स ही यह सब लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

टिप्पण—चारण लब्धि वाले योगी दो प्रकार के होते हैं—जंघाचारण और विद्याचारण। जंघाचारण एक ही उडान में रुचकवर द्वीप में पहुँच जाते हैं। लौटते समय रुचकवर द्वीप से एक उडान में नन्दीश्वर द्वीप तक आते हैं और दूसरी उडान में अपने स्थान पर आ पहुँचते हैं। अगर जंघाचारण मुनि ऊपर जाने की इच्छा करें तो एक उडान में पाण्डुक वन पर पहुँच सकते हैं। लौटते समय एक उडान में नन्दन वन आते हैं और दूसरी उडान में अपने स्थान पर आ जाते हैं।

विद्याचारण मुनि एक उडान में मानुषोत्तर पर्वत पर और दूसरी उडान में नन्दीश्वर द्वीप तक पहुँच जाते हैं। किन्तु लौटते समय एक ही उडान में अपने स्थान तक आ जाते हैं। विद्याचारणों की ऊर्ध्वगति भी तिर्छी गति के ही क्रम से समझनी चाहिए।

जंघाचारण और विद्याचारण मुनियों के गमन-आगमन के सामर्थ्य पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि जंघाचारणों और विद्याचारणों के सामर्थ्य में परस्पर विरोध-सा है। जंघाचारणों का सामर्थ्य जाते समय अधिक होता है और आते समय कम, किन्तु विद्याचारणों का जाते समय कम और आते समय अधिक होता है। इसका कारण यह है कि जंघाचारण लब्धि तप और संयम के निमित्त से प्राप्त होती है। लब्धि का प्रयोग करने से तप-संयम की उत्कृष्टता कम हो जाती है। इसी

कारण जंघाचारणों की लौटते समय सामर्थ्य कम हो जाती है। मगर विद्याचारण विद्या के प्रभाव से होते हैं। विद्या का ज्यों-ज्यों प्रयोग किया जाता है, त्यों-त्यों उसका उत्कर्ष होता है। इसी कारण विद्याचारण जितनी दूर दो उडानों में जाते हैं, आते समय एक ही उडान में उस दूरी को पार कर लेते हैं।

आशीविष लब्धि वह है, जिसके प्रभाव से शाप और अनुग्रह की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इन्द्रियों और मन की सहायता के विना रूपी द्रव्यों को नियत सीमा तक जानने वाला ज्ञान—अवधि-ज्ञान कहलाता है। अढ़ाई द्वीप के अन्तर्गत संज्ञी जीवों के मनोद्रव्यों को साक्षात् जानने वाला ज्ञान—मनःपर्याय कहलाता है। यह दोनों ज्ञान भी लब्धियों में गिने गए हैं।

तात्पर्य यह है कि उल्लिखित समस्त लब्धियां योग के निमित्त से प्राप्त होती हैं।

> अहो योगस्य माहात्म्यं, प्राज्यं साम्राज्यमुद्वहन्।
> अवाप केवलज्ञानं, भरतो भरताधिपः ॥ १० ॥
>
> पूर्वमप्राप्त धर्माऽपि, परमानन्दनन्दिता।
> योगप्रभावतः प्राप, मरुदेवी परं पदम् ॥ ११ ॥
>
> ब्रह्म-स्त्री-भ्रूण-गोघात - पातकान्नरकातिथेः।
> दृढप्रहारि - प्रभृतेर्योगो, हस्तावलम्बनम् ॥ १२ ॥
>
> तत्कालकृतदुष्कर्म - कर्मठस्य दुरात्मनः।
> गोप्त्रे चिलातिपुत्रस्य, योगाय स्पृहयेन्न कः ? ॥ १३ ॥

उस योग के माहात्म्य का वर्णन कहां तक किया जाय जिसके प्रभाव से षट्खण्ड—भरतक्षेत्र के अधिपति भरत चक्रवर्त्ती ने विशाल साम्राज्य के भार को वहन करते हुए भी केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। धर्मतीर्थ की स्थापना न होने के कारण जिन्हें पहले धर्म की

प्राप्ति नहीं हुई थी, जो सब प्रकार के सांसारिक सुखों में मग्न थीं, उन मरुदेवी (भगवान् आदि नाथ की माता) को योग के प्रभाव से परम पद की प्राप्ति हुई। ब्रह्महत्या, स्त्रीहत्या, भ्रूणहत्या (गर्भपात) और गोहत्या जैसे लोक-प्रसिद्ध उग्र पापों का आचरण करने के कारण नरक के अतिथि बने हुए दृढ़प्रहारि आदि के लिए योग ही आश्रयभूत है। तत्काल स्त्री-वध जैसा पापकर्म करने वाले घोरकर्मी दुरात्मा चिलाती पुत्र की भी दुर्गति से रक्षा करने वाले योग की साधना कौन नहीं करना चाहेगा ?

तस्याजननिरेवास्तु, नृ-पशोर्मोघजन्मनः ।
अविद्धकर्णो यो योग इत्यक्षरशलाकया ॥ १४ ॥

'यो-ग' इन अक्षरों की सलाई से जिसके कान नहीं बिंधे हैं या 'योग' शब्द जिसके कानों में नहीं पड़ा है, जिसने योग का स्वरूप नहीं सुना-समझा है, वह मनुष्य होता हुआ भी पशु के समान है। उसका जन्म व्यर्थ है। उसका जन्म न होना ही अच्छा था।

योग का स्वरूप

चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो, योगस्तस्य च कारणम् ।
ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूपं, रत्नत्रयं च सः ॥ १५ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यह चार पुरुषार्थ हैं। इन चारों में मोक्ष पुरुषार्थ मुख्य है। मोक्ष का जो कारण हो, वही योग कहलाता है। इस व्याख्या के अनुसार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप 'रत्नत्रय' ही योग है।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

यथावस्थिततत्त्वानां, संक्षेपाद्विस्तरेण च ।
योऽवबोधस्तमत्राहुः, सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः ॥ १६ ॥

जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष यह सात

तत्त्व हैं। पुण्य और पाप की अलग गणना करने पर नौ तत्त्व भी कहे जाते हैं। इन तत्त्वों के वास्तविक स्वरूप का संक्षेप से अथवा विस्तार से ज्ञान होना—सम्यग्ज्ञान है, ऐसा ज्ञानी जनों ने कहा है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यक्श्रद्धानमुच्यते।
जायते तन्निसर्गेण, गुरोरधिगमेन वा॥ १७॥

वीतराग भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर रुचि होना सम्यग्दर्शन कहलाता है। सम्यग्दर्शन दो प्रकार से होता है—१. निसर्ग से और २. गुरु के अधिगम से।

टिप्पण—संसारी जीव अनादि काल से भव-भ्रमण कर रहा है और विविध प्रकार की वेदनाएँ एवं व्यथाएँ सहन कर रहा है। जैसे किसी पहाड़ी नदी के जल-प्रवाह में पड़ा हुआ पाषाण खण्ड बहता-बहता और अनेक चट्टानों से टकराता-टकराता अकस्मात् गोल-मटोल हो जाता है, उसी प्रकार भव-भ्रमण करता हुआ जीव कदाचित् ऐसी स्थिति में आ जाता है कि उसके कर्मों की स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम की शेष रह जाती है। यह स्थिति प्राप्त होने पर वह जीव राग-द्वेष की अनादि-कालीन दुर्भेद्य ग्रंथि को भेदने के लिए उद्यत होता है। यह यथा प्रवृत्ति-करण कहलाता है। उस समय यदि राग-द्वेष की तीव्रता हो जाती है तो किनारे आया हुआ भी फिर मँझधार में डूब जाता है। किन्तु जो भव्य आत्मा यथाप्रवृत्तिकरण को प्राप्त करके आत्मा के वीर्य को प्रस्फुटित करता है, वह कर्मों की उक्त स्थिति को कुछ और कम करके अपूर्वकरण को प्राप्त करता है। अपूर्वकरण के पश्चात् उस दुर्भेद्य ग्रंथि का भेदन हो जाता है और अनिवृत्तिकरण के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। इस प्रक्रिया से उत्पन्न होने वाला दर्शन निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है।

गुरु के उपदेश का निमित्त मिलने पर जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है—वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

निसर्गज और अधिगमज—दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों में अन्तरंग कारण अनन्तानुबंधी चतुष्क एवं दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम समान है। किन्तु, वाह्य निमित्त अलग-अलग हैं। वाह्य निमित्तों की भिन्नता के कारण ही सम्यग्दर्शन के दो भेद किये गये हैं।

सम्यक् चारित्र का स्वरूप

सर्वसावद्ययोगानां, त्यागश्चारित्रमिष्यते ।
कीर्तितं तदहिंसादि-व्रतभेदेन पञ्चधा ॥ १८ ॥

सब प्रकार के सावद्य (पापमय) योगों का त्याग करना सम्यक् चारित्र कहलाता है। अहिंसा आदि व्रतों के भेद से वह पाँच प्रकार का है।

व्रतों के भेद

अहिंसासूनृतास्तेय - ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
पञ्चभिः पञ्चभिर्युक्ता भावनाभिर्विमुक्तये ॥१९॥

व्रत रूप चारित्र के पाँच भेद हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, और ५. अपरिग्रह। यह पाँचों पाँच-पांच भावनाओं से युक्त होकर मोक्ष के कारण होते हैं।

१. अहिंसा-महाव्रत

न यत्प्रमादयोगेन, जीवितव्यपरोपणम् ।
त्रसानां स्थावराणाञ्च, तदहिंसाव्रतं मतम् ॥ २० ॥

प्रमाद के वशीभूत होकर त्रस (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय) अथवा स्थावर (पृथ्वी; पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति काय के) प्राणियों के प्राणों का हनन न करना अहिंसाव्रत है।

२. सत्य-महाव्रत

प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं, सूनृतव्रतमुच्यते ।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत् ॥ २१ ॥

प्रिय, पथ्य (हितकर) और तथ्य (यथार्थ) वचन बोलना सत्यव्रत कहलाता है। जो वचन अप्रिय है या अहितकर है, वह तथ्य होने पर भी सत्य नहीं है।

३. अस्तेय-महाव्रत

अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रत - मुदीरितम् ।
बाह्या प्राणा नृणामर्थो, हरता तं हता हिते ॥ २२ ॥

स्वामी के द्वारा दिये बिना किसी वस्तु को ग्रहण न करना अस्तेय व्रत कहा गया है। धन मनुष्यों का बाह्य प्राण है, अतः धन को हरण करने वाला प्राणों का ही हरण करता है। क्योंकि धन का हरण होने पर धनी को इतनी व्यथा होती है, जितनी प्राणों का हरण होने पर। अतः अदत्तादान हिंसा के समान पाप है।

४. ब्रह्मचर्य-महाव्रत

दिव्यौदारिककामानां, कृतानुमतिकारितैः ।
मनोवाक्कायतस्त्यागो, ब्रह्माष्टादशधा मतम् ॥२३॥

देवों सम्बन्धी और औदारिक शरीर धारियों (मनुष्यों एवं तिर्यंचों) सम्बन्धी कामों का कृत, कारित और अनुमोदन से, मन वचन और काय से त्याग करना--अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य है।

टिप्पण—दिव्य कामों का मन से स्वयं सेवन न करना, दूसरों से सेवन न कराना और सेवन करने वाले का अनुमोदन न करना; इसी प्रकार वचन से और काय से सेवन करने का त्याग करना—नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य है। जैसे दिव्य काम-त्याग से नव भेद सिद्ध होते हैं, इसी प्रकार

औदारिक शरीर सम्बन्धी काम-परित्याग से नव भेद होते हैं। दोनों को मिला देने पर ब्रह्मचर्य के अठारह भेद हो जाते हैं। कहीं-कहीं देवता, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी काम-भोगों के त्याग का कथन। उस कथन में और इस कथन में कोई अर्थभेद नहीं है। यहाँ 'औदारिक' इस एक शब्द से ही मनुष्यों और तिर्यञ्चों को ग्रहण कर लिया गया है।

५. अपरिग्रह-महाव्रत

सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः।
यदसत्स्वपि जायेत, मूर्च्छया चित्तविप्लवः॥ २४॥

समस्त पर-पदार्थों में मूर्च्छा (आसक्ति) का अभाव ही अपरिग्रह कहलाता है। पदार्थों के विद्यमान न होने पर भी अगर उनमें मूर्छा-गृद्धि हो, तो चित्त में क्षोभ होता है।

टिप्पण—तात्पर्य यह है कि किसी पदार्थ का पास में होना अथवा न होना परिग्रह और अपरिग्रह नहीं है, परन्तु मूर्च्छा का होना परिग्रह और न होना अपरिग्रह है। पदार्थ प्राप्त न हो, किन्तु उसमें आसक्ति हो तो भी वह परिग्रह हो जाता है। इसके विपरीत शरीर जैसी वस्तु के विद्यमान रहते हुए भी ममत्व न होने के कारण वह अपरिग्रह है। अतः परिग्रह का त्यागी वही है, जो पदार्थों के साथ-साथ उनसे सम्बन्धित आसक्ति को भी त्याग देता है। कहा भी है—

यद्वत्तुरगः सत्स्वप्याभरणभूषणेष्वनभिषक्तः।
तद्वदुपग्रहवानपि, न सङ्गमुपयाति निर्ग्रन्थः॥

जैसे घोड़े को आभरण और भूषण पहना दिये जाते हैं, तो भी वह उन आभरणों और आभूषणों में आसक्त नहीं होता, उसी प्रकार धर्मोपकरण रखता हुआ भी साधु परिग्रही नहीं कहलाता।

महाव्रतों की भावनाएँ

भावनाभिर्भावितानि, पञ्चभिः पञ्चभिः क्रमात् ।
महाव्रतानि नो कस्य, साधयन्त्यव्ययं पदम् ॥२५॥

प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। उन भावनाओं से भावित—पुष्ट किये हुए महाव्रत किसे अक्षय पद (मोक्ष) प्रदान नहीं करते ? अर्थात् भावनाओं सहित महाव्रतों का पालन करने वाला अवश्य ही अजर-अमर पद प्राप्त करता है।

मनोगुप्त्येषणादानेर्याभिः समितिभिः सदा ।
दृष्टान्नपानग्रहणेनाहिंसां भावयेत् सुधीः ॥२६॥

इन पाँच भावनाओं से विवेकशील पुरुष को अहिंसा को भावित करना चाहिए—१. मनोगुप्ति—मन के अशुभ व्यापारों का त्याग करना, २. एषणासमिति—निरवद्य अर्थात् सूझता अन्न-पानी आदि ग्रहण करना, ३. आदान समिति—संयम के उपकरणों को उपयोग सहित उठाना-रखना, ४. ईर्या समिति—चलते समय जीव-जन्तु की रक्षा के लिए आगे की चार हाथ भूमि का अवलोकन करते हुए चलना, ५. दृष्टान्नपान-ग्रहण—अच्छी तरह देख-भालकर भोजन-पानी ग्रहण करना। अँधेरे में न ग्रहण करना और न खाना-पीना।

हास्यलोभभयक्रोधप्रत्याख्यानैर्निरन्तरम् ।
आलोच्य भाषणेनापि, भावयेत्सूनृतव्रतम् ॥२७॥

१. हँसी-मजाक का त्याग, २. लोभ का त्याग, ३. भय का त्याग, ४. क्रोध का त्याग, और ५. सदैव सोच-विचार कर बोलना, यह पाँच सत्य-महाव्रत की भावनाएँ हैं।

आलोच्यावग्रहयाच्ञाभीक्ष्णावग्रहयाचनम् ।
एतावन्मात्रमेवैतदित्यवग्रह धारणम् ॥ २८ ॥

समानधार्मिकेभ्यश्च, तथावग्रहयाचनम् ।
अनुज्ञापितपानान्नाशनमस्तेयभावना: ॥ २९ ॥

१. सोच-विचार कर अवग्रह—निवास स्थान की याचना करना, २. बार-बार अवग्रह की याचना करना, ३. इतना ही स्थान मेरे लिए उपयोगी है, ऐसा निश्चय करके याचना करना, ४. किसी स्थान में पहले से ठहरे हुए समधर्मी साधुओं से याचना करना, और ५. गुरु की अनुमति लेकर अन्न-पानी, आसन आदि काम में लाना—यह अचौर्य-महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ।

स्त्रीषण्ढपशुमद्वेश्मासन-कुड्यान्तरोज्झनात् ।
सरागस्त्रीकथात्यागात्, प्रागतस्मृतिवर्जनात् ॥३०॥

स्त्रीरम्याङ्गेक्षणस्वाङ्ग-संस्कार परिवर्जनम् ।
प्रणीतात्यशनत्यागाद्, ब्रह्मचर्यं तु भावयेत् ॥३१॥

१. स्त्री, नपुंसक और पशु वाले मकान का, वे जिस आसन पर बैठे हों उस आसन का और बीच में दीवार के व्यवधान वाले स्थान का त्याग करना, २. रागभाव से स्त्री-कथा का त्याग करना, ३.गृहस्थावस्था में भोगे हुए काम-भोगों को स्मरण न करना, ४. स्त्री के रमणीय अंगोपांगों का निरीक्षण न करना और अपने शरीर का संस्कार न करना, तथा ५. कामोत्तेजक एवं परिमाण में अधिक भोजन का त्याग करना । इन पाँच भावनाओं से ब्रह्मचर्य-महाव्रत को भावित करना चाहिए ।

स्पर्शे रसे च गन्धे च, रूपे शब्दे च हारिणि ।
पञ्चस्वितीन्द्रियार्थेषु, गाढं गार्द्ध्यस्य वर्जनम् ॥३२॥

एतेष्वेवामनोज्ञेषु, सर्वथा द्वेष वर्जनम् ।
आकिञ्चन्यव्रतस्यैवं, भावना: पञ्च कीर्तिता: ॥३३॥

पाँचों इन्द्रियों के मनोहर स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द में अधिक

आसक्ति का त्याग करना और अमनोज्ञ स्पर्श आदि में द्वेष का त्याग करना—अपरिग्रह-महाव्रत की पांच भावनाएँ हैं।

टिप्पण—व्रतों का भली-भाँति पालन करने के लिए कुछ सहायक नियमों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। कहना चाहिए कि उन नियमों के पालन पर ही व्रतों का समीचीन रूप से पालन हो सकता है। सहायक नियम व्रतों की रक्षा करते हैं और पुष्टि भी करते हैं। यहाँ प्रत्येक व्रत की रक्षा करने के लिए पाँच-पांच भावनाओं का इसी अभिप्राय से कथन किया गया है।

सम्यक्-चारित्र

अथवा पञ्चसमिति-गुप्तित्रयपवित्रितम् ।
चारित्रं सम्यक्चारित्र-मित्याहुर्मुनिपुङ्गवा ॥ ३४ ॥

अथवा पांच समितियों और तीन गुप्तियों से युक्त आचार सम्यक् चारित्र कहलाता है, ऐसा महामुनि अर्थात् तीर्थङ्कर भगवान् कहते हैं।

टिप्पण—पहले अठारहवें श्लोक में सम्यक् चारित्र की व्याख्या की गई थी। यहाँ दूसरी व्याख्या बतलाई गई है। पहली व्याख्या मूलव्रत-परक है और इस दूसरी व्याख्या में उत्तर व्रतों का भी समावेश किया गया है। अहिंसा आदि पांच महाव्रत मूलव्रत कहलाते हैं और समिति-गुप्ति आदि उत्तर व्रत कहे जाते है।

मूल गुणों और उत्तर गुणों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उत्तर-गुणों का पालन किये बिना सम्यक् प्रकार से मूल गुणों का पालन होना संभव नहीं है, और मूल गुणों के अभाव में उत्तर गुणों की कल्पना वैसी ही है जैसे मूल के बिना वृक्ष की कल्पना।

इस प्रकार मूल गुणों और उत्तर गुणों के सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए दोनों व्याख्याओं में कोई अन्तर नहीं है, तथापि चारित्र जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और व्यापक विषय की स्पष्टता के हेतु शास्त्रकार ने यहाँ दो

प्रकार की व्याख्याएँ दी हैं। इन दोनों व्याख्याओं से चारित्र का स्वरूप पूर्णतः और सरलता से समझा जा सकता है।

समिति-गुप्ति का लक्षण सूत्रकार स्वयं ही आगे के पद्यों में बतलाएँगे।

समिति-गुप्ति

ईर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्ग-संज्ञिकाः ।
पञ्चाहुः समितीस्तिस्रो, गुप्तीस्त्रियोगनिग्रहात् ॥३५॥

जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचे, ऐसे यतनापूर्वक किये जाने वाले व्यापार—प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। समितियाँ पाँच हैं—१. ईर्या समिति, २. भाषा समिति, ३. एषणा समिति, ४. आदान-निक्षेप समिति, और ५. उत्सर्ग समिति।

सम्यक् प्रकार से योग का निग्रह करना 'गुप्ति' कहलाता है। योग तीन हैं—१. मनोयोग, २. वचनयोग, और ३. कामयोग। इन तीनों का निग्रह ही क्रमशः मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति कहलाती है।

१. ईर्या-समिति

लोकाति वाहिते मार्गे, चुम्बिते भास्वदंशुभिः ।
जन्तुरक्षार्थमालोक्य, गतिरीर्या मता सताम् ॥ ३६ ॥

जिस मार्ग पर लोगों का आवागमन हो चुका हो और जिस पर सूर्य की किरणें पड़ रही हों या पड़ चुकी हों, उस पर जीव-जन्तुओं की रक्षा के लिए आगे की चार हाथ भूमि देख-देखकर चलना सन्त जनों द्वारा सम्मत ईर्यासमिति है।

२. भाषा-समिति

अवद्यत्यागतः सर्वजनीनं मितभाषणम् ।
प्रिया वाचंयमानां, सा भाषा समितिरुच्यते ॥ ३७ ॥

भाषा सम्बन्धी दोषों से बचकर प्राणी मात्र के लिए हितकारी परिमित भाषण करना 'भाषा समिति' है। यह संयमी पुरुषों को प्रिया है।

टिप्पण—मुनि का उत्सर्ग मार्ग है—मौन धारण करना। किन्तु निरन्तर मौन लेकर जीवन-व्यापार नहीं चलाया जा सकता। अतः जब उन्हें वाणी का प्रयोग करना पड़े तो कुछ आवश्यक नियमों का ध्यान रखकर ही करना चाहिए। यही 'भाषासमिति' है। मुख्य नियम यह हैं—

१. मुनि क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य और भय से प्रेरित होकर न बोले।
२. निरर्थक भाषण न करे। प्रयोजन होने पर परिमित ही बोले। विकथा न करे।
३. अप्रिय, कटुक और कठोर भाषा का प्रयोग न करे।
४. भविष्य में होने वाली घटना के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ न कहे।
५. जो बात सम्यक् रूप से देखी, सुनी या अनुभव न की हो, उसके विषय में भी निर्णयात्मक शब्द न कहे।
६. परपीड़ा-जनक सत्य भी न बोले। असत्य का कदापि प्रयोग न करे।

३. एषणा-समिति

द्विचत्वारिंशता भिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम् ।
मुनिर्यदन्नमादत्ते, सैषणासमितिर्मता ॥ ३८ ॥

प्रतिदिन भिक्षा के बयालीस दोषों को टालकर मुनि जो निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करते हैं, उसे 'एषणा-समिति' कहते हैं।

टिप्पण—जिनेन्द्र देव के शासन में मुनियों के आहार की शुद्धि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसका कारण यह है कि आहार के

साथ मनुष्य के आचार और विचार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मुनि की संयमयात्रा तभी निर्विघ्न सम्पन्न हो सकती है, जब उसका आहार संयम के अनुरूप हो। आहार के विषय में जो स्वच्छन्द होता है या लोलुप होता है, वह ठीक तरह संयम का निर्वाह नहीं कर सकता और न हिंसा के पाप से ही बच सकता है। अतः संयत मुनियों को आहार के विषय में अत्यन्त संयत रहने का आदेश दिया गया है।

यहाँ भिक्षा के जिन बयालीस दोषों को टालने का उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार हैं—उद्‌गम-दोष १६, उत्पादना-दोष १६, और एषणा-दोष १०। दाता के द्वारा लगने वाले दोष 'उद्‌गम-दोष' कहलाते हैं, आदाता—पात्र के द्वारा होने वाले दोष 'उत्पादना-दोष' कहे जाते हैं और दोनों—दाता एवं आदाता के द्वारा होने वाले दोष 'एषणा-दोष' कहलाते हैं। इन सब का लक्षण अन्य शास्त्रों से समझ लेना चाहिए।

यह बयालीस प्रधान दोष आचारांग, सूत्रकृतांग और निशीथसूत्र में वर्णित हैं। आवश्यक, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में इनके अतिरिक्त और भी दोषों का उल्लेख है, जो इन्हीं दोषों में से प्रतिफलित होते हैं। उन सब को सम्मिलित कर लेने पर आहार के १०६ दोष होते हैं।

४. आदान-समिति

आसनादीनि संवीक्ष्य, प्रतिलिख्य च यत्नतः।
गृह्णीयान्निक्षिपेद्वा यत्, सादानसमितिः स्मृता ॥३९॥

आसन, रजोहरण, पात्र, पुस्तक आदि संयम के उपकरणों को सम्यक् प्रकार से देख-भाल करके, उनकी प्रतिलेखना करके, यतनापूर्वक ग्रहण करना और रखना 'आदान-समिति' कहलाती है।

टिप्पण—संयम के आवश्यक उपकरणों को रखते या उठाते समय जीव-जन्तु की विराधना न हो जाय, इस अभिप्राय से आदान-समिति

का विधान किया गया है। इस समिति का प्रतिपालन करने वाला मुनि हिंसा से बच जाता है।

५. उत्सर्ग-समिति

> कफमूत्रमलप्रायं, निर्जन्तुजगतीतले।
> यत्नाद्यदुत्सृजेत्साधुः, सोत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥ ४० ॥

कफ, मूत्र, मल जैसी वस्तुओं का जीव-जन्तुओं से रहित पृथ्वी पर यतना के साथ मुनि त्याग करते हैं। यही 'उत्सर्ग-समिति' है।

१. मन-गुप्ति

> विमुक्तकल्पनाजालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।
> आत्मारामं मनस्तज्ज्ञैर्मनोगुप्तिरुदाहृता ॥ ४१ ॥

सब प्रकार की कल्पनाओं के जाल से मुक्त, पूरी तरह समभाव में स्थित और आत्मा में ही रमण करने वाला मन 'मनोगुप्ति' कहलाता है।

टिप्पण—यहाँ मनोगुप्ति के तीन रूप प्ररूपित किये गये हैं—१. आर्त-रौद्र ध्यानयुक्त कल्पनाओं का त्याग करना, २. मध्यस्थभाव धारण करना, और ३. मनोयोग का सर्वथा निरोध करना।

२. वचन-गुप्ति

> संज्ञादिपरिहारेण, यन्मौनस्यावलम्बनम्।
> वाग्वृत्तेः संवृतिर्वा या, सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते ॥ ४२ ॥

संज्ञा आदि का त्याग करके सर्वथा मौन धारण कर लेना तथा भाषण सम्बन्धी व्यापार का संवरण करना 'वचन-गुप्ति' है।

टिप्पण—मुख, नेत्र, भौंह आदि द्वारा किया जाने वाला या कंकर आदि फेंक कर किया जाने वाला इशारा भी न करते हुए मौन धारण करना भी 'वचन-गुप्ति' है और यतनापूर्वक सिद्धान्त से अविरुद्ध भाषण करना भी 'वचन-गुप्ति' है। इस प्रकार मौनावलम्बन तथा सम्यक्-भाषण, ये वचन-गुप्ति के दो रूप हैं।

३. काय-गुप्ति

उपसर्गप्रसङ्गेऽपि, कायोत्सर्गजुषो मुनेः ।
स्थिरीभावः शरीरस्य, कायगुप्तिर्निगद्यते ॥ ४३ ॥

शयनासन-निक्षेपादान - चंक्रमणेषु यः ।
स्थानेषु चेष्टानियमः, कायगुप्तिस्तु साऽपरा ॥ ४४ ॥

देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग आने पर भी, कायोत्सर्ग में स्थित मुनि की काया की स्थिरता 'काय-गुप्ति' कहलाती है। उपसर्ग आने पर भी मुनि जब कायोत्सर्ग करके अपने शरीर के हलन-चलन आदि व्यापारों को रोक लेता है और शरीर से अडोल तथा अकंप बन जाता है, तभी काय-गुप्ति होती है।

सोने-बैठने, रखने-उठाने, आवागमन करने आदि-आदि क्रियाओं में नियमयुक्त चेष्टा करना भी 'कायगुप्ति' है। यह दूसरी काय-गुप्ति कहलाती है।

टिप्पण—गुप्ति का अर्थ है—गोपन करना अथवा निरोध करना। मन के, वचन के और काय के व्यापार को रोकना—क्रमशः मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति है। पूर्वोक्त पाँचों समितियाँ इनका अपवाद हैं।

आठ माताएँ

एताश्चारित्रगात्रस्य, जननात्परिपालनात् ।
संशोधनाच्च साधूनां, मातरोऽष्टौ प्रकीर्तिता ॥ ४५ ॥

पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ साधुओं के चारित्र रूपी शरीर को जन्म देती हैं, उसका पालन-पोषण और रक्षण करती हैं और उसे विशुद्ध बनाती हैं, अतः यह आठ माताएँ कही गई हैं।

टिप्पण—बालक के शरीर को जन्म देना, जन्म देने के पश्चात्

उसका पालन-पोषण करना और उसे साफ-स्वच्छ रखना माता का काम है। इसी प्रकार चारित्र का जनन, रक्षण और संशोधन करने के कारण समितियाँ और गुप्तियाँ—चारित्र रूप शरीर की माताएँ कहलाती हैं। इनके अभाव में प्रथम तो चारित्र की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, कदाचित् उत्पत्ति हो जाय तो उसकी रक्षा होना संभव नहीं है और फिर उसका विशुद्ध रहना तो सर्वथा असंभव ही है। इसी कारण इन्हें प्रवचनमाता भी कहते हैं।

द्विविध चारित्र

सर्वात्मना यतीन्द्राणामेतच्चारित्रमीरितम् ।
यतिधर्मानुरक्तानां, देशतः स्यादगारिणाम् ॥ ४६ ॥

यहाँ तक जिस चारित्र का कथन किया गया है, वह मुनि-धर्म का पालन करने के इच्छुक मुनियों का सर्व चारित्र या सर्वविरति चारित्र है। इसी चारित्र का एक देश से पालन करना श्रावक-चारित्र या देश-चारित्र कहलाता है। मुनिजन चारित्र का पूर्ण रूप से पालन करते हैं और श्रावक एक देश से परिपालन करते हैं।

विवेचन—साधु का और श्रावक का चारित्र भिन्न-भिन्न नहीं है। दोनों के लिए चारित्र तो एक ही है, किन्तु उनके पालन करने की मात्रा अलग-अलग है। इस मात्रा-भेद का कारण उनकी योग्यता और परिस्थिति की भिन्नता है। गृहस्थ श्रावक में न ऐसी योग्यता होती है और न उसकी ऐसी परिस्थिति ही होती है कि वह पूर्ण रूप से चारित्र का पालन कर सके। इसी कारण अधिकारी भेद को लेकर चारित्र के दो भेद किये गये हैं।

गृहस्थ-धर्म

न्यायसम्पन्नविभवः, शिष्टाचार प्रशंसकः ।
कुलशीलसमैः सार्धं, कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः ॥ ४७ ॥

पापभीरुः प्रसिद्धञ्च, देशाचारं समाचरन् ।
अवर्णवादी न क्वापि, राजादिषु विशेषतः ॥ ४८ ॥

अनतिव्यक्तगुप्ते च, स्थाने सुप्रातिवेश्मिके ।
अनेक - निर्गमद्वार - विवर्जित - निकेतनः ॥ ४९ ॥

कृतसङ्गः सदाचारैर्मातापित्रोश्च पूजकः ।
त्यजन्नुपप्लुतं स्थानमप्रवृत्तश्च गर्हिते ॥ ५० ॥

व्ययमायोचितं कुर्वन्, वेषं वित्तानुसारतः ।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः, शृण्वानो धर्ममन्वहम् ॥ ५१ ॥

अजीर्णे भोजनत्यागी, काले भोक्ता च सात्म्यतः ।
अन्योन्याऽप्रतिबन्धेन, त्रिवर्गमपि साधयन् ॥ ५२ ॥

यथावदतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपत्तिकृत् ।
सदाऽनभिनिविष्टश्च, पक्षपाती गुणेषु च ॥ ५३ ॥

अदेशाकालयोश्चर्या, त्यजन् जानन् बलाबलम् ।
वृत्तस्थज्ञान वृद्धानां, पूजकः पोष्यपोषकः ॥ ५४ ॥

दीर्घदर्शी विशेषज्ञः, कृतज्ञो लोकवल्लभः ।
सलज्जः सदयः सौम्यः, परोपकृतिकर्मठः ॥ ५५ ॥

अन्तरङ्गारिषड्वर्ग - परिहार - परायणः ।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो, गृहिधर्माय कल्पते ॥ ५६ ॥

गृहस्थ-धर्म को पालन करने का पात्र वह होता है, जिसमें निम्न-लिखित विशेषताएँ हों—

१. न्याय-नीति से धन उपार्जन करे ।
२. शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करने वाला हो ।
३. अपने कुल और शील में समान भिन्न गोत्र वालों के साथ विवाह-सम्बन्ध करने वाला हो ।

४. पापों से डरने वाला हो।
५. प्रसिद्ध देशाचार का पालन करे।
६. किसी की और विशेष रूप से राजा आदि की निन्दा न करे।
७. ऐसे स्थान पर घर बनाए जो न एकदम खुला हो और न एक दम गुप्त भी हो।
८. घर से बाहर निकलने के द्वार अनेक न हों।
९. सदाचारी पुरुषों की संगति करता हो।
१०. माता-पिता की सेवा-भक्ति करे।
११. रगड़े-झगड़े और बखेड़े पैदा करने वाली जगह से दूर रहे, अर्थात् चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थान में न रहे।
१२. किसी भी निन्दनीय काम में प्रवृत्ति न करे।
१३. आय के अनुसार व्यय करे।
१४. अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार वस्त्र पहने।
१५. बुद्धि के आठ गुणों[1] से युक्त होकर प्रतिदिन धर्म-श्रवण करे।
१६. अजीर्ण होने पर भोजन न करे।
१७. नियत समय पर सन्तोष के साथ भोजन करे।
१८. धर्म के साथ अर्थ-पुरुषार्थ, काम-पुरुषार्थ और मोक्ष-पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करे कि कोई किसी का बाधक न हो।
१९. अतिथि, साधु और दीन—असहाय जनों का यथायोग्य सत्कार करे।
२०. कभी दुराग्रह के वशीभूत न हो।

[1] शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानञ्च धीगुणाः॥

श्रवण करने की इच्छा, श्रवण, ग्रहण, धारण, चिन्तन, ऊहापोह, अर्थज्ञान और तत्त्वज्ञान—ये बुद्धि के आठ गुण हैं।

२१. गुणों का पक्षपाती हो—जहाँ कहीं गुण दिखाई दें, उन्हें ग्रहण करे और उनकी प्रशंसा करे।
२२. देश और काल के प्रतिकूल आचरण न करे।
२३. अपनी शक्ति और अशक्ति को समझे। अपने सामर्थ्य का विचार करके ही किसी काम में हाथ डाले, सामर्थ्य न होने पर हाथ न डाले।
२४. सदाचारी पुरुषों की तथा अपने से अधिक ज्ञानवान् पुरुषों की विनय-भक्ति करे।
२५. जिनके पालन-पोषण करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर हो, उनका पालन-पोषण करे।
२६. दीर्घदर्शी हो, अर्थात् आगे-पीछे का विचार करके कार्य करे।
२७. अपने हित-अहित को समझे, भलाई-बुराई को समझे।
२८. कृतज्ञ हो, अर्थात् अपने प्रति किये हुए उपकार को नम्रता पूर्वक स्वीकार करे।
२९. लोकप्रिय हो, अर्थात् अपने सदाचार एवं सेवा-कार्य के द्वारा जनता का प्रेम सम्पादित करे।
३०. लज्जाशील हो, निर्लज्ज न हो। अनुचित कार्य करने में लज्जा का अनुभव करे।
३१. दयावान् हो।
३२. सौम्य हो। चेहरे पर शान्ति और प्रसन्नता झलकती हो।
३३. परोपकार करने में उद्यत रहे। दूसरों की सेवा करने का अवसर आने पर पीछे न हटे।
३४. काम-क्रोधादि आन्तरिक छह शत्रुओं को त्यागने में उद्यत हो।
३५. इन्द्रियों को अपने वश में रखे।

टिप्पण—बीज बोने से पहले क्षेत्र-शुद्धि की जाती है। ऐसा न किया जाए तो यथेष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती और दीवार खड़ी करने से

पहले नींव मजबूत कर ली जाती है। नींव मजबूत न की जाय तो दीवार के किसी भी समय गिर जाने का खतरा रहता है। इसी प्रकार गृहस्थ-धर्म को अंगीकार करने से पहले आवश्यक जीवन-शुद्धि कर लेना उचित है। यहाँ जो बातें बतलाई गई हैं, उन्हें गृहस्थ-धर्म की नींव या आधार-भूमि समझना चाहिए। इस आधार-भूमिका पर गृहस्थ-धर्म का जो भव्य प्रासाद खड़ा होता है, वह स्थायी होता है। उसके गिरने का भय नहीं रहता।

ये मार्गानुसारी के ३५ गुण कहते हैं। इनमें कई गुण ऐसे हैं जो केवल लौकिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। उन्हें गृहस्थ-धर्म का आधार बतलाने का अर्थ यह है कि वास्तव में जीवन एक अखण्ड वस्तु है। अतः लोक-व्यवहार में और धर्म के क्षेत्र में उसका विकास एक साथ होता है। जिसका व्यावहारिक जीवन पतित और गया-बीता होगा, उसका धार्मिक जीवन उच्च श्रेणी का नहीं हो सकता। अतः धर्ममय जीवन यापन करने के लिए व्यावहारिक जीवन को उच्च बनाना परमावश्यक है। जब व्यवहार में पवित्रता आती है, तभी जीवन धर्म-साधना के योग्य बन पाता है।

योगीश्वर भगवान महावीर ने आत्मा के साथ सम्यग्-ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सम्बन्ध को निश्चय दृष्टि से 'योग' कहा है। क्योंकि, ये रत्न-त्रय मोक्ष के साथ आत्मा का 'योग'—सम्बन्ध करा देते हैं।

—आचार्य हरिभद्र

मन, वचन और काय—शरीर की प्रवृत्ति को योग कहते हैं।

—भगवान महावीर

चित्त की वृत्तियों को वश में रखना ही योग है।

—महर्षि पतंजलि

समस्त चिन्ताओं का परित्याग कर निश्चिन्त—चिन्ताओं से मुक्त-उन्मुक्त हो जाना ही योग है। वस्तुतः चिन्ता-मुक्ति का नाम योग है।

—महर्षि पतंजलि

सर्वत्र समभाव रखने वाला योगि अपने को सब भूतों में और सब भूतों-प्राणियों को अपने में देखता है।

—गीता

सच्चे देव को देव समझना, सच्चे गुरु को गुरु मानना और सच्चे धर्म में धर्म बुद्धि होना—सम्यक्त्व कहलाता है।

मिथ्यात्व का स्वरूप

अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च, मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥ ३ ॥

कुदेव को देव मानना, कुगुरु को गुरु मानना और कुधर्म को धर्म समझना—मिथ्यात्व है, क्योंकि इस प्रकार की समझ वास्तविकता से विपरीत है।

टिप्पण—जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप में मानना—वस्तु के वास्तविक स्वरूप पर श्रद्धा करना 'सम्यक्त्व' है और अयथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करना 'मिथ्यात्व' है। इस कथन से यह भी प्रतिफलित होता है कि देव को कुदेव, गुरु को कुगुरु और धर्म को अधर्म समझना भी मिथ्यात्व है।

देव का लक्षण

सर्वज्ञो जितरागादि-दोषस्त्रैलोक्य-पूजितः।
यथास्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥ ४ ॥

जो सर्वज्ञ हो, राग-द्वेष आदि आत्मिक विकारों को जिसने पूर्ण रूप से जीत लिया हो, जो तीनों जगत् के द्वारा पूज्य हो और यथार्थ वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादक हो, ऐसे अर्हन्त भगवान् ही सच्चे देव हैं।

टिप्पण—चार अतिशय—सच्चे देवत्व की कसौटी हैं। वह चार अतिशय जिसमें पाये जाएँ, वही सच्चा देव है। वह अतिशय यह हैं—१. ज्ञानातिशय–केवलज्ञान, २. अपायापगमातिशय-वीतरागता-रागादि समस्त दोषों का नाश, ३. पूजातिशय—सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों आदि के द्वारा पूज्य होना, तथा ४. वचनातिशय—यथार्थ वादित्व।

ये सारे अतिशय अरिहन्त देव में ही पाये जाते हैं । अतः वही सच्चे देव हैं ।

देवोपासना की प्रेरणा

ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयमयं शरणमिष्यताम् ।
अस्यैव प्रतिपत्तव्यं, शासनं चेतनाऽस्ति चेत् ॥ ५ ॥

अर्हन्-परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है । वही उपासना करने योग्य है । उन्हीं की शरण ग्रहण करना चाहिए । यदि तुम में चेतना है, समझदारी है, विवेक है—तो अरिहन्त प्रभु के शासन-आदेश को स्वीकार करो ।

कुदेव का लक्षण

ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्रादि-रागाद्यङ्ककलङ्किताः ।
निग्रहानुग्रहपरास्ते देवाः स्युर्न मुक्तये ॥ ६ ॥
नाट्याट्टहाससङ्गीताद्युपप्लवविसंस्थुलाः ।
लम्भयेयुः पदं शान्तं, प्रपन्नान् प्राणिनः कथम्? ॥ ७ ॥

जो राग के चिह्न स्त्री से युक्त हैं, द्वेष के चिह्न शस्त्र से सहित हैं और मोह के चिह्न जपमाला से युक्त हैं, जो निग्रह और अनुग्रह करने में तत्पर हैं, अर्थात् किसी का नाश करने वाले और किसी को वरदान देने वाले हैं, ऐसे देव मुक्ति के कारण नहीं हो सकते ।

जो देव स्वयं ही नाटक, अट्टहास एवं संगीत आदि में उलझे हुए हैं । जिनका चित्त इन सब आमोद-प्रमोदों के लिए ललकता है, वे संसार के प्राणियों को शांति-धाम—मोक्ष कैसे प्राप्त करा सकते हैं ?

सच्चे देव को देव समझना, सच्चे गुरु को गुरु मानना और सच्चे धर्म में धर्म बुद्धि होना—सम्यक्त्व कहलाता है।

मिथ्यात्व का स्वरूप

अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च, मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥ ३ ॥

कुदेव को देव मानना, कुगुरु को गुरु मानना और कुधर्म को धर्म समझना—मिथ्यात्व है, क्योंकि इस प्रकार की समझ वास्तविकता से विपरीत है।

टिप्पण—जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप में मानना—वस्तु के वास्तविक स्वरूप पर श्रद्धा करना 'सम्यक्त्व' है और अयथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करना 'मिथ्यात्व' है। इस कथन से यह भी प्रतिफलित होता है कि देव को कुदेव, गुरु को कुगुरु और धर्म को अधर्म समझना भी मिथ्यात्व है।

देव का लक्षण

सर्वज्ञो जितरागादि-दोषस्त्रैलोक्य-पूजितः।
यथास्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥ ४ ॥

जो सर्वज्ञ हो, राग-द्वेष आदि आत्मिक विकारों को जिसने पूर्ण रूप से जीत लिया हो, जो तीनों जगत् के द्वारा पूज्य हो और यथार्थ वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादक हो, ऐसे अर्हन्त भगवान् ही सच्चे देव हैं।

टिप्पण—चार अतिशय—सच्चे देवत्व की कसौटी हैं। वह चार अतिशय जिसमें पाये जाएँ, वही सच्चा देव है। वह अतिशय यह हैं—१. ज्ञानातिशय–केवलज्ञान, २. अपायापगमातिशय-वीतरागता-रागादि समस्त दोषों का नाश, ३. पूजातिशय—सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों आदि के द्वारा पूज्य होना, तथा ४. वचनातिशय—यथार्थ वादित्व।

यह चार अतिशय अरिहन्त देव में ही पाये जाते हैं । अतः वही सच्चे देव हैं ।

देवोपासना की प्रेरणा

ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयमयं शरणमिष्यताम् ।
अस्यैव प्रतिपत्तव्यं, शासनं चेतनाऽस्ति चेत् ।। ५ ।।

अर्हन्-परमात्मा ही ध्यान करने योग्य हैं । वही उपासना करने योग्य हैं । उन्हीं की शरण ग्रहण करना चाहिए । यदि तुम में चेतना है, समझदारी है, विवेक है—तो अरिहन्त प्रभु के शासन-आदेश को स्वीकार करो ।

कुदेव का लक्षण

ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्रादि-रागाद्यङ्ककलङ्किताः ।
निग्रहानुग्रहपरास्ते देवाः स्युर्न मुक्तये ।। ६ ।।
नाट्याट्टहाससङ्गीताद्युपप्लवविसंस्थुलाः ।
लम्भयेयुः पदं शान्तं, प्रपन्नान् प्राणिनः कथम्?।। ७ ।।

जो राग के चिह्न स्त्री से युक्त हैं, द्वेष के चिह्न शस्त्र से युक्त हैं और मोह के चिह्न जपमाला से युक्त हैं, जो निग्रह और अनुग्रह करने में तत्पर हैं, अर्थात् किसी का वध करने वाले और किसी को वरदान देने वाले हैं, ऐसे देव मुक्ति के कारण नहीं हो सकते ।

जो देव स्वयं ही नाटक, अट्टहास एवं संगीत आदि में उलझे हुए हैं । जिनका चित्त इन सब आमोद-प्रमोदों के लिए तरसता है, वे संसार के प्राणियों को शान्ति-धाम—मोक्ष कैसे प्राप्त करा सकते हैं ?

टिप्पण जिसमें रागभाव की तीव्रता होगी, वही स्त्री को अपने समीप रखेगा । जिसमें द्वेष की वृत्ति विद्यमान होगी, वही शस्त्र धारण करेगा । जिसे विस्मृति आदि मोह का भय होगा, वही जपमाला हाथ में रखेगा । अतः स्त्री, शस्त्र और माला आदि क्रमशः राग, द्वेष और

मोह के द्योतक हैं। जो व्यक्ति इन दोषों के द्योतक चिह्नों को धारण करते हैं, वे राग-द्वेष और मोह से युक्त हैं। इसके अतिरिक्त किसी का वध-बन्धन आदि निग्रह करना और किसी पर वरदान आदि देकर अनुग्रह करना भी राग-द्वेष का परिचायक है। इस प्रकार जिसमें यह सब दोष विद्यमान हैं, वह वास्तविक देव नहीं है। उसकी उपासना से मुक्ति नहीं मिल सकती।

गुरु का लक्षण

महाव्रतधरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥ ८ ॥

अहिंसा आदि पूर्वोक्त पाँच महाव्रतों को धारण करने वाले, परीषह और उपसर्ग आने पर भी व्याकुल न होने वाले, भिक्षा से ही उदर निर्वाह करने वाले, सदैव सामायिक—समभाव में रहने वाले और धर्म का उपदेश देने वाले 'गुरु' कहलाते हैं।

टिप्पण—महाव्रतों का पालन, धैर्य, भिक्षाजीवी होना और सामायिक में रहना—साधु मात्र का लक्षण है। यह लक्षण प्रत्येक मुनि में होता है, किन्तु 'धर्मोपदेशकता' गुरु का विशेष लक्षण है। साधु के गुणों से युक्त होते हुए जो धर्मोपदेशक होते हैं, वह गुरु कहलाते हैं।

कुगुरु का लक्षण

सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥ ९ ॥
परिग्रहारम्भमग्नास्तारयेयुः कथं परान् ?
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्त्तुमीश्वरः ॥ १० ॥

अपने भक्तों के धन-धान्य आदि सभी पदार्थों की अभिलाषा रखने वाले, मद्य, मधु, मांस आदि सभी वस्तुओं का आहार करने वाले,

परिग्रह से युक्त, ब्रह्मचर्य का पालन न करने वाले और मिथ्या उपदेश देने वाले गुरु नहीं है।

जो स्वयं परिग्रह और आरम्भ में आसक्त होने से संसार-सागर में डूबे हुए हैं, वे दूसरों को किस प्रकार तार सकते हैं ? जो स्वयं ही दरिद्र है, वह दूसरे को ऐश्वर्यशाली क्या बनाएगा !

धर्म का लक्षण

दुर्गतिप्रपतत्प्राणि - धारणाद्धर्म उच्यते ।
संयमादिदशविधः सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये ।। ११ ।।

नरक और तिर्यञ्च गति में गिरते हुए जीवों को जो धारण करता है, बचाता है, वह धर्म कहलाता है। सर्वज्ञ के द्वारा कथित, संयम आदि के भेद से दस प्रकार का धर्म ही मोक्ष प्रदान करता है।

अपौरुषेयं वचनमसंभवि भवेद्यदि ।
न प्रमाणं भवेद्वाचां, ह्याप्ताधीना प्रमाणता ।। १२ ।।

अपौरुषेय वचन प्रथम तो असंभव है, फिर भी यदि मान लिया जाय तो वह प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि वचन की प्रमाणता आप्त के अधीन है।

टिप्पण—संसार में दो प्रकार के मत हैं—१. सर्वज्ञवादी, और २. असर्वज्ञवादी। जो मत किसी न किसी आत्मा का सर्वज्ञ होना स्वीकार करते हैं, वे 'सर्वज्ञवादी' कहलाते हैं। जो सर्वज्ञ का होना असंभव मानते हैं, वे 'असर्वज्ञवादी' कहलाते हैं। सर्वज्ञवादी मत अपने आगम को सर्वज्ञोपदेश मूलक मानकर प्रमाणभूत मान लेते हैं, परन्तु असर्वज्ञवादी मत ऐसा नहीं मान सकते। उनसे पूछा जाता है कि आपके मत में कोई सर्वज्ञ तो हो नहीं सकता, फिर आपके आगम की प्रमाणता का क्या आधार है ? आपका आगम सर्वज्ञकृत नहीं है, तो उसे कैसे प्रमाण माना जाए ? तब वे कहते हैं—हमारा आगम अपौरुषेय है। किसी भी पुरुष के द्वारा

उसकी रचना नहीं की गई है। वह अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है।

यहाँ शास्त्रकार ने असर्वज्ञवादियों के इसी अपौरुषेयवाद का निराकरण किया है। शास्त्र मात्र वर्णात्मक होते हैं और वर्णों की उत्पत्ति कंठ, तालु आदि स्थानों से तथा पुरुष के प्रयत्न से होती है। कभी कोई शब्द पुरुष के प्रयत्न के अभाव में अपने आप गूँजता हुआ नहीं सुना जाता। ऐसी स्थिति में अपौरुषेय शब्दों की कल्पना करना मिथ्या है। कोई भी आगम अपौरुषेय नहीं हो सकता।

तर्क के लिए आगम को अपौरुषेय मान भी लिया जाय तो भी उसकी प्रमाणता सिद्ध नहीं होती। वचन की प्रमाणता वक्ता की प्रमाणता पर निर्भर है। जब वक्ता आप्त—प्रामाणिक होता है, तभी उसका वचन प्रामाणिक माना जाता है। अपौरुषेय आगम का वक्ता कोई आप्त पुरुष नहीं है, तो उसे प्रमाण भी किस प्रकार माना जा सकता है?

कुधर्म का लक्षण

मिथ्यादृष्टिभिराम्नातो, हिंसाद्यैः कलुषीकृतः।
स धर्म इति वित्तोऽपि, भवभ्रमणकारणम्॥ १३॥

मिथ्या-दृष्टियों के द्वारा प्रवर्तित और हिंसा आदि दोषों से कलुषित धर्म, 'धर्म' के नाम से प्रसिद्ध होने पर भी संसार-भ्रमण का ही कारण है।

सरागोऽपि हि देवश्चेद्, गुरुरब्रह्मचार्यपि।
कृपाहीनोऽपि धर्मः स्यात्, कष्टं-नष्टं हहा जगत्॥१४॥

जो राग आदि दोषों से युक्त है, वह भी देव हो जाय, ब्रह्मचारी न होने पर भी गुरु हो जाय और दयाहीन भी धर्म हो जाय, तब तो हाय! इस जगत् की क्या दुर्दशा होगी!

सम्यक्त्व के लक्षण

शम - संवेग - निर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्य-लक्षणैः ।
लक्षणैः पञ्चभिः सम्यक्, सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ॥१५॥

शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य—इन पाँच लक्षणों से सम्यक्त्व का भली-भाँति ज्ञान हो जाता है।

टिप्पण—सम्यक्त्व आत्मा का एक शुभ परिणाम है। वह इन्द्रियगोचर नहीं है—तथापि शम, संवेग आदि लक्षणों से उसका अनुमान किया जा सकता है। शम आदि का अर्थ इस प्रकार है—

१. शम—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय न होना।

२. संवेग—मोक्ष की अभिलाषा होना। सम्यग्दृष्टि जीव नरेन्द्रों और सुरेन्द्रों के सुख को भी दुःख रूप मानता है। वह उनकी अभिलाषा नहीं करता।

३. निर्वेद—संसार के प्रति विरक्ति होना।

४. अनुकम्पा—विना भेदभाव से दुखी जीवों के दुःख को दूर करने की इच्छा होना। यह आत्मीय है या यह पराया है, ऐसा विकल्प न रखते हुए प्राणी मात्र के दुःख को दूर करने की इच्छा होना अनुकम्पा है। अनुकम्पा के दो भेद हैं—द्रव्यानुकम्पा और भावानुकम्पा। सामर्थ्य होने पर दुखी के दुःख का प्रतीकार करना 'द्रव्य-अनुकम्पा' है और हृदय में आर्द्र भाव उत्पन्न होना 'भाव-अनुकम्पा' है।

५. आस्तिक्य—सर्वज्ञ वीतराग द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा होना।

उक्त पाँच लक्षणों से अप्रत्यक्ष सम्यक्त्व भी जाना जा सकता है।

सम्यक्त्व के पाँच भूषण

स्थैर्यं प्रभावना भक्तिः, कौशलं जिन-शासने ।
तीर्थ-सेवा च पञ्चास्य, भूषणानि प्रचक्षते ॥१६॥

सम्यक्त्व के पाँच भूषण कहे गये हैं—१. जिन-शासन में स्थिरता, २. जिन-शासन की प्रभावना, ३. जिन-शासन की भक्ति, ४. जिन-शासन में कौशल, और ५. चतुर्विध तीर्थ—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका की सेवा। इन पाँच सद्गुणों से सम्यक्त्व भूषित होता है।

सम्यक्त्व के पाँच दूषण

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सा-मिथ्यादृष्टिप्रशंसनम् ।
तत्संस्तवश्च पञ्चापि, सम्यक्त्वं दूषयन्त्यलम् ॥१७॥

यह पाँच दोष सम्यक्त्व को मलीन करते हैं—१. शंका, २. कांक्षा, ३. विचिकित्सा, ४. मिथ्यादृष्टि-प्रशंसा, और ५. मिथ्यादृष्टि-संस्तव। इनका अर्थ इस प्रकार है—

१. वीतराग के वचन में सन्देह करना 'शंका दोष' है। शंका दो प्रकार की है—सर्व-विषय और देश-विषय। 'धर्म है या नहीं ?' इस प्रकार की शंका को 'सर्व-विषय' शंका कहते हैं। किसी वस्तु-विशेष के किसी विशेष धर्म में संशय होना 'देश-विषय' शंका है, जैसे—आत्मा है, किन्तु वह सर्वव्यापी है, अणुपरिमाण है या देहपरिमाण ?

२. अन्य दर्शनों को स्वीकार करने की इच्छा होना 'कांक्षा दोष' कहलाता है। इसके भी शंका की तरह दो भेद हैं।

३. धर्म के फल में अविश्वास करना 'विचिकित्सा' है। मुनियों के मलीन तन को देखकर घृणा करना भी विचिकित्सा है।

४. मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना 'मिथ्यादृष्टि-प्रशंसा' दोष कहलाता है।

५. मिथ्या दृष्टियों के साथ निरन्तर निवास करना, वार्त्तालाप करना, घनिष्ट परिचय करना 'मिथ्यादृष्टि-संस्तव' दोष है। ऐसा करने से, सम्यक्त्व के दूषित होने की संभावना रहती है, अतः यह 'सम्यक्त्व' का दोष है।

पाँच अणुव्रत

विरतिं स्थूलहिंसादेर्द्विविधत्रिविधादिना।
अहिंसादीनि पञ्चाणुव्रतानि जगदुर्जिनाः ॥ १८ ॥

दो करण, तीन योग आदि से स्थूल हिंसा आदि दोषों के त्याग को जिनेन्द्र देव ने अहिंसा आदि पाँच अणुव्रत कहे हैं।

टिप्पण—यहाँ हिंसा और अहिंसा के साथ जोड़े हुए आदि पद से यह समझना चाहिए कि स्थूल असत्य का त्याग करना 'सत्याणुव्रत' है, स्थूल स्तेय का त्याग करना 'अचौर्याणुव्रत' है, स्थूल मैथुन का त्याग करना; अर्थात् पर-स्त्री और पर-पुरुष के साथ काम-सेवन का त्याग करना 'ब्रह्मचर्याणुव्रत' है और परिग्रह की मर्यादा करना 'परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत' है।

मूल श्लोक में 'द्विविध-त्रिविध' के साथ जो 'आदि' पद लगाया गया है, उसका आशय यह है कि सभी गृहस्थ एक ही प्रकार से हिंसा आदि का त्याग नहीं करते, किन्तु अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कोई किसी प्रकार से और कोई किसी प्रकार से त्याग करता है। द्विविध का अर्थ है—दो करण से और त्रिविध का अर्थ है तीन—योगों से।

स्वयं करना, दूसरे से कराना और करने वाले का अनुमोदन करना, यह 'तीन करण' हैं। मन, वचन और काय, यह 'तीन योग' हैं।

स्थूल हिंसा आदि को त्यागने के गृहस्थों के प्रकार प्रायः यह हैं—
१. दो करण-तीन योग से, २. दो करण-दो योग से, ३. दो करण-

एक योग से, ४. एक करण-तीन योग से, ५. एक करण-दो योग से और ६. एक करण-एक योग से।

कोई गृहस्थ अवस्था-विशेष में तीन करण और तीन योग से भी त्याग करता है, किन्तु साधारण तौर पर नहीं। मतलब यह है कि गृहस्थ अपनी सुविधा, शक्ति और परिस्थिति के अनुसार स्थूल हिंसा आदि दोषों का त्याग करता है।

जिस हिंसा को मिथ्या-दृष्टि भी हिंसा समझते हैं वह—त्रस प्राणियों की हिंसा 'स्थूल हिंसा' कहलाती है।

हिंसा विरति

पंगुकुष्ठिकुणित्वादि, दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः।
निरागस्त्रस जन्तूनां, हिंसां सङ्कल्पतस्त्यजेत् ॥ १६ ॥

पंगुपन, कोढ़ीपन और कुणित्व आदि हिंसा के फलों को देखकर विवेकवान् पुरुष निरपराध त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करे।

टिप्पण—लोक में अनेक व्यक्ति लूले-लंगड़े, कई कोढ़ी और कई टोंटे देखे जाते हैं। यह सब हिंसा के प्रत्यक्ष फल हैं। इन्हें देखकर बुद्धिमान मनुष्य पूर्ण हिंसा का त्याग न कर सके तब भी मारने की बुद्धि से निरपराध त्रस जीवों की हिंसा का अवश्य त्याग करे।

आत्मवत्सर्वभूतेषु, सुख - दुःखे प्रियाप्रिये।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां, हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥ २० ॥

अपने समान समस्त प्राणियों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय, ऐसा विचार कर मनुष्य को हिंसा का आचरण नहीं करना चाहिए। क्योंकि जैसे अपनी हिंसा अपने को प्रिय नहीं है, उसी प्रकार दूसरों को भी अपनी हिंसा प्रिय नहीं हो सकती।

निरर्थिकां न कुर्वीत जीवेषु स्थावरेष्वपि।
हिंसामहिंसाधर्मज्ञः, काङ्क्षन्मोक्षमुपासकः ॥ २१ ॥

अहिंसा धर्म का ज्ञाता और मुक्ति की अभिलाषा रखने वाला श्रावक स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा न करे।

टिप्पण—पहले त्रस जीवों की हिंसा का निषेध किया गया है, उससे यह न समझ लिया जाय कि स्थावर जीवों की हिंसा के विषय में श्रावक के लिए कोई मर्यादा नहीं है। शरीर-निर्वाह और कुटुम्ब के पालन-पोषण की दृष्टि से ही गृहस्थ के लिए स्थावर जीवों की हिंसा का अनिवार्य निषेध नहीं किया गया है। इससे यह फलित होता है कि जो स्थावर हिंसा शरीर-निर्वाह आदि के लिए आवश्यक नहीं है, श्रावक को उसका त्याग करना चाहिए।

प्राणी प्राणित-लोभेन, यो राज्यमपि मुञ्चति।
तद्वधोत्थमघं सर्वोर्वी-दानेऽपि न शाम्यति ॥२२॥

जो प्राणी अपने जीवन के लोभ से राज्य का भी परित्याग कर देता है, उसके वध से उत्पन्न होने वाला पाप सम्पूर्ण पृथ्वी का दान करने पर भी शान्त नहीं हो सकता।

टिप्पण—भूमिदान सब दानों में श्रेष्ठ है, ऐसी लोक मान्यता है। उसी को लक्ष्य करके यहाँ बतलाया गया है कि हिंसा के पाप को समस्त भूमंडल का दान भी नष्ट नहीं कर सकता, अर्थात् हिंसा का पाप सब से बड़ा पाप है।

हिंसक की निन्दा

वने निरपराधानां, वायुतोयतृणाशिनाम्।
निघ्नन् मृगाणां मांसार्थी, विशिष्येत कथं शुनः? ॥२३॥
दीर्यमाणः कुशेनापि यः स्वांगे हन्त दूयते।
निर्मन्तून् स कथं, जन्तूनन्तयेन्निशितायुधैः ॥२४॥
निर्मातुं क्रूरकर्माणः, क्षणिकामात्मनो धृतिम्।
समापयन्ति सकलं, जन्मान्यस्य शरीरिणः ॥२५॥

म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि, देही भवति दुःखितः ।
मार्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः, स कथं भवेत् ॥२६॥

वन में निवास करने वाले, किसी का कुछ अपराध न करने वाले, हवा-पानी और घास खाकर जीवन निर्वाह करने वाले मृगों की घात करने वाला मांसार्थी पुरुष कुत्ते से किस बात में बड़ा है ? वस्तुतः उसमें और कुत्ते में कोई अन्तर नहीं है ।

दूब की नोंक से भी अपना अंग विदारण करने पर जिसे पीड़ा का अनुभव होता है । अरे ! वही मनुष्य तीखे शस्त्रों से निरपराध प्राणियों का वध कैसे करता है ?

क्रूरकर्मी लोग अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए दूसरे प्राणी के सम्पूर्ण जीवन को समाप्त कर देते हैं ।

'तुम मर जाओ', ऐसा कहने पर भी मनुष्य को दुःख का अनुभव होता है । ऐसी स्थिति में भयानक शस्त्रों से हत्या करने पर उस बेचारे प्राणी की हालत कैसी होती होगी ?

हिंसा का फल

श्रूयते प्राणिघातेन, रौद्रध्यानपरायणौ ।
सुभूमो ब्रह्मदत्तश्च, सप्तमं नरकं गतौ ॥ २७ ॥

आगम में प्रसिद्ध है कि जीव-हिंसा के द्वारा रौद्रध्यान में तत्पर सुभूम और ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती सातवें नरक के अतिथि बने !

हिंसा की निन्दा

कुणिर्वरं वरं पंगुरशरीरी वरं पुमान् ।
अपि सम्पूर्णसर्वाङ्गो, न तु हिंसापरायणः ॥ २८ ॥

हिंसा से विरक्त लूला-लंगड़ा एवं हाथों से रहित तथा कोढ़ आदि रोग से युक्त व्यक्ति भी श्रेष्ठ है । परन्तु, हिंसा करने वाला सर्वाङ्ग-सम्पन्न होकर भी श्रेष्ठ नहीं है ।

हिंसा विघ्नाय जायेत, विघ्नशान्त्यै कृताऽपि हि ।
कुलाचारधियाऽप्येषा, कृता कुलविनाशिनी ॥ २९ ॥

विघ्नों को शान्त करने के प्रयोजन से की हुई हिंसा भी विघ्नों को ही उत्पन्न करती है और कुल के आचार का पालन करने की बुद्धि से भी की हुई हिंसा-कुल का विनाश कर देती है।

अपि वंशक्रमायातां, यस्तु हिंसां परित्यजेत् ।
स श्रेष्ठः सुलस इव, कालसौकरिकात्मजः ॥ ३० ॥

जो मनुष्य वंश परम्परा से चली आ रही हिंसा का त्याग कर देता है, वह कालसौकरिक के पुत्र सुलस की भाँति अत्यन्त प्रशंसनीय होता है।

दमो देव - गुरूपास्तिर्दानमध्ययनं तपः ।
सर्वमप्येतदफलं, हिंसां चेन्न परित्यजेत् ॥ ३१ ॥

यदि कोई मनुष्य हिंसा का परित्याग नहीं करता है तो उसका इन्द्रिय-दमन, देवोपासना, गुरु-सेवा, दान, अध्ययन और तप—यह सब निष्फल है।

हिंसा के उपदेशक

विश्वस्तो मुग्धधीर्लोकः, पात्यते नरकावनौ ।
अहो नृशंसैर्लोभान्धैर्हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥ ३२ ॥

खेद है कि हिंसामय शास्त्रों के [illegible] निर्दय और लोभातुर उपदेशकों ने अपने ऊपर विश्वास करने वाले मूढ़ लोगों को नरक के महागर्त में गिरा दिया।

हिंसक शास्त्रों का विधान

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः, स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य, तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ।। ३३ ।।

प्रजापति ब्रह्मा ने स्वयं ही यज्ञ के लिए पशुओं की सृष्टि की है। यज्ञ इस समस्त जगत् की विभूति के लिए किया जाता है। अतः यज्ञ में होने वाली हिंसा, हिंसा नहीं है।

टिप्पण—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात् वेद में जिस हिंसा का विधान किया गया है, वह हिंसा—हिंसा नहीं है, यह याज्ञिक लोगों का मन्तव्य है। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि यज्ञ के लिए मारे हुए प्राणी स्वर्ग प्राप्त करते हैं। मारने वाले और मरने वाले को भी जब स्वर्ग प्राप्त होता है, तब वह हिंसा त्याज्य कैसे हो सकती है? इसका स्पष्टीकरण आगे किया गया है।

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः, प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितिं पुनः ।। ३४ ।।

जो दूर्वा आदि ओषधियाँ, बकरा आदि पशु यूप आदि वृक्ष, गाय और घोड़ा आदि तिर्यञ्च और कपिञ्जल आदि पक्षी—यज्ञ के निमित्त मारे जाते हैं, वे देव आदि ऊँची योनियों को प्राप्त होते हैं।

मधुपर्के च यज्ञे च, पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या, नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ।। ३५ ।।

मधुपर्क में, यज्ञ में, पितृकर्म में और देवकर्म में ही पशुओं की हिंसा करनी चाहिए, इनके सिवाय दूसरे प्रसंगों पर नहीं करनी चाहिए। ऐसा मनु ने विधान किया है।

एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्, वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः ।
आत्मानं च पशूंश्चैव, गमयत्युत्तमां गतिम् ।। ३६ ।।

इन पूर्वोक्त प्रयोजनों के लिए पशुओं की हिंसा करने वाला, वेद के मर्म का ज्ञाता द्विज—ब्राह्मण अपने आपको और उन मारे जाने वाले पशुओं को उत्तम गति में ले जाता है। ऐसा मनु का कथन है।

नास्तिक से अधम

ये चक्रुः क्रूरकर्माणः शास्त्रं हिंसोपदेशकम्।
क्व ते यास्यन्ति नरके, नास्तिकेभ्योऽपि नास्तिकाः ॥३७॥

जिन क्रूरकर्मा ऋषियों ने हिंसा का उपदेश करने वाले ग्रन्थ बनाये हैं, वे नास्तिकों से भी नास्तिक हैं और ये अधम लोग न जाने किस नरक में जाएँगे ?

वरं वराकश्चार्वाको, योऽसौ प्रकट-नास्तिकः।
वेदोक्तितापसच्छद्मच्छन्नं, रक्षो न जैमिनिः ॥ ३८ ॥

इनसे चार्वाक ही अच्छा है, जो प्रकट रूप से नास्तिक है। वह जैसा है, वैसा ही अपने को प्रकट भी करता है। किसी को धोखा नहीं देता। किन्तु वेद की वाणी और तापसों के वेष में अपनी वास्तविकता को छिपाने वाला जैमिनि चार्वाक से भी ज्यादा खतरनाक है ! यह तो वेद के नाम पर हिंसा का विधान करके भोले लोगों को भ्रम में डालता है।

देवोपहारव्याजेन, यज्ञव्याजेन येऽथवा।
घ्नन्ति जन्तून् गत-घृणा, घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् ॥३९॥

भैरों-भवानी आदि देवों को बलि चढ़ाने के बहाने से अथवा यज्ञ के बहाने से, जो निर्दय लोग प्राणियों की हिंसा करते हैं, वे नरक आदि घोर दुर्गतियों को प्राप्त होते हैं।

टिप्पण—देव-पूजा के लिए या यज्ञ के लिए जीव हिंसा की आवश्यकता नहीं है। यह कार्य तो दूसरे प्रकार से भी हो सकते हैं। फिर भी जो इनको उद्देश्य करके त्रस जीवों की हिंसा करते हैं, वे देव-पूजा और यज्ञ का बहाना मात्र करते हैं। वस्तुतः वे अपनी

मांस-लोलुपता की अभिलाषा को ही पूर्ण करते हैं। इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए यहाँ 'व्याज'—बहाना शब्द दो बार दिया गया है।

शमशीलदयामूलं हित्वा, धर्मं जगद्धितम्।
अहो हिंसाऽपि धर्माय, जगदे मन्द-बुद्धिभिः ॥ ४० ॥

शम—कषायों और इन्द्रियों पर विजय और शील—दया और प्राणियों की अनुकम्पा, यह सब जिसके मूल हैं और जो प्राणीमात्र का हितकारी है, ऐसे धर्म का परित्याग करके मन्द-बुद्धि जनों ने हिंसा को भी धर्म का साधन कहा है!

श्राद्ध की हिंसा

परपक्ष का कथन

हविर्यच्चिररात्राय, यच्चानन्त्याय कल्पते।
पितृभ्यो विधिवद्दत्तं, तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ४१ ॥

पितरों को विधिपूर्वक दी हुई हवि या दिया हुआ श्राद्ध-भोजन दीर्घकाल तक उनको तृप्ति प्रदान करता है और कोई अनन्तकाल तक तृप्ति देता है। वह सब मैं पूर्ण रूप से कहूँगा।

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा।
दत्तेन मासं प्रीयन्ते, विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ ४२ ॥

पितरों को विधिपूर्वक तिल, व्रीहि, यव, उड़द, जल और मूल-फल देने से एक मास तक तृप्ति होती है। इन वस्तुओं से श्राद्ध किया जाय तो मृत पितर एक महीने तक तृप्त रहते हैं।

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन, त्रीन् मासान् हारिणेन तु।
औरभ्रेणाथ चतुरः, शाकुनेनेह पञ्च तु ॥ ४३ ॥

इसी प्रकार मत्स्य के मांस से दो मास तक, हिरण के मांस से तीन मास तक, मेढ़े के मांस से चार मास तक और पक्षियों के मांस से पाँच महीने तक पितरों की तृप्ति रहती है।

षण्मासांश्छाग-मांसेन, पार्षतेनेह सप्त वै।
अष्टावेणस्य मांसेन, रौरवेण नवैव तु ॥ ४४ ॥
दशमासांस्तु तृप्यन्ति, वराहमहिषामिषैः।
शशकूर्मयोर्मांसेन, मासानेकादशैव तु ॥ ४५ ॥
संवत्सरं तु गव्येन, पयसा पायसेन तु।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन, तृप्तिर्द्वादश वार्षिकी ॥ ४६ ॥

बकरे के मांस से छह माह तक, पृषत के मांस से सात मास तक, एण के मांस से आठ मास तक और रुरु के मांस से नौ मास तक पितर तृप्त रहते हैं। यहाँ पृषत, एण और रुरु मृगों की अलग-अलग जातियाँ हैं।

वराह—जंगली शूकर एवं भैंसा के मांस से दस मास तक और शशक तथा कछुवे के मांस से ग्यारह महीने तक पितर तृप्त रहते हैं।

गौ के दूध से, खीर से और बूढ़े बकरे के मांस से बारह वर्ष के लिए पितरों की तृप्ति हो जाती है।

टिप्पण—यहाँ ४१ से ४६ तक के श्लोकों में पितरों के निमित्त की जाने वाली हिंसा के प्ररूपक शास्त्रों का मत प्रदर्शित किया है। यह श्लोक भी उन्हीं शास्त्रों के हैं। यहाँ जो कुछ कहा है, वह स्पष्ट ही है। अब स्वयं शास्त्रकार इस मन्तव्य का खण्डन करते हैं।

इति स्मृत्यनुसारेण, पितृणां तर्पणाय या।
मूढैर्विधीयते हिंसा, साऽपि दुर्गतिहेतवे ॥ ४७ ॥

इस पूर्वोक्त स्मृति के अनुसार पितरों की तृप्ति के लिए, मूढ़ जनों के द्वारा की जाने वाली हिंसा भी नरक आदि दुर्गतियों का ही कारण है। तात्पर्य यह है कि भले ही हिंसा शास्त्र की आज्ञा के अनुसार की गई हो या उसका उद्देश्य पितरों का तर्पण करना हो, फिर भी वह पाप रूप ही है। उससे दुर्गति के अतिरिक्त सुगति प्राप्त नहीं हो सकती।

अहिंसक को भय नहीं

यो भूतेष्वभयं दद्याद्, भूतेभ्यस्तस्य नो भयम् ।
यादृग्वितीर्यते दानं, तादृगासाद्यते फलम् ।। ४८ ।।

जो मनुष्य प्राणियों को अभयदान देता है, उसे उन प्राणियों की ओर से भय नहीं रहता है। जैसा दान दिया जाता है, उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होती है।

कोदण्डदण्डचक्रासि - शूलशक्तिधराः सुराः ।
हिंसका अपि हा कष्टं, पूज्यन्ते देवताधिया ।। ४९ ।।

धनुष, दण्ड, चक्र, खड्ग, त्रिशूल और शक्ति को धारण करने वाले हिंसक देवों को भी लोग देव समझ कर पूजते हैं। इससे अधिक खेद की बात क्या हो सकती है ?

टिप्पण—हिंसा की भावना के अभाव में शस्त्र धारण नहीं किये जाते। अतः जो शस्त्रधारी है, वह हिंसक होना ही चाहिए। जो देव शस्त्रधारक हैं, उन्हें देव समझ कर पूजना बड़े खेद की बात है !

राम धनुषधारी हैं, यम दंडधारी है, विष्णु चक्र एवं खड्ग-धारी हैं, शिव त्रिशूलधारी हैं और कुमार शक्ति-शस्त्र को धारण करते हैं !

यहाँ शस्त्रों के थोड़े नामों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त जो देव जिस किसी भी शस्त्र का धारक है, वह सब यहाँ समझ लेना चाहिए। शस्त्रधारी देवी-देवताओं की कल्पना हिंसाप्रिय लोगों की कल्पना है।

अहिंसा की महिमा

मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी ।
अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारणिः ।। ५० ।।
अहिंसा दुःखदावाग्नि-प्रावृषेण्य घनावली।
भवभ्रमिरुगार्त्तानामहिंसा परमौषधी ।। ५१ ।।

अहिंसा माता के समान समस्त प्राणियों का हित करने वाली है। अहिंसा संसार रूपी मरुस्थल में अमृत की नहर है। अहिंसा दुःख रूपी दावानल को विनष्ट करने के लिए वर्षाकालीन मेघों की घनघोर घटा है। अहिंसा भव-भ्रमण रूपी रोग से पीड़ित जनों के लिए उत्तम औषध है।

टिप्पण—हिंसा विष और अहिंसा अमृत है। हिंसा मृत्यु और अहिंसा जीवन है। अहिंसा के आधार पर ही जगत् का टिकाव है। अहिंसा का अभाव जगत् में महाप्रलय उपस्थित कर सकता है। संसार में जो थोड़ा-बहुत सुख और शान्ति है, तो वह अहिंसा माता का ही प्रभाव है। अहिंसा ही सुख-शान्ति का मूल है।

अहिंसाव्रत का फल

दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता।
अहिंसायाः फलं सर्वं, किमन्यत्कामदैव सा ॥ ५२ ॥

दीर्घ आयु, श्रेष्ठ रूप, नीरोगता एवं प्रशंसनीयता—यह सब अहिंसा के ही फल हैं। वस्तुतः अहिंसा सभी मनोरथों को सिद्ध करने वाली कामधेनु है।

टिप्पण—मनुष्य अन्य प्राणियों की आयु का विनाश न करने के कारण इस जन्म में दीर्घ आयु पाता है, दूसरे के रूप को नष्ट न करने के फलस्वरूप प्रशस्त रूप प्राप्त करता है, अन्य को अस्वस्थता उत्पन्न न करने से नीरोगता पाता है और अभयदान देने के कारण प्रशंसा का पात्र बनता है। दुनिया में कोई ऐसा मनोरथ नहीं है, जो अहिंसा के द्वारा पूर्ण न हो सके!

असत्य का फल

मन्मनत्वं काहलत्वं, मूकत्वं मुखरोगिताम्।
वीक्ष्यासत्यफलं कन्यालीकाद्यसत्यमुत्सृजेत् ॥ ५३ ॥

मन ही मन में बोलना—दूसरों को मन की बात कहने की शक्ति का न होना 'मन्मनत्व' दोष है। जीभ के लथड़ा-लड़खड़ाजाने से स्पष्ट उच्चारण करने का सामर्थ्य न होना 'काहलत्व' दोष है। वचनों का उच्चारण ही न कर सकना 'मूकत्व' दोष है। मुख में विभिन्न प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न हो जाना 'मुखरोगिता' दोष कहलाता है। यह सब असत्य भाषण करने के फल हैं। इन फलों को देखकर श्रावक को कन्यालीक आदि स्थूल असत्य भाषण का त्याग करना चाहिए।

असत्य के भेद

कन्यागोभूम्यलीकानि, न्यासापहरणं तथा।
कूटसाक्ष्यञ्च पञ्चेति, स्थूलासत्यान्यकीर्त्तयन् ॥ ५४ ॥

जिनेन्द्र देव ने १. कन्यालीक, २. गो-अलीक, ३. भूमि-अलीक, ४. न्यासापहार और ५. कूट-साक्षी; यह पाँच स्थूल असत्य कहे हैं।

टिप्पण—कन्या के सम्बन्ध में मिथ्या भाषण करना 'कन्यालीक' कहलाता है, जैसे—सुरूप को कुरूप कहना। गाय के विषय में असत्य बोलना 'गो-अलीक' कहलाता है, जैसे—थोड़ा दूध देने वाली गाय को बहुत दूध देने वाली कहना या बहुत दूध देने वाली को थोड़ा दूध देने वाली कहना। भूमि के विषय में मिथ्या भाषण करना 'भूम्यलीक' है, जैसे—पराई जमीन को अपनी कहना या अपनी को पराई कह देना। दूसरे की धरोहर—अमानत को हजम कर जाना 'न्यासापहार' कहलाता है। कचहरी या पंचायत आदि में झूठी साक्षी देना 'कूट-साक्षी' है। इस तरह यह पाँच प्रकार का स्थूल असत्य है।

यहाँ 'कन्या', 'गो' और 'भूमि' शब्द उपलक्षण मात्र हैं। अतः इन शब्दों से इनके समान अन्य पदार्थों का भी ग्रहण समझना चाहिए जैसे—'कन्या' शब्द से लड़का, स्त्री, पुरुष आदि समस्त द्विपदों—दो पैर वालों का ग्रहण होता है। 'गो' शब्द से बैल, भैंस आदि सब चतुष्पदों को समझना

चाहिए और 'भूमि' शब्द से वृक्ष आदि भूमि से पैदा होने वाले सब अपद द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए।

इस स्पष्टीकरण का तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी द्विपद के विषय में मिथ्या भाषण करना 'कन्यालीक', किसी भी चतुष्पद के विषय में मिथ्या भाषण करना 'गो-अलीक' और किसी भी अपद के विषय में असत्य बोलना 'भूमि-अलीक' कहलाता है।

प्रश्न—ऐसा अर्थ है तो कन्या, गो और भूमि के बदले क्रमशः द्विपद, चतुष्पद एवं अपद शब्दों का ही व्यवहार क्यों नहीं किया गया ?

उत्तर—लोक में कन्या, गाय और भूमि के सम्बन्ध में झूठ बोलना अत्यन्त निन्दनीय समझा जाता है। इसलिए लोक-प्रसिद्धि के अनुसार 'कन्या' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। फिर भी इन शब्दों का व्यापक अर्थ ही लेना चाहिए।

> सर्वलोकविरुद्धं यद्यद्विश्वसितघातकम्।
> यद्विपक्षश्च पुण्यस्य, न वदेत्तदसूनृतम् ॥ ५५ ॥

कन्यालीक, गो-अलीक और भूमि-अलीक—लोक से विरुद्ध हैं। न्यासापहार—विश्वासघात का जनक है और कूटसाक्षी—पुण्य का नाश करने वाली है। अतः श्रावक को स्थूलमृषावाद नहीं बोलना चाहिए।

असत्य का परित्याग

> असत्यतो लघीयस्त्वमसत्याद्वचनीयता।
> अधोगतिरसत्याच्च, तदसत्यं परिवर्जयेत् ॥ ५ ॥

> असत्यवचनं प्राज्ञः, प्रमादेनापि नो वदेत्।
> श्रेयांसि येन भज्यन्ते, वात्ययेव महाद्रुमाः ॥ ५७ ॥

> असत्यवचनाद् - वैरविषादाप्रत्ययादयः।
> प्रादुःषन्ति न के दोषाः, कुपथ्याद् व्याधयो यथा ॥५८॥

असत्य भाषण करने से लोग उसे तुच्छ दृष्टि से देखने लगते हैं। असत्य बोलने से मनुष्य निन्दा का पात्र बनता है, बदनाम हो जाता है। असत्य भाषण से अधोगति की प्राप्ति होती है। अतः ऐसे अनर्थकर असत्य का परित्याग करना ही श्रेष्ठ है।

क्रोध या लोभ आदि के आवेश में आकर असत्य बोलने की बात तो दूर रही, विवेकवान् पुरुष को प्रमाद से—असावधानी, संशय या अज्ञान से भी असत्य नहीं बोलना चाहिए। जैसे आँधी से बड़े-बड़े पेड़ गिर जाते हैं, उसी प्रकार असत्य से कल्याण का नाश होता है।

जैसे कुपथ्य के सेवन से व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उसी प्रकार असत्य वचन से वैर-विरोध, विषाद-पश्चात्ताप और अविश्वास आदि कौन-कौन से दोष उत्पन्न नहीं होते? मिथ्या भाषण करने से सभी दोषों की उत्पत्ति हो जाती है।

निगोदेष्वथ तिर्यक्षु, तथा नरकवासिषु।
उत्पद्यन्ते मृषावाद-प्रसादेन शरीरिणः ॥५९॥

असत्य भाषण के प्रसाद से जीव निगोद में, तिर्यञ्च गति में तथा नारकों में उत्पन्न होते हैं।

टिप्पण—पहले असत्य भाषण का इसी लोक में होने वाला फल बतलाया गया था। यहाँ उसका पारलौकिक फल दिखलाया गया है।

सत्य और असत्य-भाषी

ब्रूयाद् भियोपरोधाद्वा, नासत्यं कलिकार्यवत्।
यस्तु ब्रूते स नरकं, प्रयाति वसुराजवत् ॥६०॥

कालिकाचार्य की तरह मृत्यु आदि के भय से या शील-संकोच के कारण भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिए। जो इन कारणों से असत्य भाषण करता है, वह नरक गति को प्राप्त करता है।

पर-पीड़ाकारी वचन

न सत्यमपि भाषेत, पर-पीडाकरं वचः।
लोकेऽपि श्रूयते यस्मात् कौशिको नरकं गतः ॥६१॥

जो वचन लोक में भले ही सत्य कहलाता हो, किन्तु दूसरे को पीड़ा उत्पन्न करने वाला हो, वह भी नहीं बोलना चाहिए। लोक में भी सुना जाता है कि ऐसा वचन बोलने से कौशिक नरक में गया।

टिप्पण—कौशिक नामक एक तापस अपने आश्रम में रहता था। एक बार कुछ चोर उसके आश्रम के समीप वन में छिप गए। कौशिक सन्यासी ने उन्हें वन में प्रवेश करते देखा था। चोरों ने जिस गाँव में चोरी की थी, वहाँ के लोग तापस के पास आये। उन्होंने आकर पूछा—महात्मन्! आपको ज्ञात है कि चोर किस ओर गए हैं? धर्मतत्त्व से अनभिज्ञ तापस ने चोरों को बतला दिया। तापस के कहने पर शस्त्र-सज्जित ग्रामीणजनों ने वहाँ पहुँच कर चोरों को मार डाला।

इस प्रकार जो वचन तथ्य होने पर भी पीड़ाकारी हो, वह भी असत्य में ही परिगणित है। कौशिक तापस ऐसे वचन बोलकर आयु पूर्ण होने पर नरक में उत्पन्न हुआ।

अल्प असत्य भी त्याज्य

अल्पादपि मृषावादाद्रौरवादिषु सम्भवः।
अन्यथा वदतां जैनीं वाचं त्वहह का गतिः? ॥६२॥

लोक सम्बन्धी अल्प असत्य बोलने से भी रौरव एवं महारौरव आदि नरकों में उत्पत्ति होती है, तो जिनवाणी को अन्यथा रूप में बोलने वालों की, क्या गति होगी? उन्हें तो नरक से भी अधिक अधम गति प्राप्त होती है।

सत्यवादी की प्रशंसा

ज्ञान-चारित्रयोर्मूलं, सत्यमेव वदन्ति ये ।
धात्री पवित्रीक्रियते, तेषां चरण-रेणुभिः ।।६३।।

जो सत्पुरुष ज्ञान और चारित्र के कारणभूत सत्य वचन ही बोलते हैं, उनके चरणों की रज पृथ्वी को पावन बनाती है ।

सत्यवादी का प्रभाव

अलीकं ये न भाषन्ते, सत्यव्रतमहाधनाः ।
नापराद्धुमलं तेभ्यो - भूतप्रेतोरगादयः ।।६४।।

सत्यव्रत रूप महाधन से युक्त महापुरुष मिथ्या भाषण नहीं करते हैं । अतः भूत, प्रेत, सर्प, सिंह, व्याघ्र आदि उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते हैं ।

टिप्पण—सत्य के प्रचण्ड प्रभाव से भूत-प्रेत आदि भी प्रभावित हो जाते हैं । सत्य के सामने उनकी भी नहीं चलती ।

अदत्तादान का फल

दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमङ्गच्छेदं दरिद्रताम् ।
अदत्तात्तफलं ज्ञात्वा, स्थूलस्तेयं विवर्जयेत् ।।६५।।

अदत्तादान के अनेक फल हैं । जैसे—अदत्तादान करने वाला आगे चलकर अभागा होता है, उसे दूसरों की गुलामी करनी पड़ती है, दास होना पड़ता है, उसके अंगोपांगों का छेदन किया जाता है और वह अतीव दरिद्र होता है । इन फलों को जानकर श्रावक स्थूल अदत्तादान का त्याग करे ।

टिप्पण—जिस वस्तु का जो न्यायतः स्वामी है, उसके द्वारा दी हुई वस्तु को लेना दत्तादान कहलाता है और उसके विना दिए उसकी वस्तु

ग्रहण करना 'अदत्तादान' है। अदत्तादान का त्याग महाव्रत भी है और अणुव्रत भी है। घास का तिनका, रास्ते का कंकर और धूल भी बिना दिए ग्रहण न करना—अदत्तादान-विरमण महाव्रत है। इसका पालन मुनिजन ही करते हैं।

श्रावकों के लिए स्थूल अदत्तादान के त्याग का विधान है। जिस अदत्तादान—चोरी को करने से व्यक्ति लोक में 'चोर' कहलाता है, जिसके कारण राजदण्ड मिलता है और लोकनिन्दा होती है, वह स्थूल अदत्तादान कहलाता है। श्रावक के लिए ऐसा अदत्तादान अवश्य ही त्याज्य है।

अदत्तादान का परिहार

पतितंविस्मृतं नष्टं, स्थितं स्थापितमाहितम्।
अदत्तं नाददीत स्वं, परकीयं क्वचित् सुधीः ॥६६॥

किसी की कोई वस्तु सवारी आदि से गिर पड़ी हो, कोई कहीं रखकर भूल गया हो, गुम हो गई हो, स्वामी के पास रखी हो, तो उसे उसकी अनुमति के बिना बुद्धिमान् पुरुष, किसी भी परिस्थिति में—कैसा भी संकट क्यों न आ पड़ा हो, उसे ग्रहण न करे।

चौर्य-कर्म की निन्दा

अयं लोकः परलोको, धर्मो धैर्यं धृतिर्मतिः।
मुष्णता परकीयं स्वं, मुषितं सर्वमप्यदः ॥६७॥

जो पराये धन का अपहरण करता है, वह अपने इस लोक को, परलोक को, धर्म को, धैर्य को, स्वास्थ्य को और हिताहित के विवेक को हरण करता है। दूसरे के धन को चुराने से इस लोक में निन्दा होती है, परलोक में दुःख का संवेदन करता है, धर्म एवं धीरज का और सन्मति का नाश हो जाता है।

चौर्य-कर्म महापाप है

> एकस्यैकं क्षणं दुःखं, मार्यमाणस्य जायते ।
> सपुत्र-पौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने ॥६८॥

मारे जाने वाले जीव को, अकेले को और एक क्षण के लिए दुःख होता है। किन्तु जिसका धन हरण कर लिया जाता है, उसे और उसके पुत्र एवं पौत्र को जीवन भर के लिए दुःख होता है।

टिप्पण—प्राण हरण करने पर जिसके प्राण हरण किए जाते हैं, उसी को कष्ट होता है, दूसरों को नहीं। पर, धन हरण करने पर धन के स्वामी को भी कष्ट होता है और उसके पुत्रों एवं पौत्रों को भी कष्ट होता है। और मृत्यु के समय क्षण भर ही दुःख का संवेदन होता है, परन्तु धन का अपहरण करने पर धनवान् को जिन्दगी भर दुःख बना रहता है। इन दो कारणों से अदत्तादान, हिंसा से भी बड़ा पाप है।

चोरी का फल

> चौर्य्यपाप-द्रुमस्येह, वध-बन्धादिकं फलम् ।
> जायते परलोके तु, फलं नरक-वेदना ॥६९॥

चोरी के पाप रूप पादप के फल दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—१. इहलोक सम्बन्धी, २. और परलोक सम्बन्धी। चोरी से इस लोक में वध, बन्धन आदि फल प्राप्त होते हैं और परलोक में नरक की भीषण वेदना का संवेदन करना पड़ता है।

> दिवसे वा रजन्यां वा, स्वप्ने वा जागरेऽपि वा ।
> सशल्य इव चौर्येण, नैति स्वास्थ्यं नरः क्वचित् ॥७०॥

चौर्य कर्म करने के कारण मनुष्य कहीं भी स्वस्थ-निश्चिन्त नहीं रह पाता। दिन में और रात में, सोते समय और जागते समय, सदा-सर्वदा वह सशल्य—चौर्य-कर्म की चुभन से बेचैन ही बना रहता है।

मित्रपुत्रकलत्राणि, भ्रातरः पितरोऽपि हि ।
संसजन्ति क्षणमपि, न म्लेच्छैरिव तस्करैः ॥७१॥

चोरी करने वाले के मित्र, पुत्र, पत्नी, भाई-बंधु और पिता आदि स्वजन भी उससे मिलना पसंद नहीं करते। जैसे अनार्य से कोई नहीं मिलता, उसी प्रकार चोर से भी कोई नहीं मिलना चाहता।

टिप्पण—चोरी करने वाला दूसरों की दृष्टि में तो गिर ही जाता है, परन्तु अपने आत्मीय जनों की निगाह में भी गिर जाता है। चोर का संसर्ग करना भी पाप है, ऐसा समझ कर उसके कुटुम्बी भी उससे दूर रहने में ही अपना कल्याण समझते हैं। वे उसे म्लेच्छ के समान समझते हैं।

नीति में चोर का संग करना भी महापाप माना है।

ब्रह्महत्या सुरापानं, स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुस्तत्संसर्गञ्च पञ्चमम् ॥

ब्रह्म-हत्या, मदिरा-पान, चोरी और गुरु की पत्नी के साथ गमन करना, यह महापातक हैं और इन पातकों को करने वालों से संसर्ग रखना पाँचवाँ महापाप है।

संबन्ध्यपि निगृह्येत चौर्यान्मण्डूकवन्नृपैः ।
चौरोऽपित्यक्त चौर्यःस्यात्स्वर्गभाग्रौहिणेयवत् ॥७२॥

राजा चोरी करने अपने सम्बन्धी को भी दंडित करते हैं और चोर भी चोरी का त्याग करके, रौहिणेय की तरह स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है।

दूरे परस्य सर्वस्वमपहर्त्तुमुपक्रमः ।
उपाददीत नादत्तं तृणमात्रमपि क्वचित् ॥७३॥

दूसरे के सर्वस्व का अपहरण करने का प्रयत्न करना तो दूर रहा, स्वामी के बिना दिए एक तिनका भी ग्रहण करना उचित नहीं है।

अचौर्य का फल

परार्थग्रहणे येषां नियमः शुद्धचेतसाम्।
अभ्यायान्ति श्रियस्तेषां स्वयमेव स्वयंवराः ॥७४॥

अनर्था दूरतो यान्ति साधुवादः प्रवर्त्तते।
स्वर्गसौख्यानि ढौकन्ते स्फुटमस्तेयचारिणाम् ॥७५॥

शुद्ध चित्त से युक्त जिन पुरुषों ने पराये धन को ग्रहण करने का त्याग कर दिया है, उनके सामने स्वयं लक्ष्मी, स्वयंवरा की भाँति चली आती हैं। उनके समस्त अनर्थ दूर हो जाते हैं। सर्वत्र उनकी प्रशंसा होती है और उन्हें स्वर्ग के सुख प्राप्त होते हैं।

स्वदार-सन्तोष व्रत

षण्ढत्वमिन्द्रियच्छेदं, वीक्ष्याब्रह्मफलं सुधीः।
भवेत्स्वदारसन्तुष्टोऽन्यदारान् वा विवर्जयेत् ॥७६॥

व्यभिचारी पुरुष परलोक में षण्ढ-नपुंसक होता है और इस लोक में इन्द्रिय-च्छेद आदि दुष्फल भोगता है। इस अनिष्ट फल को देखकर बुद्धिमान् पुरुष स्वदार-सन्तोषी बने अथवा परस्त्री-सेवन का त्याग करे।

टिप्पण—श्रावक के ब्रह्मचर्य-व्रत के सम्बन्ध में कई प्रकार का परम्परा-भेद पाया जाता है। साधारणतया इस व्रत का स्वरूप यह है कि विधिपूर्वक अपनी विवाहित स्त्री के अतिरिक्त अन्य समस्त स्त्रियों के साथ गमन करने का त्याग किया जाए, किन्तु कुछ आचार्य इस व्रत के दो खंड करते हैं—१. स्वस्त्री-सन्तोष और, २. परस्त्रीत्याग।

स्वस्त्री-सन्तोष व्रत का परिपालक श्रावक अपनी पत्नी के अतिरिक्त समस्त स्त्रियों के साथ गमन करने का त्याग करता है, किन्तु परस्त्री

त्याग-व्रत को ग्रहण करने वाला दूसरों की विवाहित स्त्रियों का ही त्याग करता है।

गृहस्थ के व्रतों के लिए, साधुओं के महाव्रतों की तरह, एक निश्चित रूप नहीं है। श्रावक अपनी योग्यता के अनुसार त्याग करता है। अतः उसके त्याग में विविधता है। तथापि चतुर्थ अणुव्रत का ठीक-ठीक प्रयोजन तभी सिद्ध होता है, जब कि वह स्वदार-सन्तोषी बन कर परस्त्री-गमन का परित्याग कर दे। ऐसा करने पर ही उसकी वासना सीमित हो सकती है। परन्तु जिसका हृदय इतना दुर्बल है कि परस्त्री-मात्र का त्याग नहीं कर सकता, उन्हें भी कम से कम, पर-विवाहिता स्त्री से सम्पर्क करने का त्याग तो करना ही चाहिए। इसी दृष्टिकोण से यहाँ चतुर्थ अणुव्रत के दो रूप बताए गए हैं।

मैथुन-निन्दा

रम्यमापातमात्रे यत्, परिणामेऽतिदारुणम्।
किंपाकफलसंकाशं, तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥७७॥

मैथुन प्रारम्भ में तो रमणीय मालूम पड़ता है, किन्तु परिणाम में अत्यन्त भयानक है! वह किंपाक फल के समान है। जैसे किंपाक फल सुन्दर दिखलाई देता है, किन्तु उसके खाने से मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार मैथुन-सेवन ऊपर-ऊपर से रमणीय लगने पर भी आत्मा का घात करने वाला है। कौन विवेकवान् पुरुष ऐसे मैथुन का सेवन करेगा?

टिप्पण—साधारणतया स्त्री और पुरुष का जोड़ा 'मिथुन' कहलाता है। उनकी रति-चेष्टा को 'मैथुन' कहते हैं। किन्तु 'मैथुन' शब्द का वास्तविक अर्थ इतना संकीर्ण नहीं है। वासना को उत्तेजित करने वाली कोई भी काम—राग जनित चेष्टा 'मैथुन' ही कहलाती है, चाहे वह चेष्टा स्त्री-पुरुष के साथ हो, स्त्री-स्त्री के साथ हो, पुरुष-पुरुष के साथ हो या मनुष्य एवं पशु के साथ की जा रही हो।

मैथुन का परिणाम बड़ा ही भयानक होता है। अतः प्रवुद्ध-पुरुष पहले से ही उसके दुष्परिणाम को समझकर उसका परित्याग कर देते हैं।

मैथुन का फल

कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्छा, भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः।
राजयक्ष्मादि रोगाश्च, भवेयुर्मैथुनोत्थिताः ॥७८॥

मैथुन से कम्प—कँप-कँपी, स्वेद—पसीना, श्रम—थकावट, मूर्छा—मोह, भ्रमि—चक्कर आना, ग्लानि—अंगों का टूटना, शक्ति का विनाश, राजयक्ष्मा—क्षय रोग तथा अन्य खांसी, श्वाँस आदि रोगों की उत्पत्ति होती है।

टिप्पण—मैथुन का सेवन करने से वीर्य का विनाश होता है। वीर्य का विनाश होने पर शरीर निर्बल हो जाता है। शरीर की निर्बलता से विविध प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं।

मैथुन में हिंसा

योनियन्त्र-समुत्पन्नाः सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः।
पीड्यमाना विपद्यन्ते, यत्र तन्मैथुनं त्यजेत् ॥७९॥

मैथुन का सेवन करने से योनि रूपी यंत्र में उत्पन्न होने वाले अत्यन्त सूक्ष्म जीवों के समूह पीड़ित होकर विनाश को प्राप्त होते हैं, इसलिए मैथुन का त्याग करना ही उचित है।

काम-शास्त्र का मत

रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा, मृदुमध्याधिशक्तयः।
जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं, जनयन्ति तथाविधाम् ॥ ८० ॥

काम-शास्त्र के प्रणेता आचार्य वात्स्यायन ने भी योनि में सूक्ष्म जन्तुओं का अस्तित्व स्वीकार किया है। वे कहते हैं—रुधिर से उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म जंतु योनि में होते हैं। उनमें से अनेक साधारण शक्ति

वाले, अनेक मध्यम शक्ति वाले और अनेक अधिक शक्ति वाले होते हैं। अधिक शक्तिशाली जन्तु तीव्र खुजली उत्पन्न करते हैं, मध्यम शक्तिशाली मध्यम और अल्प शक्तिशाली अल्प खुजली उत्पन्न करते हैं।

काम-भोग : शान्तिदायक नहीं

स्त्रीसम्भोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति ।
स हुताशं घृताहुत्या, विध्यापयितुमिच्छति ॥ ८१ ॥

जो पुरुष विषय-वासना का सेवन करके काम-ज्वर का प्रतीकार करना चाहता है, वह घी की आहुति के द्वारा आग को बुझाने की इच्छा करता है।

टिप्पण—जैसे घी की आहुति देने से अग्नि बुझती नहीं, बढ़ती है, उसी प्रकार विषय-सेवन से काम-वासना शान्त न होकर, अधिक बढ़ती है। अतः काम का उपशमन करने के लिए काम का सेवन करना विपरीत प्रयास है।

मैथुन के दोष

वरं ज्वलदयस्तम्भ-परिरम्भो विधीयते ।
न पुनर्नरक-द्वार - रामा-जघन-सेवनम् ॥ ८२ ।

आग से तपे हुए लोहे के स्तंभ का आलिंगन करना श्रेष्ठ है, किन्तु विषय-वासना की दृष्टि से स्त्री की जंघाओं का सेवन करना उचित नहीं है, क्योंकि विषय-वासना नरक का द्वार है।

टिप्पण आग से तपे हुए लोह-स्तंभ का आलिंगन करने से क्षणिक वेदना होती है, परन्तु मैथुन-सेवन से जो मोहोद्रेक होता है, वह चिरकाल—जन्म-जन्मान्तर तक घोर वेदना पहुँचाता है। अतः विवेकशील व्यक्ति को सदा उससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

सतामपि हि वामभ्रूर्ददाना हृदये पदम् ।
अभिरामं गुणग्रामं, निर्वासयति निश्चितम् ॥ ८३ ॥

स्त्री (काम-वासना) महात्मा पुरुषों के भी चित्त में स्थान पाकर उनके सुन्दर गुणों को दूर कर देती है। अर्थात् विषय-वासना के सेवन से सद्गुणों का नाश होता है। इतना ही नहीं, बल्कि मन में भी विषय-विकारों एवं काम-भोगों का चिन्तन करने से भी सद्गुणों का नाश होता है।

स्त्री-दोष

वञ्चकत्वं नृशंसत्वं, चञ्चलत्वं कुशीलता।
इति नैसर्गिका दोषा-यासां तासु रमेत कः ?॥ ८४ ॥

प्राप्तुं पारमपारस्य, पारावारस्य पार्यते।
स्त्रीणां प्रकृतिवक्राणां, दुश्चरित्रस्य नो पुनः ॥ ८५ ॥

नितम्बिन्यः पतिं-पुत्रं, पितरं-भ्रातरं क्षणात्।
आरोपयन्त्यकार्येऽपि, दुर्वृत्ताः प्राणसंशये ॥ ८६ ॥

भवस्य बीजं नरकद्वार-मार्गस्य दीपिका।
शुचां कन्दः कलेर्मूलं, दुःखानां खनिरङ्गना ॥ ८७ ॥

जिन स्त्रियों में छल-कपट, कठोरता, चंचलता, स्वभाव की दुष्टता, आदि दुर्गुण स्वाभाविक हैं, उनमें कौन बुद्धिमान् रमण करेगा ?

जिसका किनारा दिखाई नहीं देता, उस समुद्र का किनारा पाया जा सकता है, किन्तु स्वभाव से ही कुटिल स्त्रियों की दुष्ट चेष्टाओं का पार पाना कठिन है।

यौवन के उन्माद से मतवाली बनी हुई दुराचारिणी स्त्रियाँ बिना स्वार्थ अथवा तुच्छ स्वार्थ के लिए अपने पति के, पुत्र के, पिता के और भ्राता के प्राण ले लेती हैं या उनके प्राणों को खतरे में डाल देती हैं।

वासना जन्म-मरण रूप संसार का कारण है, नरक में प्रवेश करने का मार्ग दिखलाने वाला दीपक है, शोक को उत्पन्न करने वाली है और शारीरिक एवं मानसिक दुःखों की खान है।

टिप्पण—संसारी जीव अनादि काल से विषय-वासना के वशीभूत हो रहा है। विषयों की वासना बड़ी प्रबल है। उसमें भी विजातीय का आकर्षण सबसे अधिक प्रबल है। स्त्री का पुरुष के प्रति और पुरुष का स्त्री के प्रति जो जन्मजात आकर्षण है, वह किसी प्रकार दूर हो जाए तो आत्म-कल्याण के मार्ग की सब से बड़ी कठिनाई दूर हो जाए। उस आकर्षण को दूर करने के लिए अब्रह्मचर्य के दोषों का चिन्तन करने के साथ उन आकर्षक विजातीय व्यक्तियों के भी दोषों का चिन्तन करना उपयोगी होता है।

जो पुरुष पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन की अभिलाषा रखता है, उसे विषय-सेवन की तथा उसके आकर्षण के केन्द्रभूत स्त्री के दोषों का विचार करना आवश्यक होता है, जिससे उसके प्रति अरुचि हो जाय। इसी दृष्टिकोण से यहाँ स्त्री के दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है।

यह ध्यान में रखना है कि जैसे ब्रह्मचर्य का इच्छुक पुरुष, स्त्री के दोषों का चिन्तन करता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की इच्छुक स्त्री को भी पुरुष के दोषों का विचार करना चाहिए। यहाँ पुरुष को उद्देश्य करके स्त्री के दोषों का उल्लेख किया गया है, किन्तु इसका फलितार्थ यही है कि दोनों एक-दूसरे के दोषों का चिन्तन करके विजातीय आकर्षण को कम या नष्ट करने का प्रयत्न करें। ग्रन्थकार को किसी भी एक पक्ष को गिराना अभीष्ट नहीं है।

वेश्या-गमन निषेध

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् क्रियायामन्यदेव हि।
यासां साधारणस्त्रीणां, ताः कथं सुखहेतवः॥ ८८॥
मांसमिश्रं सुरामिश्रमनेकविट-चुम्बितम्।
को वेश्यावदनं चुम्बेदुच्छिष्टमिव भोजनम्॥ ८९॥
अपि प्रदत्तसर्वस्वात्, कामुकात् क्षीणसम्पदः।
वासोऽप्याच्छेत्तुमिच्छन्ति गच्छतः पण्यपोषितः॥ ९०॥

न देवान्न गुरून्नापि, सुहृदो न च वान्धवान् ।
असत्सङ्गरतिर्नित्यं, वेश्यावश्यो हि मन्यते ॥ ९१ ॥
कुष्ठिनोऽपि स्मरसमान्, पश्यन्तीं धनकाङ्क्षया ।
तन्वन्तीं कृत्रिम स्नेहं, निःस्नेहां गणिकां त्येजेत् ॥ ९२ ॥

जिनके मन में कुछ और होता है, वचन में कुछ और होता है तथा क्रिया में कुछ और होता है, वे साधारण स्त्रियाँ—वेश्याएँ कैसे सुख दे सकती हैं ? सुख के लिए पारस्परिक विश्वास होना चाहिए। किन्तु जहाँ धूर्त्तता है, छल-कपट है, ठगने की वृत्ति है, वहाँ पारस्परिक विश्वास कहाँ ? और जहाँ विश्वास नहीं, वहाँ सुख भी नहीं ।

वेश्याएँ मांस और मदिरा का सेवन करती हैं, अतः उनका मुख इन अशुचि वस्तुओं से भरा रहता है । अनेक व्यभिचारी पुरुष उनके मुख को चूमते हैं । अतः कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो वेश्याओं के ऐसे अपावन मुख का चुम्बन करना चाहेगा ?

वेश्याएँ अत्यन्त लोभ-ग्रस्त और स्वार्थपरायण होती हैं । किसी कामी पुरुष ने उन्हें अपना सर्वस्व दे दिया है। परन्तु, अब दरिद्र होने से वह और कुछ नहीं दे सकता, तो उस जाते हुए व्यक्ति का वे वस्त्र भी छीन लेती हैं ।

नित्य दुष्ट-दुराचारियों के संसर्ग में रहने वाला, वेश्या के वशीभूत हुआ पुरुष न देवों को मानता है, न गुरुओं को मानता है, न मित्रों को मानता है और न बन्धु-बांधवों को ही मानता है ।

वेश्याएँ धन के लालच से कोढ़ी को भी कामदेव के समान समझती हैं । वे वस्तुतः स्नेह से सर्वथा रहित होती हैं, फिर भी स्नेह का दिखावा करती हैं । अतः वेश्याओं से दूर रहना ही उचित है ।

परस्त्री-गमन निषेध

नासक्त्या सेवनीया हि, स्वदारा अप्युपासकैः ।
आकरः सर्वपापानां, किं पुनः परयोषितः ॥ ९३ ॥

यद्यपि श्रावकों के लिए स्वस्त्री सेवन निषिद्ध नहीं है, तथापि आसक्तिपूर्वक स्वस्त्री का भी सेवन करना योग्य नहीं है। ऐसी स्थिति में समस्त पापों की खान परस्त्रियों का सेवन कैसे योग्य हो सकता है?

टिप्पण—श्रावक स्वस्त्री सन्तोषी होता है। वह स्वस्त्री में भी अति आसक्ति नहीं रखता। अतः परस्त्री-सेवन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। परदार-गमन से हिंसा, असत्य, चोरी आदि समस्त पापों का उद्भव होता है।

जो परस्त्री अपने पति का परित्याग करके परपुरुष का सेवन करती है, उस चंचल चित्त वाली परनारी का क्या भरोसा? जो अपने पति के साथ विश्वासघात कर सकती है, वह परपुरुष के साथ भी क्यों न करेगी?

स्वपतिं या परित्यज्य, निस्त्रपोपपतिं भजेत।
तस्यां क्षणिकचित्तायां, विश्रम्भः कोऽन्ययोषिति ॥ ९४ ॥

भीरोराकुलचित्तस्य, दुःस्थितस्य परस्त्रियाम्।
रतिर्न युज्यते कर्तुमुपशूनं पशोरिव ॥ ९५ ॥

प्राणसन्देहजननं, परमं वैरकारणम्।
लोकद्वयविरुद्धं च, परस्त्रीगमनं त्यजेत् ॥ ९६ ॥

सर्वस्वहरणं बन्धं शरीरावयवच्छिदाम्।
मृतश्च नरकं घोरं, लभते पारदारिकः ॥ ९७ ॥

जो निर्लज्ज स्त्री अपने पति का परित्याग करके अन्य पुरुष का सेवन करती है, उस परस्त्री का क्या भरोसा है? जिसने अपने पति के साथ छल किया है, वह परपुरुष के साथ छल नहीं करेगी, यह कैसे माना जा सकता है?

पति एवं राजा आदि से भयभीत व्याकुल चित्त वाले तथा खंडहर आदि स्थानों में स्थित पुरुष को परस्त्री में रति करना योग्य नहीं। जैसे कत्लखाने के समीप पशु को आनन्द प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार

भयभीत, व्याकुल और दुःस्थित पुरुष को परस्त्री-संगम से रति-आनन्द नहीं हो सकता।

परस्त्री सेवन से प्राणों के नाश की आशंका उत्पन्न होती है और तीव्र वैर बँधता है। परस्त्री-गमन इहलोक और परलोक—दोनों से विरुद्ध है। अतः इस पाप का त्याग कर देना ही योग्य है।

परस्त्री-गामी पुरुष इहलोक में सर्वस्वहरण, बन्धन, शरीर के अवयवों का छेदन आदि अनर्थों को प्राप्त करता है और मर कर नरक योनि में जाता है।

स्वदार-रक्षणे यत्नं विदधानो निरन्तरम्।
जानन्नपि जनो दुःखं, परदारान् कथं व्रजेत् ॥ ९८ ॥

स्वस्त्री के शील की रक्षा करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करने वाला पुरुष उस दुःख को जानता हुआ किस प्रकार परस्त्रीगमन कर सकता है ? अपनी स्त्री की रक्षा करने में अनेक प्रकार का कष्ट उठाने वाला पुरुष यह भी जानता है कि दूसरे पुरुष भी इसी प्रकार अपनी-अपनी स्त्रियों की रक्षा करने का कष्ट उठा रहे हैं। अतः वह परस्त्री-गमन नहीं करेगा।

परस्त्री-गमन के कुफल

विक्रमाक्रान्तविश्वोऽपि, परस्त्रीषु रिरंसया।
कृत्वा कुलक्षयं प्राप, नरकं दशकन्धरः ॥ ९ ॥

अपने प्रचण्ड पराक्रम से अखिल विश्व को आक्रान्त कर देने वाला रावण भी, परस्त्री-रमण की इच्छा के कारण अपने कुल का विनाश करके नरक में गया।

टिप्पण—रावण ने सीता का अपहरण किया था, जिसके फलस्वरूप रावण जैसे पराक्रमी पुरुष को भी, केवल परस्त्रीगमन की कामना करने

मात्र से, नरक का अतिथि बनना पड़ा, तो परस्त्री-गमन करने वाले साधारण पुरुषों का तो कहना ही क्या है ?

कहते हैं, रावण की प्रतिज्ञा थी कि जब तक कोई स्त्री उसे स्वेच्छा से स्वीकार नहीं करेगी, तब तक बलात्कार से वह उसके साथ गमन नहीं करेगा। फिर भी उसने सीताजी के शील को खंडित करने की कामना की थी और इस कामना के कारण उसे नरक में जाना पड़ा।

परस्त्री-त्याग

लावण्य-पुण्यावयवां, पदं सौन्दर्य-सम्पदः।
कलाकलाप-कुशलामपि जह्यात् परस्त्रियम् ॥ १०० ॥

परस्त्री लावण्य से युक्त पवित्र अवयवों वाली हो—उसका अंग-अंग मनोहर रूप वाला हो, सौन्दर्य रूपी सम्पत्ति का आधारभूत हो और समस्त कलाओं में कुशल हो, तो भी उसका परित्याग करना चाहिए।

सुदर्शन की महिमा

अकलङ्कमनोवृत्तेः परस्त्री-सन्निधावपि ।
सुदर्शनस्य किं ब्रूमः, सुदर्शन-समुन्नतेः ॥ १०१ ॥

परस्त्री के समीप में भी अपनी चित्तवृत्ति को विकार रहित बनाये रखने वाले, सम्यग्दर्शन की प्रभावना करने वाले सेठ सुदर्शन की कहाँ तक प्रशंसा की जाय ! इससे उसके यश में अभिवृद्धि ही हुई।

पर-पुरुष त्याग

ऐश्वर्यराजराजोऽपि, रूपमीनध्वजोऽपि च।
सीतया रावण इव, त्याज्यो नार्या नरः परः ॥ १०२ ॥

ऐश्वर्य से कुबेर के समान रूप से कामदेव के समान सुन्दर होने पर भी—स्त्री को परपुरुष का उसी प्रकार त्याग कर देना चाहिए, जैसे सीता ने रावण का त्याग किया था।

व्यभिचार का फल

नपुंसकत्वं तिर्यक्त्वं, दौर्भाग्यञ्च भवे-भवे ।
भवेन्नराणां स्त्रीणां, चान्यकान्तासक्तचेतसाम् ॥ १०३ ॥

जो पुरुष परस्त्री में आसक्त होता है और जो स्त्री परपुरुष में आसक्त होती है, उसे भव-भव में नपुंसक होना पड़ता है, तिर्यञ्च गति में जाना पड़ता है।

ब्रह्मचर्य का फल

प्राणभूतं चरित्रस्य, परब्रह्मैककारणम् ।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं, पूजितैरपि पूज्यते ॥ १०४ ॥

ब्रह्मचर्य—देशविरति और सर्वविरति संयम का मूल है तथा परब्रह्म—मोक्ष का एक मात्र कारण है। ब्रह्मचर्य का परिपालक पूज्यों का भी पूज्य बन जाता है। ब्रह्मचारी—सुरों, असुरों एवं नरेन्द्रों का भी पूजनीय हो जाता है।

चिरायुषः सुसंस्थाना-दृढसंहनना नराः ।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः ॥ १०५ ॥

ब्रह्मचर्य के प्रभाव से प्राणी—दीर्घ आयु वाला, सुन्दर आकार वाला, दृढ़ शरीर वाला, तेजस्वी और अतिशय बलवान् होता है।

टिप्पण—ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले शुभ गति प्राप्त करते हैं। शुभ गतियाँ दो हैं—देवगति और मनुष्यगति। अनुत्तर विमान आदि स्वर्ग विमानों में जो जन्म लेते हैं, वे लम्बी आयु और समचतुरस्र संस्थान पाते हैं, और मनुष्य गति में जन्म लेने वाले वज्र-ऋषभ-नाराच जैसा सुदृढ़ संहनन पाते हैं। तीर्थंकर और चक्रवर्ती आदि के रूप में उत्पन्न होने वाले—तेजस्वी और महान् बलशाली होते हैं।

परिग्रह की मर्यादा

असन्तोषमविश्वासमारम्भं दुःखकारणम् ।
मत्वा मूर्च्छाफल कुर्यात्, परिग्रहनियन्त्रणम् ॥ १०६ ॥

मूर्छा या आसक्ति का फल—असन्तोष, अविश्वास और आरम्भ-समारम्भ है और यह दुःख का कारण है। अतः परिग्रह का नियंत्रण—परिमाण करना चाहिए।

टिप्पण—ममता, मूर्च्छा या आसक्ति से घिरा हुआ मनुष्य कभी भी सन्तोष लाभ नहीं कर सकता। चाहे उसे कितना ही धन-वैभव क्यों न मिल जाए, फिर भी उसे अधिक धन पाने की लालसा बनी ही रहती है। इस लालसा के कारण प्राप्त सामग्री से वह सन्तुष्ट नहीं रहता, बल्कि अप्राप्त की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है और दुःख का अनुभव करता रहता है।

धन आदि का लोलुप व्यक्ति सदैव अविश्वसनीय होता है। जिनका विश्वास करना चाहिए, उनका भी विश्वास नहीं करता। प्रत्येक के प्रति शंकाशील रहने के कारण वह कभी चैन से नहीं रहता।

मूर्छा-ग्रस्त मनुष्य हिंसा आदि पापों का आचरण करने में शंका नहीं करता। वह कोई भी बड़े से बड़ा पाप कर गुजरता है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह की ममता का न तो कभी अन्त आता है, न उसके कारण प्राप्त परिग्रह से आनन्द ही उठाया जा सकता है, न सुख-चैन से जीवन यापन किया जा सकता है, बल्कि पापों में ही प्रवृत्ति होती है। अतः श्रावक को परिग्रह की मर्यादा कर लेनी चाहिए, जिससे ममता की भी सीमा निर्धारित हो जाए। ऐसा करने से जीवन सुखमय और सन्तोषमय बन जाता है।

परिग्रहमहत्त्वाद्धि, मज्जत्येव भवाम्बुधौ ।
महापोत इव प्राणी, त्यजेत्तस्मात् परिग्रहम् ॥ १०७ ॥

जैसे मर्यादा से अधिक धन-धान्य आदि से भरा हुआ जहाज समुद्र में डूब जाता है, उसी प्रकार परिग्रह की मर्यादा न होने के कारण प्राणी संसार रूपी सागर में डूब जाता है। महापरिग्रह नरक-गति का कारण है। अतः श्रावक को परिग्रह की मर्यादा अवश्य कर लेनी चाहिए।

परिग्रह के दोष

त्रसरेणु-समोऽप्यत्र, न गुणः कोऽपि विद्यते।
दोषास्तु पर्वतस्थूलाः, प्रादुष्षन्ति परिग्रहे ॥ १०८ ॥

मकान की खिड़की में होकर सूर्य की धूप मकान में आती है। उस धूप में जो छोटे-छोटे उड़ते हुए कण दृष्टिगोचर होते हैं, वह त्रसरेणु कहलाते हैं। परिग्रह में एक त्रसरेणु के बराबर भी कोई गुण नहीं है, किन्तु जब दोषों का विचार करते हैं तो वे पर्वत के समान प्रतीत होते हैं। परिग्रह से राई के बराबर भी लाभ नहीं होता, किन्तु पहाड़ों के बराबर हानियाँ होती हैं।

सङ्गाद्भवन्त्यसन्तोऽपि, राग-द्वेषादयो द्विषः।
मुनेरपि चलेच्चेतो, यत्तेनान्दोलितात्मनः ॥ १०९ ॥

जो राग-द्वेष आदि दोष उदय में नहीं होते, वे भी परिग्रह की बदौलत प्रकट हो जाते हैं। जन-साधारण की तो बात ही क्या है, परिग्रह के प्रलोभन से मुनियों का चित्त भी चलायमान हो जाता है।

टिप्पण – पूर्व विवेचन में बतलाया गया था कि परिग्रह में पहाड़ के समान दोष हैं। उसी को यहाँ स्पष्ट करके बतलाया गया है कि परिग्रह दोषजनक है। समभाव में रमण करने वाले मुनि का मन भी परिग्रह के प्रभाव से चंचल हो जाता है और कभी-कभी इतना चंचल हो जाता है कि वह मुनि-पद से भी भ्रष्ट हो जाता है। इससे यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि परिग्रह सब दोषों का जनक है। कहा भी है :—

छेओ-भेओ-वसणं, आयास-किलेस-भयविवागो य ।
मरणं धम्मब्भंसो, अरई अत्थाओ सव्वाइं ॥

दोससयमूलजालं, पुव्वरिसिविवज्जियं जई वंतं ।
अत्थं वहसि अणत्थं, कीस निरत्थं तवं चरसि ॥

वह-बंधण-मारणसेहणाओ काओ परिग्गहे नत्थि ।
तं जइ परिग्गहोच्चिय, जइधम्मो तो णणु पवंचो ॥

छेदन, भेदन, व्यसन, श्रम, क्लेश, भय, मृत्यु, धर्म-भ्रष्टता, अरति आदि सभी दोष परिग्रह से उत्पन्न होते हैं। परिग्रह सैकड़ों दोषों का मूल है और पूर्वकालीन महर्षियों द्वारा त्यागा हुआ है। ऐसे वमन किए हुए अनर्थकारी अर्थ को यदि तुम धारण करते हो, तो फिर क्यों व्यर्थ तपश्चरण करते हो? जहाँ परिग्रह के प्रति लालसा है, वहाँ तपश्चरण से भी कोई लाभ नहीं होता। परिग्रह से क्या-क्या अनर्थ नहीं होते? वध, बन्धन, मृत्यु आदि सभी अनर्थों का वह जनक है। जिसके मन में मूर्च्छा है, उसका यतिधर्म कोरा ढोंग है, दिखावा है।

परिग्रह : आरंभ का मूल

संसारमूलमारम्भास्तेषां हेतुः परिग्रहः ।
तस्मादुपासकः कुर्यादल्पमल्पं परिग्रहम् ॥ ११० ॥

जीव हिंसा आदि आरम्भ—जन्म-मरण के मूल हैं और उन आरम्भों का कारण 'परिग्रह' है—परिग्रह के लिए ही 'आरम्भ' किए जाते हैं। अतः श्रावक को चाहिए कि वह परिग्रह को क्रमशः घटाता जाए।

टिप्पण—ज्यों-ज्यों परिग्रह कम होता जाएगा, त्यों-त्यों आरम्भ-समारम्भ भी कम होता जाएगा और ज्यों-ज्यों आरम्भ-समारम्भ कम होगा, त्यों-त्यों आत्मा की निर्मलता बढ़ती जाएगी। आत्मा की निर्मलता बढ़ने से संसार परिभ्रमण घटेगा।

परिग्रहवान् की दुर्दशा

मुष्णन्ति विषयस्तेना, दहति स्मरपावकः ।
रुन्धन्ति वनिताव्याधाः, सङ्गै रङ्गीकृतं नरम् ॥ १११ ॥

जैसे धन-धान्य, रजत-सुवर्ण आदि से युक्त व्यक्ति यदि अटवी में चला जाए तो चोर उसे लूट लेते हैं, उसी प्रकार संसार रूपी अटवी में इन्द्रियों के विषय मनुष्य के संयम रूपी धन को चुरा लेते हैं । अटवी में दावानल के लगने पर बहुत परिग्रह वाला मनुष्य भागकर बच नहीं सकता—दावानल उसे जला देता है, उसी प्रकार संसार-अटवी में परिग्रही व्यक्ति को कामाग्नि जला देती है । जैसे परिग्रहवान् को व्याध वन में घेर लेते हैं, भागने नहीं देते, उसी प्रकार संसार-वन में परिग्रहवान् को विषयासक्त स्त्रिएँ घेर लेती हैं—उसकी स्वाधीनता को नष्ट कर देती हैं ।

परिग्रह से असन्तोष

तृप्तो न पुत्रैः सगरः, कुचिकर्णो न गोधनैः ।
न धान्यैस्तिलकः श्रेष्ठी, न नन्दः कनकोत्करैः ॥११२॥

द्वितीय चक्रवर्ती सगर साठ हजार पुत्र पाकर भी सन्तोष न पा सका, कुचिकर्ण बहुत-से गोधन से तृप्ति का अनुभव न कर सका, तिलक श्रेष्ठी धान्य से तृप्त नहीं हुआ और नन्द नामक नृपति स्वर्ण के ढेरों से भी सन्तोष नहीं पा सका ।

टिप्पण—ईंधन बढ़ाते जाने से अग्नि शांत नहीं होती, उसी प्रकार परिग्रह से मनुष्यों की तृप्ति नहीं होती । सगर चक्रवर्ती राजा था । उसकी राजधानी अयोध्या थी । उसके साठ हजार पुत्र थे, लेकिन दैवी कोप के कारण उसके सभी पुत्र मारे गए और अन्त में वैराग्य उत्पन्न हो जाने के कारण सगर ने भगवान अजितनाथ के पास जाकर दीक्षा ग्रहण की और तब उसे वास्तविक संतोष और उसकी आत्मा को शांति प्राप्त हुई ।

मगध देश के सुघोष गाँव में कुचिकर्ण नामक एक पटेल रहता था। गायों पर उसकी असीम ममता थी, इसी वजह से उसने एक लाख गायें खरीद ली। किन्तु, फिर भी वह सदा असंतोष का ही अनुभव करता रहता था। अन्त में वह उन्हीं गायों के दूध, दही, घी आदि को विशेष परिमाण में खाने के कारण अजीर्ण-वात का शिकार हो गया और मरते समय आर्तध्यान के कारण तिर्यंच-योनि में उत्पन्न हुआ। ममत्व का परिणाम कितना भयानक होता है!

तिलक सेठ अचलपुर का एक रईस वणिक था। उसकी इच्छा सदा अनाज संग्रह करने और उसके द्वारा मुनाफा कमाने की रहती थी। वह घर की वस्तुएँ बेचकर अनाज खरीदता और उसके पश्चात् राह देखता रहता कि कब अकाल पड़े और वह अपने धन को दुगुना-चौगुना करे। भाग्यवशात् एक बार अकाल पड़ गया। यह मालूम पड़ते ही सेठजी ने इतना सारा अनाज खरीद लिया कि उसे घर बेचना पड़ा और यहाँ तक कि ब्याज पर भी और रुपया लेने की जरूरत पड़ी। किन्तु, दैवयोग से पृथ्वी पर किसी भाग्यवान प्राणी का जन्म हुआ और उसके प्रताप से अकाल दूर हो गया। परिणाम यह हुआ कि सेठ को बहुत ही ज्यादा नुकसान हुआ और वह आर्तध्यान में छाती-सिर पीट-पीट कर रोता हुआ मर गया और मर कर नरक में उत्पन्न हुआ।

पाटलीपुत्र नगर में नन्द राजा राज्य करता था। वह बहुत ही लोभी था। लोभवश उसने प्रजा पर बड़े-बड़े कर लगाए और असत्य आरोप लगाकर धनवानों से धन वसूल किया। नन्द ने सोने के सिक्कों को हटाकर चमड़े के सिक्के चालू कर दिए। प्रजा को निर्धन बनाकर उसने अपने लिये सोने के पहाड़ खड़े कर लिए। लेकिन अन्त समय में वह अनेक व्याधियों से पीड़ित होकर घुल-घुल कर मृत्यु को प्राप्त हुआ और नरक में गया। इस प्रकार लोभ के दुर्गुणों को समझ कर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अमर्यादित इच्छाओं को नियंत्रित करना चाहिए।

पतन का कारण

तपः श्रुतपरीवारां शम-साम्राज्य-संपदम् ।
परिग्रह-ग्रह-ग्रस्तास्त्यजेयुर्योगिनोऽपि हि ॥११३॥

परिग्रह रूप ग्रह से ग्रसित योगी भी अपने तप और श्रुत के परिवार वाले समभाव रूपी साम्राज्य का त्याग कर देते हैं। जो योगी परिग्रह के चक्कर में पड़ जाते हैं, वे तपस्या और श्रुत साधना से पथ भ्रष्ट हो जाते हैं।

असंतोषवतः सौख्यं न शक्रस्य न चक्रिणः ।
जन्तोः संतोषभाजो यदभयस्मेव जायते ॥११४॥

जो सुख और संतोष इन्द्र अथवा चक्रवर्तियों को भी नहीं मिल पाता, वही सुख, संतोष वृत्ति वाले अभयकुमार जैसों को प्राप्त होता है।

संतोष की महिमा

संनिधौ निधयस्तस्य कामगव्यनुगामिनी ।
अमराः किंकरायन्ते संतोषो यस्य भूषणम् ॥११५॥

संतोष जिस मनुष्य का भूषण बन जाता है, समृद्धि उसी के पास रहती है, उसी के पीछे कामधेनु चलती है और देव भी दास की तरह उसकी आज्ञा मानते हैं।

तृतीय प्रकाश

दिग्-व्रत

श्रावक के पाँच अणुव्रतों का विवेचन करने के पश्चात् अब गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

दशस्वपि कृता दिक्षु यत्र सीमा न लंघ्यते।
ख्यातं दिग्विरतिरिति प्रथमं तद्गुणव्रतं ॥ १ ॥

जिस व्रत में दसों दिशाओं में आने-जाने के किये हुए नियम का उलंघन नहीं किया जाता है, वह 'दिग्व्रत' नामक पहला गुणव्रत कहलाता है।

टिप्पण—गुणव्रत—अहिंसादि पांच अणुव्रतों को सहायता पहुंचाने वाला या गुण उत्पन्न करने वाला व्रत। दिग्-व्रत पहिले अहिंसा-व्रत को विशेष रूप से पुष्ट करता है। इसी प्रकार पहिले पांच व्रत, जो कि मूल व्रत हैं उनकी पुष्टि करने वाले ये उत्तर-व्रत कहलाते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, वायव्य, नैऋत्य, आग्नेय, ऊर्ध्व और अधः—इन दसों दिशाओं में दुनियादारी के व्यापारादि कार्य-वशात् जाने की मर्यादा करना 'दिग्-व्रत' है।

दिग्-व्रत की उपयोगिता

चराचराणां जीवानां विमर्दन निवर्त्तनात्।
तप्तायोगोलकल्पस्य सद्वृत्तं गृहिणोप्यदः ॥ २ ॥

तपाये हुए लोहे के गोले को कहीं पर भी रखने से जीवों की हिंसा होती है। उसी प्रकार मनुष्य के चलने-फिरने से त्रस—चलते हुए और स्थावर— स्थिर जीवों की हिंसा होती रहती है। किन्तु, इस व्रत के कारण आना-जाना मर्यादित हो जाता है, अतः जीवों का विनाश कम हो जाता है। इसीलिये यह व्रत प्रत्येक गृहस्थ के लिए धारण करने योग्य है।

दिग्-व्रत से लोभ की निवृत्ति

जगदाक्रममाणस्य प्रसरल्लोभवारिधेः ।
स्खलनं विदधे तेन येन दिग्विरतिः कृता ॥ ३ ॥

जिस मनुष्य ने दिग्-व्रत अंगीकार कर लिया है, उसने जगत् पर आक्रमण करने के लिये अभिवृद्ध लोभ रूपी समुद्र को आगे वढ़ने से रोक दिया है। इस व्रत को धारण करने के पश्चात् मनुष्य लोभ के कारण दूर-दूर देशों में अधिकाधिक व्यापार करने के लिये जाने से रुक जाता है और परिणाम स्वरूप लोभ पर अंकुश लग जाता है।

भोगोपभोग-व्रत

भोगोपभोगयोः संख्याशक्त्यायत्र विधीयते ।
भोगोपभोगमानं तद् द्वैतीयीकं गुणव्रतम् ॥ ४ ॥

शक्ति के अनुसार जिस व्रत में भोगोपभोग के योग्य पदार्थों की संख्या का नियम किया जाता है, वह भोगोपभोग-परिमाण नामक दूसरा गुणव्रत कहलाता है।

भोगोपभोग की व्याख्या

सकृदेव भुज्यते यः स भोगोऽन्नस्रगादिकः ।
पुनः पुनः पुनर्भोग्य उपभोगोऽङ्गनादिकः ॥ ५ ॥

जो वस्तु एक बार भोग के काम में आती है, उसे भोग कहते हैं और जो वस्तु बार-बार उपभोग में ली जाती है, वह उपभोग कहलाती

हैं। यथा—अनाज, पुष्पमाला, पान, विलेपन आदि वस्तुएँ भोग हैं और वस्त्र, अलंकार, घर, शय्या, आसन, वाहन आदि उपभोग हैं।

इनमें से भोग—खाने-पीने के काम में आने वाली अनेक वस्तुएँ सर्वथा त्याग करने योग्य हैं और अनेकों नियम करने योग्य हैं। पहिले सर्वथा त्याग करने योग्य वस्तुओं को बताते हैं।

> मद्यं मांसं नवनीतं मधूदुंबरपञ्चकम्।
> अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम्॥ ६॥
> आम-गोरस-संपृक्तं द्विदलं पुष्पितौदनम्।
> दध्यहर्द्वितीयातीतं क्वथितान्नं विवर्जयेत्॥ ७॥

प्रत्येक प्रकार की शराब, मांस, शहद, गूलर आदि पाँच प्रकार के फल, अनन्तकाय-कंदमूलादि, अनजाने फल, रात्रि-भोजन, कच्चे दूध, दही तथा छाछ के साथ द्विदल खाना, बासी अनाज, दो दिन के बाद का दही तथा चलित रस वाले—सड़े अन्न का त्याग करना चाहिये।

मदिरा-पान के दोष

> मदिरापानमात्रेण बुद्धिर्नश्यति दूरतः।
> वैदग्धी बंधुरस्यापि दौर्भाग्येणेव कामिनी॥ ८॥
> पापाः कादंबरीपान - विवशीकृत - चेतनः।
> जननीं हा प्रियीयंति जननीयन्ति च प्रियाम्॥ ९॥
> न जानाति परं स्वं वा मद्याच्चलित चेतनः।
> स्वामीयति वराकः स्वं स्वामिनं किंकरीयति॥ १०॥
> मद्यपस्य शवस्येव लुंठितस्य चतुष्पथे।
> मूत्रयन्ति मुखे श्वानो व्यात्ते विवरशंकया॥ ११॥
> मद्यपानरसे मग्नो नग्नः स्वपिति चत्वरे।
> गूढं च स्वमभिप्रायं प्रकाशयति लीलया॥ १२॥

वारुणीपानतो यांति कांति कीर्तिमतिश्रियः ।
विचित्राश्चित्र-रचना विलुठत्कज्जलादिव ॥ १३ ॥
भूतार्त्तवन्नरीनर्ति रारटीति सशोकवत् ।
दाहज्वरार्त्तवद्भूमौ सुरापो लोलुठीति च ॥ १४ ॥
विदधत्यंगशैथिल्यं ग्लापयंतींद्रियाणि च ।
मूर्च्छामतुच्छां यच्छन्ति हाला हालाहलोपमा ॥ १५ ॥
विवेकः संयमो ज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमा ।
मद्यात्प्रलीयते सर्व तृण्या वह्निकणादिव ॥ १६ ॥
दोषाणां कारणं मद्यं मद्यं कारणमापदाम् ।
रोगातुर इवापथ्यं तस्मान मद्यं विवर्जयेत् ॥ १७ ॥

जिस प्रकार विद्वान और सुन्दर मनुष्य की पत्नी भी दुर्भाग्य के कारण चली जाती है, उसी प्रकार मदिरा पान करने से बुद्धि भी दूर चली जाती है। मदिरा के अधीन हो जाने वाला पापी मनुष्य अपनी माँ के साथ पत्नी जैसा बर्ताव करता है और पत्नी के साथ माता के समान। मद्य के कारण अस्थिर चित्त हो जाने वाला व्यक्ति अपने आपको और दूसरे को नहीं पहिचान पाता। स्वयं नौकर होने पर भी अपने को मालिक समझता है और अपने स्वामी को नौकर की तरह समझता है। कभी-कभी मदिरा पान करने पर खुले मुँह मैदान में पड़े रहने वाले शराबी के मुँह को गड्ढा समझकर कुत्ते भी पेशाब कर जाते हैं। शराब के नशे में चूर व्यक्ति चौराहे पर भी नग्न होकर सो जाते हैं और हिताहित का ज्ञान न रहने के कारण अपनी गुप्त बातों को भी अनायास ही चाहे जिसके सन्मुख प्रगट कर देते हैं। रंग-बिरंगे चित्रों के ऊपर काजल गिर जाने से जिस प्रकार चित्रों का नाश हो जाता है, उसी प्रकार मद्य-पान करने से कांति, बुद्धि, कीर्ति और लक्ष्मी—सभी का लोप हो जाता हैं। मदिरा पान करने वाला भूत से पीड़ित होने वाले की तरह

नाचता है, शोक-मग्न व्यक्ति की तरह रोता है और दाह-ज्वर से पीड़ित व्यक्ति की भाँति जमीन पर लोटता रहता है। मदिरा शरीर को शिथिल कर देती है, इन्द्रियों को निर्बल बना देती है और मनुष्य को मूर्छित कर देती है। जिस प्रकार अग्नि की एक चिनगारी से घास के ढेर का नाश हो जाता है, उसी प्रकार मदिरा पान से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, दया और क्षमा आदि सभी गुणों का नाश हो जाता है। मद्य सर्व दोषों का और सब विपत्तियों का कारण है। इसलिये जिस प्रकार एक बीमार व्यक्ति अपथ्य का त्याग कर देता है, उसी प्रकार आत्म-हित का चिन्तन करने वाले साधक को मदिरा का त्याग करना चाहिए।

मांस-त्याग

> चिखादिषति यो मांसं प्राणिप्राणापहारतः।
> उन्मूलयत्यसौ मूलं दयाऽऽख्यं धर्मशाखिनः ॥ १८ ॥
>
> अशनीमन् सदा मांसं दयां यो हि चिकीर्षति।
> ज्वलति ज्वलने वल्लीं स रोपयितुमिच्छति ॥ १९ ॥

प्राणियों के प्राणों का नाश करके जो मांस खाने की इच्छा करता है, वह दया रूपी धर्म-वृक्ष को जड़ से उखाड़ डालता है। जो निरन्तर मांस खाते हुए भी दया करने की इच्छा रखता है, वह जलती अग्नि में बेल लगाने के समान कार्य करता है। तात्पर्य यह है कि मांस खाने वाले में दया नहीं टिक सकती।

कुछ व्यक्ति शंका करते हैं कि मांस खाने वाले अथवा जीव मारने वाले, दोनों में से जीव-हिंसा का दोष किसको लगेगा? आचार्य श्री इसका उत्तर देते हैं :—

> हंता पलस्य विक्रेता संस्कर्ता भक्षकस्तथा।
> क्रेताऽनुमंता दाता च घातका एव यन्मनुः ॥ २० ॥

प्राणियों का हनन करने वाला, मांस बेचने वाला, खाने वाला,

खरीदने वाला, अनुमोदन करने वाला और देने वाला—ये सभी हिंसा करने वाले होते हैं।

मनु का अभिमत

अनुमंता विशसिता निहता क्रय-विक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ २१ ॥

मनुस्मृति में कहा गया है कि अनुमोदन करने वाला, काटने वाला, मारने वाला, लेने वाला, देने वाला, बनाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला—ये सभी प्राणियों के घातक हैं।

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ २२ ॥

प्राणी की हिंसा किये बिना मांस उत्पन्न नहीं हो सकता और प्राणी का वध करने से स्वर्ग नहीं मिल सकता। इसलिये मांस-भक्षण का त्याग करना ही चाहिए।

मांस-भक्षक ही वधिक है

ये भक्षयंत्यन्यपलं स्वकीयपलपुष्टये।
त एव घातका यन्न वधको भक्षकं विना॥ २३ ॥

अपने मांस की पुष्टि करने के लिये जो मनुष्य अन्य जानवरों का मांस भक्षण करते हैं, वे ही उन जीवों के घातक हैं। क्योंकि यदि खाने वाले ही न हों तो वध करने वाले भी नहीं हो सकते।

हिंसा-त्याग का उपदेश

मिष्टान्नान्यपि विष्टासादमृतान्यपि मूत्रसात्।
स्युर्यस्मिन्नंगकस्यास्य कृते कः पापमाचरेत्॥ २४ ॥

जिस शरीर में भक्षण किया हुआ मिष्टान्न भी विष्टा रूप में परिणत हो जाता है और अमृतादि पेय पदार्थ भी मूत्र रूप में बदल जाता है, ऐसी असार देह के लिये कौन विवेकी पुरुष पाप का सेवन करेगा?

मांस-भक्षण का प्रतीक

मांसाशने न दोषोऽस्तीत्युच्यते यैर्दुरात्मभिः ।
व्याध-गृध्र-वृक-व्याघ्र श्रृगालास्तैर्गुरू कृताः ॥ २५ ॥

जो दुर्जन, 'मांस खाने में दोष नहीं' ऐसा कहते हैं, उन्होंने शिकारी, गिद्ध, भेड़िया, वाघ, सियार आदि को अपना गुरु बनाया है, क्योंकि पापी लोग इनको मांस-भक्षण करते हुए देखकर ही मांस खाना सीखते हैं।

'मांस' शब्द की व्याख्या

मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वे निरुक्तं मनुरब्रवीत् ॥ २६ ॥

मनु ने मांस शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि 'जिसका मांस मैं यहाँ खाता हूँ, वह मुझे परभव में खाएगा।'

मांस-भक्षण से दोष-वृद्धि

मांसास्वादन-लुब्धस्य देहिनं देहिनं प्रति ।
हंतुं प्रवर्त्तते बुद्धिः शाकिन्या इव दुर्धियः ॥ २७ ॥

मांस खाने वाले मनुष्य की, शाकिनी की तरह प्रत्येक प्राणी का हनन करने की दुर्बुद्धि बनी रहती है।

ये भक्षयंति पिशितं दिव्य-भोज्येषु सत्स्वपि ।
सुधारसं परित्यज्य भुञ्जते ते हलाहलं ॥ २८ ॥

जो मनुष्य दिव्य और सुन्दर भोजन विद्यमान रहते हुए भी मांस-भक्षण करते हैं, वे अमृत रस का त्याग करके जहर का पान करते हैं।

न धर्मो निर्दयस्यास्ति पलादस्य कुतो दया ।
पललुब्धो न तद्वेत्ति विद्याद्वोपदिशेन्न हि ॥ २९ ॥

निर्दयी मनुष्य में धर्म नहीं होता तथा मांस भक्षण करने वाले के हृदय में दया नहीं होती। मांस में लोलुप हो जाने वाला व्यक्ति दया नहीं

उपसंहार

> सद्यः संमूर्छितानन्त-जन्तु सन्तान-दूपितं ।
> नरकाध्वनि पाथेयं कोऽश्नीयात् पिशितं सुधीः ॥ ३३ ॥

प्राणियों को मारने के बाद तत्काल ही उत्पन्न हो जाने वाले अनेक जंतुओं के समूह से दूपित हो जाने वाला और नरक के मार्ग में पाथेय तुल्य मांस का कौन बुद्धिमान् भक्षण करेगा ?

मक्खन भक्षण में दोष

> अंतर्मुहूर्त्तात्परतः सुसूक्ष्मा जंतुराशयः ।
> यत्र मूर्छन्ति तन्नाद्यं नवनीतं विवेकिभिः ॥ ३४ ॥

मक्खन को छाछ में से निकालने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त में ही अनेकों सूक्ष्म जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं । अतः विवेकी पुरुषों को मक्खन नहीं खाना चाहिए ।

> एकस्यापि हि जीवस्य हिंसने किमघं भवेत् ।
> जंतु-जातमयं तत्को नवनीतं निपेवते ॥ ३५ ॥

एक जीव को मारने में ही महान् पाप है, तो जन्तुओं के समूह से भरपूर मक्खन का कौन भला आदमी भक्षण करेगा ? दयावान् पुरुष मक्खन का भक्षण नहीं करता है ।

मधु-भक्षण

> अनेक - जंतु - संघात - निपातनसमुद्भवम ।
> जुगुप्सनीयं लालावत् कः स्वादयति माक्षिकं ॥ ३६ ॥

अनेक जन्तुओं के समुदायों के नाश से उत्पन्न हुए और जुगुप्सनीय लार वाले मधु का आस्वादन नहीं करना चाहिए । दयावान श्रावक को मधु का त्याग करना चाहिए ।

को नहीं जानता और स्वयं मांस-भक्षी होने के कारण दूसरे को उसका त्याग करने के लिये उपदेश भी नहीं दे सकता।

मांस-भक्षक की अज्ञानता

केचिन्मांसं महामोहादश्नंति न परं स्वयं।
देव-पित्रतिथिभ्योपि कल्पयंति यदूचरे॥ ३०॥

बहुत से मनुष्य स्वयं तो मांस खाते ही हैं किन्तु अज्ञानता वश देव, पितृ और अतिथियों के लिये भी मांस परोसते हैं। उनका कथन है—

मनु का कथन

क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य परोपहृतमेव वा।
देवान् पितृन् समभ्यर्च्य खादन् मांसं न दुष्यति॥ ३१॥

कसाई की दुकान के अतिरिक्त कहीं से भी खरीदकर लाया हुआ, स्वयं उत्पन्न किया हुआ अथवा दूसरों के द्वारा दिया हुआ या माँग कर लाया हुआ मांस देव व पितरों की पूजा करके खाने पर दोष नहीं लगता।

टिप्पण—जब मनुष्य के लिए मांस खाना अनुचित है, तब देवों के लिये वह किस तरह उचित हो सकता है? और मल-मूत्र से भरा हुआ दुर्गन्ध युक्त मांस खाने वाले देवता, मनुष्य की अपेक्षा भी कितने अधम कहलायेंगे तथा ऐसे देव मनुष्यों की किस प्रकार सहायता कर सकते हैं? यह विचारने योग्य बात है।

मंत्र से संस्कृत किया हुआ मांस खाने में कोई दोष नहीं है, ऐसा कहने वालों को आचार्य श्री उत्तर देते हैं:—

मन्त्र-संस्कृतमप्यद्याद्यवाल्पमपि नो पलम्।
भवेज्जीवितनाशाय हालाहललवोऽपि हि॥ ३२॥

मंत्र से संस्कृत किया हुआ मांस भी एक जौ के दाने जितना भी नहीं खाना चाहिए। क्योंकि, लेशमात्र भी जहर जैसे जीवन का नाश कर देता है, उसी प्रकार थोड़ा-सा मांस भी दुर्गति प्रदान करने वाला है।

परन्तु, मधु अपवित्र माना गया है, अतः उसको अपवित्र समझकर उसका देव-स्थान में प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अभक्ष्य फल

उदुम्बर - वट-प्लक्ष-काकोदुंबर-शाखिनाम् ।
पिप्पलस्य च नाश्नीयात्फलं कृमिकुलाकुलं ॥ ४२ ॥

अप्राप्नुवन्नन्य भक्ष्यमपि क्षामो बुभुक्षया ।
न भक्षयति पुण्यात्मा पंचोदुम्बरजं फलम् ॥ ४३ ॥

कृमियों के समूह से भरपूर गूलर के, वड़ के, पाकर के, कठंबर तथा पीपल के फलों को नहीं खाना चाहिए। भूख से पेट खाली हो और दूसरा कुछ खाने को न मिलता हो, तब भी उत्तम पुरुष गूलर आदि पांचों प्रकार के अभक्ष्य फलों को नहीं खाते।

अनन्तकाय-परित्याग

आर्द्रः कंदः समग्रोऽपि सर्वः किशलयोऽपि च ।
स्नुही लवण-वृक्षत्वक् कुमारी गिरिकर्णिका ॥ ४४ ॥
शतावरी विरूढानि गुडूची कोमलाम्लिका ।
पल्यंकोऽमृतवल्ली च वल्लः शूकरसंज्ञितः ॥ ४५ ॥
अनंतकायाः सूत्रोक्ता अपरेऽपि कृपापरैः ।
मिथ्यादृशामविज्ञाता वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ ४६ ॥

सब प्रकार के हरे—बिना सूखे कंदमूल, सब प्रकार की उगती हुई कोंपलें, स्नुही—थोर, लवण वृक्ष की छाल, कुमारपाठा, गिरिकर्णिका, शतावरी, द्विदल वाला अंकुर, फूटा हुआ धान्य, गिलोय, कोमल इमली, पल्यंक—पालक, अमृत बेल, शूकर नामक वनस्पति की बालें, ये सभी आर्य देश में प्रसिद्ध हैं। जीव-दया में तत्पर मनुष्यों को दूसरे म्लेच्छ देशों में भी प्रसिद्ध सूत्रोक्त अनन्तकायों का त्याग करना चाहिए। इन

भक्षयन् - माक्षिकं क्षुद्र - जंतु - लक्षक्षयोद्भवं ।
स्तोकजंतुनिहंतृभ्यः　सौनिकेभ्योऽतिरिच्यते ॥ ३७ ॥

लाखों जन्तुओं के विनाश से पैदा होने वाले शहद को खाने वाला थोड़े जीवों को मारने वाले कसाइयों से भी आगे बढ़ जाता है।

एकैक - कुसुमक्रोड़ाद्रसमापीय मक्षिकाः ।
यद्वमंति मधूच्छिष्टं तदश्नंति न धार्मिकाः ॥ ३८ ॥

अप्यौषधकृते जग्धं मधु श्वभ्रनिबंधनम् ।
भक्षितः प्राणनाशाय कालकूट-कणोऽपि हि ॥ ३९ ॥

मधुनोऽपि हि माधुर्यमबोधैरहहोच्यते ।
आसाद्यंते यदास्वादाच्चिरं नरकवेदनाः ॥ ४० ॥

मक्खी एक पुष्प से रस पीकर दूसरी जगह उसका वमन करती है—उससे मधु उत्पन्न होता है। ऐसा उच्छिष्ट मधु धार्मिक पुरुष नहीं खाते। कितने ही मनुष्य मधु का त्याग करते हैं, पर औषधि में मधु खाते हैं। किन्तु, औषधि के लिए खाया हुआ मधु भी नरक का कारण है। क्योंकि, कालकूट जहर का एक कण भी प्राण नाश के लिए पर्याप्त होता है।

टिप्पण—कितने ही अज्ञानी जीव कहते हैं कि मधु में मिठास होती है, पर जिसका आस्वादन करने पर बहुत काल तक नरक की वेदना भोगनी पड़े, उस मिठास को तात्त्विक मिठास कैसे कह सकते हैं? जिसका परिणाम दुखदायी हो, ऐसी मिठास को मिठास नहीं कह सकते। इसलिए विवेकवान् पुरुष को मधु का त्याग करना चाहिए।

मक्षिकामुखनिष्ठ्यूतं जंतुघातोद्भवं मधु ।
अहो पवित्रं मन्वाना देवस्थाने प्रयुंजते ॥ ४१ ॥

बड़े आश्चर्य की बात है कि कई लोग अनेक जन्तुओं के नाश से उत्पन्न मधु को पवित्र मानकर देव-स्थान—मंदिर में चढ़ाते हैं।

परन्तु, मधु अपवित्र माना गया है, अतः उसको अपवित्र समझकर उसका
देव-स्थान में प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अभक्ष्य फल

उदुम्बर-वट-प्लक्ष-काकोदुंबर-शाखिनाम्।
पिप्पलस्य च नाश्नीयात्फलं कृमिकुलाकुलं ॥ ४२ ॥

अप्राप्नुवन्नन्य भक्ष्यमपि क्षामो बुभुक्षया।
न भक्षयति पुण्यात्मा पंचोदुम्बरजं फलम् ॥ ४३ ॥

कृमियों के समूह से भरपूर गूलर के, बड़ के, पाकर के, कठूंबर
तथा पीपल के फलों को नहीं खाना चाहिए। भूख से पेट खाली हो
और दूसरा कुछ खाने को न मिलता हो, तब भी उत्तम पुरुष गूलर आदि
पांचों प्रकार के अभक्ष्य फलों को नहीं खाते।

अनन्तकाय-परित्याग

आर्द्रः कंदः समग्रोऽपि सर्वः किशलयोऽपि च।
स्नुही लवण-वृक्षत्वक् कुमारी गिरिकर्णिका ॥ ४४ ॥
शतावरी विरूढानि गुडूची कोमलाम्लिका।
पल्यंकोऽमृतवल्ली च वल्लः शूकरसंज्ञितः ॥ ४५ ॥
अनंतकायाः सूत्रोक्ता अपरेऽपि कृपापरैः।
मिथ्यादृशामविज्ञाता वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ ४६ ॥

सब प्रकार के हरे—बिना सूखे कंदमूल, सब प्रकार की उगती हुई
कोंपलें, स्नुही—थोर, लवण वृक्ष की छाल, कुमारपाठा, गिरिकर्णिका,
शतावरी, द्विदल वाला अंकुर, फूटा हुआ धान्य, गिलोय, कोमल इमली,
पल्यंक—पालक, अमृत बेल, सूकर नामक वनस्पति की बेलें, ये सभी
आर्य देश में प्रसिद्ध हैं। जीव-दया से प्रेरित मनुष्यों को दूसरे म्लेच्छ
देशों में भी प्रसिद्ध कुछेक अनन्तकायों का त्याग करना चाहिए। इन

अनन्तकायों को मिथ्यादृष्टि नहीं जानते हैं, क्योंकि वे लोग वनस्पति में जीव ही नहीं मानते ।

अज्ञात फल वर्जन

स्वयं परेण वा ज्ञातं फलमद्याद्विशारदः ।
निषिद्धे विषफले वा मा भूदस्य प्रवर्त्तनम् ॥ ४७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष उसी फल का भक्षण करे जिसे वह स्वयं जानता हो या दूसरा कोई जानता हो, जिससे निषिद्ध या विषैला फल खाने में न आए । क्योंकि, निषिद्ध फल खाने से व्रतभंग होता है और विषाक्त फल खाने से प्राण हानि हो सकती है ।

रात्रि-भोजन निषेध

अन्नं प्रेतपिशाचाद्यैः, सञ्चरद्भिर्निरंकुशैः ।
उच्छिष्टं क्रियते यत्र, तत्र नाद्याद्दिनात्यये ॥ ४८ ॥

रात्रि के समय स्वच्छन्द विचरण करने वाले प्रेत और पिशाच आदि अन्न को जूठा कर देते हैं, अतः सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करना चाहिए ।

घोरांधकाररुद्धाक्षैः, पतन्तो यत्र जन्तवः ।
नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र भुञ्जीत को निशि ॥ ४९ ॥

रात्रि में घोर अंधकार के कारण भोजन में गिरते हुए जीव आँखों से दिखाई देते, अतः ऐसी रात्रि में कौन समझदार व्यक्ति भोजन करेगा?

रात्रि-भोजन से हानियाँ

मेधां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम् ।
कुरुते मक्षिका वान्तिं, कुष्ठरोगं च कोलिकः ॥ ५० ॥

भोजन के साथ चिउँटी खाने में आ जाए तो वह बुद्धि का नाश करती है, जूं जलोदर रोग उत्पन्न करती है, मक्खी से वमन हो जाता है और कोलिक—छिपकली से कोढ़ उत्पन्न होता है ।

कण्टको दारुखण्डं च, वितनोति गलव्यथाम् ।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः ॥ ५१ ॥

विलग्नश्च गले वालः, स्वर-भंगाय जायते ।
इत्यादयो दृष्टदोषाः, सर्वेषां निशि भोजने ॥ ५२ ॥

कांटे और लकड़ी के टुकड़े से गले में पीड़ा उत्पन्न होती है। शाक आदि व्यंजनों में बिच्छू गिर जाए तो वह तालु को वेध देता है। गले में बाल फँस जाए तो स्वर भंग हो जाता है। रात्रि में भोजन करने से यह और ऐसे अन्य दोष प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

नाप्रेक्ष्य सूक्ष्मजन्तूनि, निश्यद्यात्प्रासुकान्यपि ।
अप्युद्यत्-केवलज्ञानैर्नादृतं यन्निशाशनम् ॥ ५३ ॥

रात्रि में प्रासुक—अचित्त पदार्थों का भी भोजन नहीं करना चाहिए, क्योंकि कुंथुवा आदि सूक्ष्म जन्तु दिखाई नहीं देते। केवल-ज्ञानियों ने भी, जो सूक्ष्म जन्तुओं को और उनके भोजन में गिरने को जानते हैं, रात्रि भोजन स्वीकार नहीं किया है।

धर्मविन्नैव भुञ्जीत, कदाचन दिनात्यये ।
बाह्या अपि निशाभोज्यं, यदभोज्यं प्रचक्षते ॥ ५४ ॥

धर्मज्ञ पुरुष को दिन अस्त होने पर कदापि भोजन नहीं करना चाहिए, क्योंकि जैनेतर जन भी रात्रि-भोजन को अभक्ष्य कहते हैं, अर्थात् वे भी रात्रि-भोजन को त्याज्य मानते हैं।

अन्य मतों का अभिमत

त्रयीतेजोमयो भानुरिति वेदविदो विदुः ।
तत्करैः पूतमखिलं, शुभं कर्म समाचरेत् ॥ ५५ ॥

वेद के वेत्ता कहते हैं कि सूर्य तेजोमय है। उसमें ऋग्, यजु और सामवेद तीनों का तेज निहित है। अतः सूर्य की किरणों से पवित्र

होकर ही सब कार्य करना चाहिए। सूर्य की किरणों के अभाव में कोई भी शुभ कार्य नहीं करना चाहिए।

नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम्।
दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः ॥ ५६ ॥

रात्रि में होम, स्नान, श्राद्ध, देवपूजन या दान करना भी उचित नहीं है, किन्तु भोजन तो विशेष रूप से निषिद्ध है।

रात्रि-भोजन का अर्थ

दिवसस्याष्टमे भागे, मन्दीभूते दिवाकरे।
नक्तं तु तद्विजानीयान्न नक्तं निशि भोजनम् ॥ ५७ ॥

केवल रात्रि में भोजन करना ही रात्रि भोजन नहीं है, बल्कि दिन के आठवें भाग में—जब सूर्य मंद पड़ जाता है, तब भोजन करना भी रात्रि-भोजन कहलाता है।

अन्य मत में रात्रि-भोजन निषेध

देवैस्तु भुक्तं पूर्वाह्णे, मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा।
अपराह्णे च पितृभिः, सायाह्ने दैत्यदानवैः ॥ ५८ ॥
सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः, सदा भुक्तं कुलोद्वह।
सर्ववेलां व्यतिक्रम्य, रात्रौ भुक्तमभोजनम् ॥ ५९ ॥

हे युधिष्ठिर ! दिन के पूर्व भाग में देवों ने, मध्याह्न में ऋषियों ने, अपराह्ण में पितरों ने, सायंकाल में दैत्य और दानवों ने, संध्या—दिन-रात की संधि के समय यक्षों और राक्षसों ने भोजन किया है। इन सब भोजन वेलाओं का उल्लंघन करके रात्रि में भोजन करना अभक्ष्य भोजन है।

आयुर्वेद का अभिमत

हृन्नाभिपद्म - संकोश्चण्डरोचिरपायतः।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि ॥ ६० ॥

शरीर में दो कमल होते हैं—हृदय-कमल और नाभि-कमल। सूर्यास्त हो जाने पर यह दोनों कमल संकुचित हो जाते हैं। इस कारण रात्रि में भोजन करना निषिद्ध है। इस निषेध का दूसरा कारण यह भी है कि रात्रि में पर्याप्त प्रकाश न होने से छोटे-छोटे जीव खाने में आ जाते हैं। अतः रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए।

स्वमत समर्थन

संसज्जीवसंघातं, भुञ्जाना निशि-भोजनम्।
राक्षसेभ्यो विशिष्यन्ते, मूढात्मानः कथं नु ते ॥ ६१ ॥

रात्रि में अनेक जीवों का संसर्ग वाला भोजन करने वाले मूढ़ पुरुष राक्षसों से पृथक् कैसे कहे जा सकते हैं? वस्तुतः वे राक्षस ही हैं।

वासरे च रजन्यां च, यः खादन्नेव तिष्ठति।
शृङ्ग-पुच्छपरिभ्रष्टः, स्पष्टं स पशुरेव हि ॥ ६२ ॥

जो मनुष्य दिन में और रात में खाता ही रहता है, वह स्पष्ट रूप से पशु ही है। विशेषता है तो यही कि उसके सींग और पूँछ नहीं है।

अह्नो मुखेऽवसाने च, यो द्वे-द्वे घटिके त्यजन्।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥ ६३ ॥

रात्रि भोजन के दोषों को जानने वाला जो मनुष्य दिन के आरंभ की और अन्त की दो-दो घटिकाएँ—४८ मिनिट छोड़कर भोजन करता है, वह पुण्य का पात्र होता है।

अकृत्वा नियमं दोषाभोजनाद्दिनभोज्यपि।
फलं भजेन्न निर्व्याजं, न वृद्धिर्भाषितं विना ॥ ६४ ॥

दिन में भोजन करने वाला भी अगर रात्रि-भोजन त्याग का नियम नहीं करता है, तो वह रात्रि-भोजन-विरति का निष्कपट भाव से प्राप्त होने वाला फल नहीं पाता। लोक में भी देखा जाता है कि बोली किए बिना रकम का ब्याज नहीं मिलता।

होकर ही सब कार्य करना चाहिए। सूर्य की किरणों के अभाव में कोई भी शुभ कार्य नहीं करना चाहिए।

नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम्।
दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः॥ ५६॥

रात्रि में होम, स्नान, श्राद्ध, देवपूजन या दान करना भी उचित नहीं है, किन्तु भोजन तो विशेष रूप से निषिद्ध है।

रात्रि-भोजन का अर्थ

दिवसस्याष्टमे भागे, मन्दीभूते दिवाकरे।
नक्तं तु तद्विजानीयान्न नक्तं निशि भोजनम्॥ ५७॥

केवल रात्रि में भोजन करना ही रात्रि भोजन नहीं है, वल्कि दिन के आठवें भाग में—जब सूर्य मंद पड़ जाता है, तब भोजन करना भी रात्रि-भोजन कहलाता है।

अन्य मत में रात्रि-भोजन निषेध

देवैस्तु भुक्तं पूर्वाह्णे, मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा।
अपराह्णे च पितृभिः, सायाह्ने दैत्यदानवैः॥ ५८॥
सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः, सदा भुक्तं कुलोद्वह।
सर्ववेलां व्यतिक्रम्य, रात्रौ भुक्तमभोजनम्॥ ५९॥

हे युधिष्ठिर! दिन के पूर्व भाग में देवों ने, मध्याह्न में ऋषियों ने, अपराह्ण में पितरों ने, सायंकाल में दैत्य और दानवों ने, संध्या—दिन-रात की संधि के समय यक्षों और राक्षसों ने भोजन किया है। इन सब भोजन वेलाओं का उल्लंघन करके रात्रि में भोजन करना अभक्ष्य भोजन है।

आयुर्वेद का अभिमत

हृन्नाभिपद्म - संकोचश्चण्डरोचिरपायतः।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि॥ ६०॥

शरीर में दो कमल होते हैं—हृदय-कमल और नाभि-कमल। सूर्यास्त हो जाने पर यह दोनों कमल संकुचित हो जाते हैं। इस कारण रात्रि में भोजन करना निषिद्ध है। इस निषेध का दूसरा कारण यह भी है कि रात्रि में पर्याप्त प्रकाश न होने से छोटे-छोटे जीव खाने में आ जाते हैं। अतः रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए।

स्वमत समर्थन

संसज्जीवसंघातं, भुञ्जाना निशि-भोजनम्।
राक्षसेभ्यो विशिष्यन्ते, मूढात्मानः कथं नु ते॥ ६१॥

रात्रि में अनेक जीवों का संसर्ग वाला भोजन करने वाले मूढ़ पुरुष राक्षसों से पृथक् कैसे कहे जा सकते हैं? वस्तुतः वे राक्षस ही हैं।

वासरे च रजन्यां च, यः खादन्नेव तिष्ठति।
शृङ्ग-पुच्छपरिभ्रष्टः, स्पष्टं स पशुरेव हि॥ ६२॥

जो मनुष्य दिन में और रात में खाता ही रहता है, वह स्पष्ट रूप से पशु ही है। विशेषता है तो यही कि उसके सींग और पूँछ नहीं हैं।

अह्नो मुखेऽवसाने च, यो द्वे-द्वे घटिके त्यजन्।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम्॥ ६३॥

रात्रि भोजन के दोषों को जानने वाला जो मनुष्य दिन के आरंभ की और अन्त की दो-दो घटिकाएँ—४८ मिनिट छोड़कर भोजन करता है, वह पुण्य का पात्र होता है।

अकृत्वा नियमं दोषाभोजनाद्दिनभोज्यपि।
फलं भजेन्न निर्व्याजं, न वृद्धिर्भाषितं विना॥ ६४॥

दिन में भोजन करने वाला भी अगर रात्रि-भोजन त्याग का नियम नहीं करता है, तो वह रात्रि-भोजन-विरति का निष्कपट भाव से प्राप्त होने वाला फल नहीं पाता। लोक में भी देखा जाता है कि बोली किए विना रकम का व्याज नहीं मिलता।

टिप्पण—कई लोग रात्रि-भोजन न करते हुए भी प्रतिज्ञापूर्वक रात्रि-भोजन के त्यागी नहीं होते। ऐसे लोग अवसर आने पर फिसल भी सकते हैं और समय आने पर रात्रि में भी भोजन कर लेते हैं। उनके लिए यहाँ प्रतिज्ञा की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। प्रतिज्ञा स्वेच्छापूर्वक स्वीकृत बन्धन है, जिससे मानसिक दुर्बलता दूर हो जाती है और संकल्प में दृढ़ता आती है। अतः रात्रि-भोजन न करने वालों को भी उसका विधिवत् प्रत्याख्यान करना चाहिए। ऐसा किए बिना उन्हें रात्रि-भोजन त्याग का पूरा फल प्राप्त नहीं होता।

ये वासरं परित्यज्य, रजन्यामेव भुञ्जते।
ते परित्यज्य माणिक्यं, काचमाददते जडाः ॥ ६५ ॥

जो दिन को छोड़कर रात्रि में ही भोजन करते हैं, वे जड़ मनुष्य मानो माणिक—रत्न का त्याग करके कांच को ग्रहण करते हैं।

वासरे सति ये श्रेयस्काम्यया निशि भुञ्जते।
ते वपन्त्यूषर-क्षेत्रे, शालीन् सत्यपि पल्वले ॥ ६६ ॥

खाने के लिए दिन मौजूद है, फिर भी लोग कल्याण की कामना से रात्रि में भोजन करते हैं, वे मानो पल्वल—पानी से भरे हुए खेत को छोड़कर ऊसर भूमि में धान बोते हैं।

रात्रि भोजन का फल

उलूक-काक-मार्जार-गृध्र-शम्बर-शूकराः।
अहि-वृश्चिक-गोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥ ६७ ॥

रात्रि भोजन करने से मनुष्य मर कर उल्लू, काक, बिल्ली, गिद्ध, सम्बर, शूकर, सर्प, बिच्छू और गोह आदि अधम गिने जाने वाले तिर्यञ्चों के रूप में उत्पन्न होते हैं।

श्रूयते ह्यन्यशपथाननादृत्यैव लक्ष्मणः।
निशाभोजनशपथं, कारितो वनमालया ॥ ६८ ॥

अन्य शपथों—प्रतिज्ञाओं की उपेक्षा करके लक्ष्मण की पत्नी वनमाला ने लक्ष्मण को रात्रि-भोजन का परित्याग करवाया था। अतः रात्रि भोजन का पाप महापाप है।

रात्रि-भोजन-त्याग का फल

करोति विरतिं धन्यो, यः सदा निशि भोजनात्।
सोऽर्द्ध पुरुषायुष्कस्य, स्यादवश्यमुपोषितः॥ ६९ ॥

जो पुरुष रात्रि-भोजन का परित्याग कर देता है, वह धन्य है। निस्सन्देह उसका आधा जीवन उपवास में ही व्यतीत होता है।

रजनी भोजनत्यागे, ये गुणाः परितोऽपि तान्।
न सर्वज्ञादृते कश्चिदपरो वक्तुमीश्वरः॥ ७० ॥

रात्रि-भोजन का त्याग करने पर जो लाभ होते हैं, उन्हें सर्वज्ञ के सिवाय दूसरा कोई भी कहने में समर्थ नहीं है।

द्विदल-भोजन का त्याग

आम - गोरस - संपृक्त - द्विदलादिषु जन्तवः।
दृष्टाः केवलिभिः सूक्ष्मास्तस्मात्तानि विवर्जयेत्॥ ७१ ॥

कच्चे गोरस—दूध, दही, छाछ के साथ मिले हुए द्विदल—मूंग, उड़द, मोंठ, चना, अरहर, चँवला आदि की पकोड़ी में केवल-ज्ञानियों ने सूक्ष्म जन्तुओं की उत्पत्ति देखी है। अतः उनके खाने का त्याग करना चाहिए।

टिप्पण— जिस धान्य को दलने पर बराबरी के दो भाग हो जाते हैं, वह 'द्विदल' कहलाता है। द्विदल के साथ कच्चे गोरस का संयोग होने पर अनन्त सूक्ष्म जन्तुओं की उत्पत्ति हो जाती है। यह विषय तर्क-गम्य न होने पर भी मान्य है, क्योंकि केवल-ज्ञानियों ने अतीन्द्रिय ज्ञान से जानकर इसका कथन किया है।

यहाँ 'द्विदल' के साथ प्रयुक्त 'आदि' शब्द से निम्नलिखित बात समझनी चाहिए—

१. जिस भोजन पर लीलन-फूलन आ गई हो, वह त्याज्य है।
२. दो दिन का वासी दही त्याज्य है।
३. जिसके स्वाभाविक रस, रूप आदि में परिवर्तन हो गया हो ऐसा चलित रस—सड़ा-गला भोजन आदि भी त्याज्य है।

उपसंहार

जन्तुमिश्रं फलं पुष्पं, पत्रं चान्यदपि त्यजेत्।
सन्धानमपि संसक्तं, जिनधर्मपरायणः ॥ ७२ ॥

जिन-धर्म परायण श्रावकों को त्रस-जीवों के संसर्ग वाले फल, पुष्प, पत्र, आचार तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थों का त्याग करना चाहिए।

अनर्थ-दण्ड त्याग

आर्त्तरौद्रमपध्यानं, पाप - कर्मोपदेशिता।
हिंसोपकारिदानं च, प्रमादाचरणं तथा ॥ ७३ ॥

जो निरर्थक हिंसा का कारण हो, वह अनर्थ-दण्ड कहलाता है। श्रावक सार्थक हिंसा का पूरी तरह त्याग नहीं कर पाता, तथापि उसे निरर्थक हिंसा का त्याग करना चाहिए। इसी उद्देश्य से इस व्रत का विधान किया गया है।

शरीराद्यर्थदण्डस्य, प्रतिपक्षतया स्थितः।
योऽनर्थदण्डस्तत्त्यागस्तृतीयं तु गुणव्रतम् ॥ ७४ ॥

अनर्थ दण्ड के चार भेद हैं—१. आर्त्त-रौद्र आदि अपध्यान, २. पाप कर्मोपदेश, ३. हिंसा के उपकरणों का दान, और ४. प्रमादाचरण।

शरीर आदि के निमित्त होने वाली हिंसा अर्थ-दण्ड और निरर्थक—निष्प्रयोजन की जाने वाली हिंसा अनर्थ-दण्ड है। इस अनर्थ-दण्ड का त्याग करना गृहस्थ का तीसरा गुणव्रत है।

१. अपध्यान

वैरिघातो नरेन्द्रत्वं, पुरघाताग्निदीपने।
खेचरत्वाद्यपध्यानं, मुहूर्त्तात्परतस्त्यजेत्॥ ७५॥

वैरी की घात करूँ, राजा हो जाऊँ, नगर को नष्ट कर दूँ, आग लगा दूँ, आकाश में उड़ने की विद्या प्राप्त हो जाय तो आकाश में उड़ूँ—विद्याधर हो जाऊँ इत्यादि दुर्ध्यान कदाचित् आ जाए तो उसे एक मुहूर्त से ज्यादा न टिकने दे। प्रथम तो इस प्रकार का दूषित विचार मन में आने ही नहीं देना चाहिए और कदाचित् आ जाए तो उसे ठहरने नहीं देना चाहिए।

२. पापोपदेश

वृषभान् दमय क्षेत्रं कृष षण्ढय वाजिनः।
दाक्षिण्याविषये पापोपदेशोऽयं न युज्यते॥ ७६॥

बछड़ों का दमन करो खेत जोतो, घोड़ों को नपुंसक करो, इस प्रकार का पापमय उपदेश देना उचित नहीं है। अपने पुत्र, नाई, हलवाह आदि को ऐसा उपदेश देने से गृहस्थ बच नहीं सकता, अतः यहाँ 'दाक्षिण्याविषये' पद विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि विना प्रयोजन अपनी चतुराई प्रकट करने के लिए इस प्रकार का उपदेश देना 'पापोपदेश' नामक अनर्थ-दण्ड कहलाता है। स्मरण रखना चाहिए कि अनर्थ-दण्ड वहीं होता है, जहाँ विना किसी प्रयोजन के पाप किया जाता है। आगे भी ऐसा ही समझना चाहिए।

३. हिंसोपकरण दान

यन्त्र-लाङ्गल-शस्त्राग्निमुशलोदूखलादिकम्।
दाक्षिण्याविषये हिंस्रं, नार्पयेत् करुणापरः॥ ७७॥

करुणा में तत्पर श्रावक को विना प्रयोजन, यंत्र, हल, शस्त्र, अग्नि, मूसल, ऊखल, चक्की आदि हिंसाकारी साधन नहीं देना चाहिए।

४. प्रमाद-आचरण

कुतूहलाद् गीत-नृत्य-नाटकादिनिरीक्षणम् ।
काम-शास्त्रप्रसक्तिश्च, द्यूत-मद्यादिसेवनम् ॥ ७८ ॥
जलक्रीडाऽऽन्दोलनादिविनोदो, जन्तुयोधनम् ।
रिपोः सुतादिना वैरं, भक्तस्त्रीदेशराट्कथाः ॥ ७९ ॥
रोगमार्गश्रमौ मुक्त्वा, स्वापश्चसकलां निशाम् ।
एवमादि परिहरेत् प्रमादाचरणं सुधीः ॥ ८० ॥

कुतूहल से गीत, नृत्य, नाटक आदि देखना, काम-शास्त्र में आसक्ति रखना, जूआ और मद्य आदि का सेवन करना, जल-क्रीड़ा करना, हिंडोला-झूला झूलना आदि विनोद करना, सांड आदि जानवरों को लड़ाना, अपने शत्रु के पुत्र आदि के प्रति वैर-भाव रखना या उससे बदला लेना, भोजन सम्बन्धी, स्त्री सम्बन्धी, देश सम्बन्धी, और राजा सम्बन्धी निरर्थक वार्तालाप करना, रोग या थकावट न होने पर भी रात भर सोते पड़े रहना आदि-आदि प्रमादाचरणों का बुद्धिमान् पुरुष को त्याग कर देना चाहिए ।

विलास-हासनिष्ठ्यूत-निद्रा-कलह-दुष्कथाः ।
जिनेन्द्रभवनस्यान्तराहारं च चतुर्विधम् ॥ ८१ ॥

धर्म-स्थान के अन्दर विलास-कामचेष्टा करना, कहकहा लगाकर हँसना, थूकना, नींद लेना, कलह करना, अभद्र बातें करने और अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य यह चार प्रकार का आहार करने का भी त्याग करे ।

सामायिक स्वरूप

त्यक्तार्त्त-रौद्रध्यानस्य, त्यक्तसावद्य कर्मणः ।
मुहूर्त्त समता या तां, विदुः सामायिक-व्रतम् ॥ ८२ ॥

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करके तथा पापमय कार्यों का त्याग करके एक मुहूर्त्त पर्यन्त समभाव में रहना 'सामायिक व्रत' कहलाता है ।

टिप्पण—संसार के अधिकांश दुःखों का कारण विषय भाव—राग-द्वेषमय परिणाम है। जब यह विषय-भाव दूर हो जाता है और अन्तःकरण समभाव से पूरित हो जाता है, तब आत्मा को अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है। अतः चित्त में समभाव को जागृत करना ही धर्म-साधना का मुख्य उद्देश्य है। समभाव की जागृति के लिए निरन्तर नियमित अभ्यास अपेक्षित है और वही अभ्यास सामायिक व्रत है।

गृहस्थ—श्रावक सब प्रकार के अशुभ ध्यान और पापमय कार्यों का परित्याग करके दो घड़ी तक समभाव में - आत्मचिन्तन, स्वाध्याय आदि में व्यतीत करता है। यही गृहस्थ का 'सामायिक व्रत' है।

सामायिक का फल

सामायिकव्रतस्थस्य, गृहिणोऽपि स्थिरात्मनः।
चन्द्रावतंसकस्येव, क्षीयते कर्म सञ्चितम् ॥ ८३ ॥

सामायिक व्रत में स्थित, चंचलता-रहित परिणाम वाले गृहस्थ के भी पूर्व संचित कर्म उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार राजर्षि चन्द्रावतंसक के नष्ट हुए थे।

देशावकाशिक-व्रत

दिग्व्रते परिमाणं यत्तस्य संक्षेपणं पुनः।
दिने रात्रौ च देशावकाशिक-व्रतमुच्यते ॥ ८४ ॥

दिग्व्रत नामक छठे व्रत में गमना-गमन के लिए जो परिमाण नियत किया गया है, उसे दिन तथा रात्रि में संक्षिप्त कर लेना 'देशावकाशिक व्रत' है।

टिप्पण—दुनिया बहुत विस्तृत है। कोई भी एक मनुष्य सब जगह फैलकर वहाँ की परिस्थितियों से लाभ नहीं उठा सकता। फिर भी मानव मन में व्यक्त या अव्यक्त रूप से ऐसी तृष्णा बनी रहती है और उसके कारण मन व्याकुल, क्षुब्ध और संतप्त बना रहता है। इस स्थिति

से बचने के लिए दिग्व्रत का विधान किया जा चुका है, जिसमें विभिन्न दिशाओं में आने-जाने, व्यापार करने आदि की जीवन भर के लिए सीमा निर्धारित कर ली जाती है। परन्तु, उस निर्धारित सीमा में हमेशा आना-जाना नहीं होता, अतः एक दिन, प्रहर, घंटा आदि तक उस सीमा का संकोच कर लेना 'देशावकाशिक व्रत' कहलाता है। इस व्रत की उपयोगिता इच्छाओं को सीमित करने में है।

पोषध-व्रत

चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि, कुव्यापारनिषेधतम्।
ब्रह्मचर्य-क्रिया-स्नानादित्यागः पोषधव्रतम् ॥ ८५ ॥

अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या, यह चार पर्व दिवस हैं। इनमें उपवास आदि तप करना, पापमय क्रियाओं का त्याग करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और स्नान आदि शरीर शोभा का त्याग करना 'पोषधव्रत' कहलाता है।

गृहिणोऽपि हि धन्यास्ते, पुण्यं ये पोषधव्रतम्।
दुष्पालं पालयन्त्येव, यथा स चुलनीपिता ॥ ८६ ॥

वे गृहस्थ भी धन्य हैं जो चुलनीपिता की भाँति, कठिनाई से पालन किये जाने वाले पवित्र पोषधव्रत का पालन करते हैं।

अतिथि-संविभाग व्रत

दानं चतुर्विधाहारपात्राच्छादनसद्मनाम्।
अतिथिभ्योऽतिथिसंविभागव्रतमुदीरितम् ॥ ८७ ॥

अतिथियों—त्यागमय जीवन यापन करने वाले संयमी पुरुषों को चार प्रकार का आहार—अशन, पान, खादिम, स्वादिम भोजन, पात्र, वस्त्र और मकान देना 'अतिथि-संविभाग व्रत' कहलाता है।

अतिथि-दान का फल

पश्य संगमको नाम सम्पदं वत्सपालकः।
चमत्कारकरीं प्राप, मुनिदानप्रभावतः ॥ ८८ ॥

वछड़ों को चराने वाला संगम नामक ग्वाला मुनिदान के प्रभाव से आश्चर्यजनक सम्पत्ति का अधिकारी बन गया।

अतिचार त्याग

व्रतानि सातिचाराणि, सुकृताय भवन्ति न।
अतिचारास्ततो हेयाः पञ्च पञ्च व्रते व्रते ॥ ८९ ॥

जिस आचार से स्वीकृत व्रत आंशिक रूप से खंडित होता है, वह 'अतिचार' कहलाता है। अतिचार युक्त व्रत कल्याण करने वाले नहीं होते। अतः प्रत्येक व्रत के जो पाँच-पाँच अतिचार हैं, उनका त्याग करना चाहिए।

१. अहिंसा-व्रत के अतिचार

क्रोधाद् बन्ध छविच्छेदोऽधिकभाराधिरोपणम्।
प्रहारोऽन्नादिरोधश्चाहिंसायां परिकीर्त्तिताः ॥ ९० ॥

१. बन्ध—तीव्र क्रोधसे प्रेरित होकर, किसीके मरने की भी परवाह न करके मनुष्य या पशु आदि को बाँधना, २. चमड़ी का छेदन करना, ३. जिसकी जितनी भार उठाने की शक्ति है, उससे अधिक भार लादना या काम लेना, ४. मर्म-स्थल पर प्रहार करना, और ५. जिसका भोजन-पानी अपने अधिकार में है, उसे समय पर भोजन-पानी न देना, ये अहिंसा व्रत के पाँच अतिचार हैं।

२. सत्य-व्रत के अतिचार

मिथ्योपदेशः सहसाऽभ्याख्यानं गुह्यभाषणम्।
विश्वस्तमन्त्रभेदश्च, कूटलेखश्च सूनृते ॥ ९१ ॥

सत्य-व्रत के पाँच अतिचार यह हैं—१. दूसरों को दुःख उपजाने वाला पापजनक उपदेश देना, २. विचार किए विना ही किसी पर दोषारोपण करना, ३. किसी की गुह्य वात जानकर प्रकट कर देना,

४. अपने पर विश्वास रखने वाले मित्र आदि की गुप्त बात प्रकट कर देना, और ५. झूठे लेख-पत्र—वहीखाता आदि लिखना।

३. अस्तेय-व्रत के अतिचार

स्तेनानुज्ञा तदानीतादानं द्विड्राज्यलङ्घनम् ।
प्रतिरूपक्रिया मानान्यत्वं चास्तेयसंश्रिताः ॥ ६२ ॥

अचौर्यव्रत के पाँच अतिचार यह हैं—१. चोर को चोरी करने की प्रेरणा करना, २. चोरी का माल खरीदना, ३. व्यापार के निमित्त विरोधी—शत्रु राजा के निषिद्ध प्रदेश में जाना, ४. मिलावट करके वस्तु का विक्रय करना, ५. झूठे माप-तोल रखना—देने के लिए छोटे और लेने के लिए बड़े नापने-तोलने के उपकरण रखना।

४. ब्रह्मचर्य-व्रत के अतिचार

इत्वरात्तागमोऽनात्तागतिरन्य - विवाहनम् ।
मदनात्याग्रहोऽनङ्गक्रीडा च ब्रह्मणि स्मृताः ॥ ६३ ॥

ब्रह्मचर्य व्रत के पाँच अतिचार कहे गए हैं—१. भाड़ा देकर, थोड़े समय के लिए अपनी स्त्री मान कर वेश्या के साथ गमन करना, २. अपरिगृहीता—वेश्या, कुलटा आदि के साथ गमन करना, ३. अपने पुत्र-पुत्री आदि के सिवाय, कन्यादान आदि के फल की कामना से दूसरों का विवाह कराना, ४. काम-भोग में अत्यन्त आसक्ति रखना, और ५. काम-भोग के अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों से विषय सेवन करना—जैसे हस्तकर्म आदि करना।

टिप्पण—उपर्युक्त पाँच अतिचारों में से पहले और दूसरे अतिचार की व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। ग्रन्थ कर्त्ता ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि जब कोई पुरुष भाड़ा देकर वेश्या को अपनी ही स्त्री समझ लेता है तब उसका सेवन अतिचार समझना चाहिए। क्योंकि वह उस समय अपनी समझ से परस्त्री का नहीं, किन्तु स्वस्त्री का ही

सेवन करता है, अतः व्रत का भंग नहीं करता। परन्तु वास्तविक दृष्टि से, अल्पकाल के लिए गृहित होने पर भी वह परस्त्री ही है, अतः व्रत का भंग होता है। इस प्रकार भंगाभंग रूप होने से 'इत्वरिकागमन अति-चार' माना गया है।

दूसरा अतिचार तभी अतिचार होता है, जब उपयोगहीनता की स्थिति में उसका सेवन किया जाए अथवा अतिक्रम आदि रूप में सेवन किया जाए।

ब्रह्मचर्याणुव्रत दो प्रकार से अंगीकार किया जाता है—स्वदार संतोषव्रत के रूप में और परस्त्री त्याग के रूप में। स्वदार संतोषी के लिए ही उक्त दो अतिचार हैं, परस्त्री त्यागी के लिए नहीं।

शेष तीन अतिचार दोनों के लिए समान रूप से हैं।

५. परिग्रह-परिमाण-व्रत के अतिचार

धन-धान्यस्य कुप्यस्य, गवादेः क्षेत्रवास्तुनः।
हिरण्यहेम्नश्च संख्याऽतिक्रमोऽत्र परिग्रहे ॥ ६४ ॥

१. धन और धान्य सम्बन्धी, २. घर के साज-सामान सम्बन्धी, ३. गाय आदि पशुओं सम्बन्धी, ४. खेत तथा मकान सम्बन्धी, और ५. सोने-चाँदी सम्बन्धी निर्धारित संख्या-परिमाण का उल्लंघन करना परिग्रह-परिमाण-व्रत के अतिचार हैं।

बन्धनाद् भावतो गर्भाद्योजनाद् दानतस्तथा।
प्रतिपन्नव्रतस्यैष, पञ्चधाऽपि न युज्यते ॥ ६५ ॥

धन-धान्य आदि के परिमाण का उल्लंघन करने से व्रत का सर्वथा भंग होना चाहिए, अतिचार नहीं; यह एक प्रश्न है? इसका समाधान यह है कि किए हुए परिमाण का पूरी तरह उल्लंघन करने से व्रतभंग होता है, किन्तु यहाँ जो उल्लंघन बतलाया गया है, वह

व्रत सापेक्ष होने से अतिचार रूप है। अर्थात् जब तक व्रती ऐसा समझता है कि मैंने व्रत भंग नहीं किया है, तब तक वह अतिचार है।

टिप्पण—बन्धन, भाव, गर्भ, योजन और दान की अपेक्षा होने से उक्त पाँचों अतिचार हैं। पाँच अतिचारों में क्रमशः बन्धनादि पाँच सापेक्षताएँ हैं। यथा—किसी ने धन-धान्य का जो परिमाण रखा है, ऋण की वसूली करने पर उससे अधिक हो जाता है तो देनदार से कहना—'यह धन-धान्य अभी अपने पास ही रहने दो, चौमासे के बाद मैं ले लूँगा।' इस प्रकार बन्धन करने से अतिचार लगता है, क्योंकि उस धन-धान्य पर वह अपना स्वत्व स्थापित कर चुका है, फिर भी साक्षात् न लेकर समझता है कि मेरा व्रत भंग नहीं हुआ है।

बरतन-भांडे कदाचित् मर्यादा से अधिक हो जाएँ तो छोटे-छोटे तुड़वाकर बड़े बनवा लेना और संख्या को बराबर रखना, पशुओं की संख्या मर्यादा से अधिक होने पर उनके गर्भ की या छोटे बछड़े आदि की अमुक समय तक गिनती न करना, खेतों की संख्या अधिक हो जाने पर बीच की मेड़ तोड़ कर दो खेतों को एक बना लेना तथा सोना-चाँदी का परिमाण अधिक हो जाने पर कुछ भाग दूसरों के पास रख देना, यह सब अतिचार हैं।

६. दिग्व्रत के अतिचार

स्मृत्यन्तर्धानमूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमः ।
क्षेत्रवृद्धिश्च पञ्चेति स्मृता दिग्विरतिव्रते ॥ ९६ ॥

दिग्व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—१. विभिन्न दिशाओं में जाने की, की हुई मर्यादा को भूल जाना, २—४. ऊर्ध्व दिशा, अधो-दिशा और तिर्यग—तिर्छी दिशा में भूल से, परिमाण से आगे चला जाना, और ५. क्षेत्र की वृद्धि करना अर्थात् एक दिशा के परिमाण को घटाकर दूसरी दिशा का बढ़ा लेना, जिससे परिमाण से आगे जाने का काम पड़ने पर आगे भी जा सके।

७. भोगोपभोग-परिमाण के अतिचार

सचित्तस्तेन सम्बद्धः, सम्मिश्रोऽभिषवस्तथा ।
दुःपक्वाहार इत्येते भोगोपभोगमानगाः ॥ ९७ ॥

१. सचित्त आहार करना, २. सचित्त के साथ सम्बद्ध आहार करना, ३. सचित्त मिश्रित आहार करना, ४. अनेक द्रव्यों के संयोग से बने हुए सुरा-मदिरा आदि का सेवन करना, और ५. अधकच्चा-अधपक्का आहार करना—यह पाँच अतिचार सचित्त भोजन त्यागी के लिए हैं। अनजान में या उपयोग शून्यता की स्थिति में इनका सेवन करना अतिचार है और जान-बूझकर सेवन करने से व्रत भंग हो जाता है।

कर्मादान

अमी भोजनतस्त्याज्याः, कर्मतः खरकर्म तु ।
तस्मिन् पञ्चदशमलान्, कर्मादानानि संत्यजेत् ॥ ९८ ॥

अङ्गार-वन-शकट-भाटक-स्फोट-जीविका ।
दन्त-लाक्ष-रस-केश-विष-वाणिज्यकानि च ॥ ९९ ॥

यन्त्र-पीडा निर्लाञ्छनमसती-पोषणं तथा ।
दव-दानं सरःशोष इति पञ्चदश त्यजेत् ॥ १०० ॥

भोगोपभोग-परिमाण-व्रत दो प्रकार से अंगीकार किया जाता है—भोजन से और कर्म से। ऊपर जो अतिचार बतलाये गये हैं वे भोजन सम्बन्धी हैं। कर्म सम्बन्धी अतिचार खरकर्म अर्थात् कर्मादान हैं। वे पन्द्रह हैं। श्रावक के लिए वह भी त्याज्य हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. अंगार-जीविका, २. वन-जीविका, ३. शकट-जीविका, ४. भाटक-जीविका, ५. स्फोट-जीविका, ६. दन्त-वाणिज्य, ७. लाक्षा-वाणिज्य, ८. रस-वाणिज्य, ९. केश-वाणिज्य, १०. विष-वाणिज्य, ११. यंत्रपीलन-कर्म, १२. निर्लांछन-कर्म, १३. असतीपोषण-कर्म, १४. दव-दान, और १५. सर-शोषण-कर्म।

१. इंगाल-कर्म

> अंगार-भ्राष्ट्रकरणं, कुम्भायःस्वर्णकारिता ।
> ठठारत्वेष्टकापाकाविति ह्यंगारजीविका ॥ १०१ ॥

लकड़ियों के कोयले वनाने का, भड़भूंजे का, कुंभार का, लोहार का, सुनार का, ठठेरे—कसेरे का और ईंट पकाने का धंधा करना 'अंगार-कर्म' कहलाता है ।

२. वन-कर्म

> छिन्नाच्छिन्न-वन-पत्र-प्रसून - फल - विक्रयः ।
> कणानां दलनात्पेपाद् वृत्तिश्च वन-जीविका ॥ १०२ ॥

वनस्पतियों के छिन्न या अच्छिन्न पत्तों, फूलों या फलों को वेचना तथा अनाज को दलने या पीसने का धंधा करना 'वन-जीविका' है ।

३. शकट-कर्म

> शकटानां तदङ्गानां, घटनं खेटनं तथा ।
> विक्रयश्चेति शकट-जीविका परिकीर्त्तिता ॥ १०३ ॥

छकड़ा—गाड़ी आदि या उनके पहिया आदि अंगों को वनाने-वनवाने, चलाने तथा वेचने का धंधा करना 'शकट-जीविका' है ।

४. भाटक-कर्म

> शकटोक्षलुलायोष्ट्र - खराश्वतर - वाजिनाम् ।
> भारस्य वाहनाद् वृत्तिर्भवेद्-भाटक-जीविका ॥ १०४ ॥

गाड़ी, बैल, भैंसा, ऊँट, गधा, खच्चर और घोड़े आदि पर भार लादने की अर्थात् इनसे भाड़ा-किराया कमाकर आजीविका चलाना 'भाटक-जीविका' है ।

५. स्फोट-कर्म

> सरः कूपादि-खनन-शिला-कुट्टन-कर्मभिः ।
> पृथिव्यारम्भ-सम्भूतैर्जीवनं स्फोट-जीविका ॥ १०५ ॥

तालाब, कूप, बावड़ी आदि खुदवाने, और पत्थर फोड़ने-गढ़ने आदि पृथ्वीकाय की प्रचुर हिंसा रूप कर्मों से आजीविका चलाना 'स्फोट-जीविका' है।

६. दन्त-वाणिज्य

दन्त-केश-नखास्थि-त्वग्-रोम्णो ग्रहणमाकरे।
त्रसांगस्य वणिज्यार्थं, दन्त-वाणिज्यमुच्यते ॥ १०६ ॥

हाथी के दांत, चमरी गाय आदि के बाल, उलूक आदि के नाखून, शंख आदि की अस्थि, शेर-चीता आदि के चर्म और हंस आदि के रोम और अन्य त्रसजीवों के अंगों को, उनके उत्पत्ति स्थान में जाकर लेना या पेशगी द्रव्य देकर खरीदना 'दन्त-वाणिज्य' कहलाता है।

७. लाक्षा-वाणिज्य

लाक्षा-मनःशिला-नीली-धातकी-टंकणादिनः।
विक्रयः पापसदनं लाक्षा-वाणिज्यमुच्यते ॥ १०७ ॥

लाख, मैनसिल, नील, धातकी के फूल, छाल आदि, टंकण-खार आदि पाप के कारण हैं, अतः उनका व्यापार भी पाप का कारण है। यह 'लाक्षावाणिज्य' कर्मादान कहलाता है।

८-९. रस-केश-वाणिज्य

नवनीत-वसा - क्षौद्र - मद्य - प्रभृति - विक्रयः।
द्विपाच्चतुष्पाद्-विक्रयो वाणिज्यं रस-केशयोः ॥ १०८ ॥

मक्खन, चर्बी, मधु और मद्य आदि बेचना 'रस-वाणिज्य' कहलाता है और द्विपद एवं चतुष्पद अर्थात् पशु-पक्षी आदि का विक्रय करने का धंधा करना 'केश-वाणिज्य' कहलाता है।

१०. विष-वाणिज्य

विषास्त्र-हल-यंत्रायो-हरितालादि-वस्तुनः।
विक्रयो जीवितघ्नस्य, विष-वाणिज्यमुच्यते ॥ १०९ ॥

विप, शस्त्र, हल, यंत्र, लोहा और हड़ताल आदि प्राण घातक वस्तुओं का व्यापार करना 'विप-वाणिज्य' कहलाता है।

११. यंत्रपीडन-कर्म

तिलेक्षु-सर्षपैरण्ड-जलयन्त्रादि-पीडनम्।
दलतैलस्य च कृतिर्यन्त्रपीडा प्रकीर्त्तिता॥ ११०॥

तिल, ईख, सरसों और एरंड आदि को पीलने का तथा अरहट आदि चलाने का धंधा करना, तिलादि देकर तेल लेने का धंधा करना और इस प्रकार के यंत्रों को वनाकर आजीविका चलाना 'यंत्रपीडन-कर्म' कहलाता है।

१२. निर्लांछन-कर्म

नासोवेधोऽङ्कनं मुष्कच्छेदनं पृष्ठ-गालनम्।
कर्ण-कम्बल-विच्छेदो निर्लाञ्छनमुदीरितम्॥ १११॥

जानवरों की नाक बींधना—नत्थी करना, आंकना—डाम लगाना, वधिया—खस्सी करना, ऊँट आदि की पीठ गालना और कान तथा गल-कंवल का छेदन करना 'निर्लांछन-कर्म' कहा गया है।

१३. असती-पोषण-कर्म

सारिका-शुक-मार्जार-श्व-कुर्कुट-कलापिनाम्।
पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसती-पोषणं विदुः॥ ११२॥

मैना, तोता, बिल्ली, कुत्ता, मुर्गा एवं मयूर को पालना, दासी का पोषण करना—किसी को दास-दासी बनाकर रखना और पैसा कमाने के लिए दुश्शील स्त्रियों को रखना 'असती-पोषण-कर्म' कहलाता है।

१४-१५. दवदान तथा सर-शोषण-कर्म

व्यसनात् पुण्यबुद्धया वा, दवदानं भवेद् द्विधा।
सरःशोषः सरःसिन्धु-ह्रदादेरम्बुसंप्लवः॥ ११३॥

आदत के वश होकर या पुण्य समझ कर दव—जंगल में आग लगाना 'दव-दान' कहलाता है और तालाब, नदी, द्रह आदि को सुखा देना 'सरःशोष कर्म' है।

टिप्पण—उक्त पन्द्रह कर्मादान दिग्दर्शन के लिए हैं। इनके समान विशेष हिंसाकारी अन्य व्यापार-धंधे भी हैं, जो श्रावक के लिए त्याज्य हैं। यही बात अन्यान्य व्रतों के अतिचारों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। एक-एक व्रत के पाँच अतिचारों के समान अन्य अतिचार भी व्रत-रक्षा के लिए त्याज्य हैं।

८. अनर्थदण्ड-व्रत के अतिचार

संयुक्ताधिकरणत्वमुपभोगातिरिक्तता ।
मौखर्यमथ कौत्कुच्यं कन्दर्पोऽनर्थदण्डगाः ॥ ११४ ॥

अनर्थदण्ड-त्याग व्रत के पाँच अतिचार होते हैं—१. संयुक्ताधिकरणता—हल, मूसल, गाड़ी आदि हिंसाजनक उपकरणों को जोड़कर तैयार रखना, जैसे– ऊखल के साथ मूसल, हल के साथ फाल, गाड़ी के साथ जुआ, धनुष के साथ वाण आदि अधिकरण संयुक्त होने से दूसरा कोई सहज ही उसे ले सकता है। २. आवश्यकता से अधिक भोग-उपभोग की वस्तुएँ रखना। ३. मौखर्य–वाचालता अर्थात् बिना विचारे बकवाद करना। ४. कौत्कुच्य—भाँड़ के समान शारीरिक कुचेष्टाएँ करना। ५. कंदर्प—कामोत्पादक वचनों का प्रयोग करना।

९. सामायिक-व्रत के अतिचार

काय-वाङ्मनसां दुष्ट-प्रणिधानमनादरः ।
स्मृत्यनुपस्थापनञ्च स्मृताः सामायिक-व्रते ॥ ११५ ॥

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं—१-३. सामायिक के समय मन, वचन और काय—शरीर की सदोष प्रवृत्ति होना, ४. सामायिक

के प्रति आदर-भाव न होना, ५. सामायिक ग्रहण करने या उसके समय का स्मरण न रहना, जैसे कि मैंने सामायिक की है अथवा नहीं ?

१०. देशावकाशिक-व्रत के अतिचार

प्रेष्यप्रयोगानयने पुद्गलक्षेपणं तथा ।
शब्दरूपानुपातौ च व्रते देशावकाशिके ॥ ११६ ॥

देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार हैं—१. प्रेष्य प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर, प्रयोजन होने पर सेवक आदि को भेज देना, २. आनयन—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु दूसरे से मँगवा लेना, ३. प्रद्गलक्षेप—मर्यादित क्षेत्र के बाहर के मनुष्य का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए कंकर आदि फेंकना, ४. शब्दानुपात—मर्यादित क्षेत्र से बाहर के मनुष्य को आवाज देकर बुला लेना, और ५. रूपानुपात—मर्यादित क्षेत्र से वाहर के आदमी को अपना चेहरा दिखलाना, जिससे वह उसके पास आ जाए ।

टिप्पण—इस व्रत का प्रयोजन तृष्णा को सीमित करना है। व्रती जब व्रत को भंग न करते हुए भी व्रत के प्रयोजन को भंग करने वाला कोई कार्य करता है, तो वह 'अतिचार' कहलाता है ।

११. पोषध-व्रत के अतिचार

उत्सर्गादानसंस्तारानननवेक्ष्याप्रमृज्य च ।
अनादरः स्मृत्यनुपस्थापनं चेति पोषधे ॥ ११७ ॥

पोषध व्रत के पाँच अतिचार हैं—१. भूमि को बिना देखे और बिना प्रमार्जन किए मल-मूत्र आदि का उत्सर्ग—त्याग करना। २. पाट-चौकी आदि वस्तुएँ बिना देखें और बिना प्रमार्जन किए रखना-उठाना। ३. बिना देखे, बिना पूंजे बिस्तर-आसन बिछाना। ४. पोषध-व्रत के प्रति आदर न होना, और ५. पोषध करके भूल जाना ।

१२. अतिथि संविभाग-व्रत के अतिचार

सच्चित्ते क्षेपणं तेन, पिधानं काललङ्घनम् ।
मत्सरोऽन्योपदेशश्च, तुर्ये शिक्षाव्रते स्मृताः ॥ ११८ ॥

१. आहारार्थ मुनि के आने पर देय वस्तु को सचित्त पदार्थ के ऊपर रख देना। २. सचित्त पदार्थ से ढँक देना। ३. मुनियों की भिक्षा का समय बीत जाने पर भोजन बनाना। ४. दूसरे दाता के प्रति या मुनि के प्रति ईर्षा-भाव से प्रेरित होकर दान देना, तथा ५. 'यह पराई वस्तु है'—ऐसा बहाना करके न देना, यह चौथे शिक्षा व्रत के पाँच अतिचार हैं।

महाश्रावक

एवं व्रतस्थितो भक्त्या, सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन् ।
दयाया चातिदीनेषु, महाश्रावक उच्यते ॥ ११९ ॥

इस प्रकार बारह व्रतों में स्थित तथा भक्तिपूर्वक सात क्षेत्रों में—पोषधशाला, धर्मस्थान, आगम, श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी के निमित्त, तथा करुणापूर्वक अति दीन जनों को दान देने वाला 'महाश्रावक' कहलाता है।

त्याग की प्रशंसा

यः सद् बाह्यमनित्यं च, क्षेत्रेषु न धनं वपेत् ।
कथं वराकश्चारित्रं, दुश्चरं सः समाचरेत् ॥ १२० ॥

जो धन विद्यमान है, वह बाह्य शरीर से भिन्न है और अनित्य है। अतः जो व्यक्ति उत्तम पात्र के मिलने पर भी ऐसे धन का त्याग नहीं कर सकता, वह दुश्चर चारित्र का क्या पालन करेगा? चारित्र के लिए तो सर्वस्व का और साथ ही आन्तरिक विकारों का भी परित्याग करना पड़ता है।

श्रावक की दिनचर्या

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् परमेष्ठि स्तुतिं पठन् ।
किं धर्मा किं कुलश्चास्मि किं व्रतोऽस्मीति च स्मरन्॥१२१॥

ब्रह्म मुहूर्त में निद्रा का परित्याग करके श्रावक पञ्च परमेष्ठी की स्तुति करे। तत्पश्चात् वह यह विचार करे—"मेरा धर्म क्या है ? मैं किस कुल में जन्मा हूँ ? मैंने कौन से व्रत स्वीकार किए हैं ?"

शुचि पुष्पामिष-स्तोत्रैर्देवमभ्यर्च्य वेश्मनि ।
प्रत्याख्यानं यथाशक्ति कृत्वा देवगृहं व्रजेत् ॥ १२२ ॥
प्रविश्य विधिना तत्र त्रिः प्रदक्षिणयेज्जिनम् ।
पुष्पादिभिस्तमभ्यर्च्य स्तवनैरुत्तमैः स्तुयात् ॥ १२३ ॥

तत्पश्चात् पवित्र होकर पुष्प-नैवेद्य एवं स्तोत्र आदि से अपने गृहचैत्य में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करे। फिर शक्ति के अनुसार प्रत्याख्यान करके जिन-मन्दिर में जाए।

जिन-मन्दिर में प्रवेश करके विधिपूर्वक जिन-देव की तीन बार प्रदक्षिणा करे, फिर पुष्प आदि द्रव्यों से पूजा करके श्रेष्ठ स्तोत्रों से स्तुति करे।

टिप्पण—श्रावक को प्रभात में क्या करना चाहिए, यह बतलाना ही यहाँ आचार्य का अभिप्रेत है। उन्होंने अपनी परम्परागत मान्यता के अनुसार यह विधान किया है। किन्तु जो गृहस्थ मंदिरमार्गी नहीं हैं, उन्हें भी प्रभातकालीन धर्मकृत्य तो करना ही चाहिए। वे अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार सामायिक आदि कृत्य करें। किन्तु प्रभात के सुन्दर समय में धर्मकृत्य किये बिना नहीं रहना चाहिए।

गुरु-भक्ति

ततो गुरुणाम्यर्णे प्रतिपत्तिपुरः सरम् ।
विदधीत विशुद्धात्मा प्रत्याख्यान-प्रकाशनम् ॥ १२४ ॥

समस्त कार्यों से निवृत्त होकर वह विशुद्ध आत्मा—श्रावक गुरु की सेवा में उपस्थित होकर गुरुदेव को भक्ति पूर्वक वन्दन-नमस्कार करे और अपने ग्रहण किए हुए प्रत्याख्यान को उनके समक्ष प्रकट करे।

अभ्युत्थानं तदालोकेऽभियानं च तदागमे।
शिरस्यञ्जलिसंश्लेषः, स्वयमासनढौकनम् ॥ १२५ ॥

आसनाभिग्रहो भक्त्या वन्दना पर्युपासना।
तद्यानेऽनुगमश्चेति प्रतिपत्तिरियं गुरोः ॥ १२६ ॥

गुरु को देखते ही खड़े हो जाना, आने पर सामने जाना, दूर से ही मस्तक पर अंजलि जोड़ना, बैठने के लिए स्वयं आसन प्रदान करना, गुरु के बैठ जाने के बाद बैठना, भक्ति पूर्वक वंदना और उपासना करना, उनके गमन करने पर कुछ दूर तक अनुगमन करना, यह सब गुरु की भक्ति है।

दिन-चर्या

ततः प्रतिनिवृत्तः सन् स्थानं गत्वा यथोचितम्।
सुधीर्धर्माऽविरोधेन, विदधीतार्थ-चिन्तनम् ॥ १२७ ॥

धर्म स्थान से लौटकर, आजीविका के स्थान में जाकर बुद्धिमान् श्रावक इस प्रकार धनोपार्जन करने का प्रयत्न करे कि उसके धर्म एवं व्रत-नियमों में बाधा न पहुँचे।

ततो माध्याह्निकीं पूजां कुर्यात् कृत्वा च भोजनम्।
तद्विद्भिः सह शास्त्रार्थरहस्यानि विचारयेत् ॥ १२८ ॥

तत्पश्चात् मध्याह्न कालीन साधना करे और फिर भोजन करके शास्त्र वेत्ताओं के साथ शास्त्र के अर्थ का विचार करे।

ततश्च सन्ध्यासमये, कृत्वा देवार्चनं पुनः।
कृतावश्यककर्मा च, कुर्यात्स्वाध्यायमुत्तमम् ॥ १२९ ॥

संध्या समय पुनः देव-गुरु की उपासना करके प्रतिक्रमण आदि षट् आवश्यक क्रिया करे और फिर उत्तम स्वाध्याय करे।

न्याय्ये काले ततो देव-गुरुस्मृति-पवित्रितः।
निद्रामल्पामुपासीत, प्रायेणाब्रह्म-वर्जकः ॥ १३० ॥

स्वाध्याय आदि धर्म-ध्यान करने के बाद उचित समय होने पर देव और गुरु के स्मरण से पवित्र बना हुआ और प्रायः अब्रह्मचर्य का त्यागी या नियमित जीवन बिताने वाला श्रावक अल्प निद्रा ले।

निद्राच्छेदे योषिदङ्गसतत्त्वं परिचिन्तयेत्।
स्थूलभद्रादिसाधूनां तन्निवृत्तिं परामृशन् ॥ १३१ ॥

रात्रि के लगभग व्यतीत हो जाने पर निद्रा त्याग करने के बाद स्थूलभद्र आदि साधुओं ने किस प्रकार काम-वासना का त्याग किया था, इसका विचार करते हुए काम-वासना के निस्सार, अपवित्र, दुःखद एवं भयावने स्वरूप का चिन्तन करे।

स्त्री-शरीर की अशुचिता

यकृच्छकृन्मल-श्लेष्म-मज्जास्थि-परिपूरिताः।
स्नायुस्यूता बही रम्याः स्त्रियश्चर्मप्रसेविकाः ॥ १३२ ॥
बहिरन्तर्विपर्यासः स्त्री-शरीरस्य चेद् भवेत्।
तस्यैव कामुकः कुर्याद् गृध्रगोमायुगोपनम् ॥ १३३ ॥
स्त्री-शस्त्रेणापि चेत्कामो जगदेतज्जिगीषति।
तुच्छपिच्छमयं शस्त्रं किं नादत्ते स मूढधीः ॥ १३४ ॥

स्त्रियों के शरीर निरन्तर विष्ठा, मल, श्लेष्म, मज्जा और हाड़ों से परिपूर्ण हैं, अतः वे केवल बाहर से ही स्नायु से सिली हुई धौंकनी के समान रमणीय प्रतीत होते हैं।

स्त्री-शरीर में अगर उलट-फेर कर दिया जाए, अर्थात् भीतर का रूप बाहर और बाहर का रूप अन्दर कर दिया जाए, तो कामी पुरुष

को दिन-रात गीधों और सियालों आदि से रक्षा करनी पड़े। उसके भोग करने का अवसर ही न मिले।

अगर काम स्त्री-शरीर रूपी शस्त्र से भी सारे जगत् को जीतना चाहता है, तो वह मूढ़ पिच्छ रूप शस्त्र क्यों नहीं ग्रहण करता? अभिप्राय यह है कि काम अगर समग्र विश्व को जीतना चाहता है, तो मल-मूत्र आदि से भरे हुए और कठिनाई से प्राप्त होने वाले स्त्री-शरीर को अपना शस्त्र बनाने के बजाय काकादि के पिच्छों को, जो ऐसे अपवित्र और दुर्लभ नहीं है, अपना शस्त्र बना लेता तो कहीं बेहतर होता। स्त्री-शरीर में तो काकादि के पिच्छों के बराबर भी सार नहीं है।

टिप्पण—जैनागम में 'लिंग' और 'वेद' दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। लिंग का अर्थ 'आकार' है और वेद का अभिप्राय 'वासना' है। अतः पतन का कारण लिंग नहीं, वेद है। आकार—भले ही स्त्री का हो या पुरुष का, पतन का कारण नहीं है, पतन का कारण है—वासना। अतः स्त्री बुरी नहीं है। वह केवल वासना की साकार मूर्ति नहीं है, त्याग-तप एवं सेवा की प्रतिमा भी है। वह भी पुरुष की तरह साधना करके मुक्ति को प्राप्त कर सकती है। अतः उसे निन्दा एवं प्रताड़न के योग्य समझना भारी भूल है।

प्रश्न हो सकता है कि फिर पूर्वाचार्यों एवं प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने नारी की निन्दा क्यों की? इसका समाधान यह है कि मध्य युग में नारी को भोग-विलास का साधन मान लिया गया था और सन्त भी इस सामन्तवादी विचारधारा से अछूते नहीं रह पाए। उन्होंने जब भी वासना की निन्दा की तो उसके साथ स्त्री के शरीर का सम्बन्ध जोड़ दिया।

वस्तुतः देखा जाए तो जैसे—पुरुष के लिए स्त्री का शरीर विकार भाव जागृत करने का निमित्त बन सकता है, उसी प्रकार पुरुष का

शरीर नारी के मन में विकार भाव जगाने का साधन बन सकता है और वह (पुरुष का शरीर) भी स्त्री के शरीर की तरह मल-मूत्र एवं विष्ठा से भरा हुआ है, निस्सार है, मांस और हड्डियों का पिञ्जर है। स्त्री-शरीर के वर्णन में दी गई समस्त बातें पुरुष-शरीर में भी घटित होती हैं। अतः प्रस्तुत में स्त्री-शरीर की निस्सारता का वर्णन करने का उद्देश्य स्त्री की निन्दा करना नहीं, बल्कि विकारों की निन्दा करना है, उनकी निस्सारता को बताना है। क्योंकि, स्त्री भी पुरुष की तरह मुक्ति को प्राप्त कर सकती है। अतः उसकी निन्दा करना उचित नहीं कहा जा सकता है।

संकल्पयोनिनानेन, हहा विश्वं विडम्बितम्।
तदुत्खनामि संकल्पं, मूलमस्येति चिन्तयेत्॥ १३५॥

निद्रा भंग होने के पश्चात् श्रावक को यह भी विचार करना चाहिए कि संकल्प-विकल्प से उत्पन्न होने वाले इस काम ने सारे विश्व की बिडम्बना कर रखी है। अतः मैं विषय-विकार की जड़—संकल्प-विकल्प को ही उखाड़ फैकूंगा।

यो यः स्याद्बाधको दोषस्तस्य तस्य प्रतिक्रियाम्।
चिन्तयेद्दोषमुक्तेषु, प्रमोदं यतिषु व्रजन्॥१३६॥

जिस व्यक्ति को अपने जीवन में जो दोष दिखाई दे, उसे उस दोष से मुक्त मुनियों पर प्रमोद भाव धारण करते हुए उस दोष से मुक्त होने का विचार करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो रोग हो, उसी के इलाज का विचार करना उचित है। जिसमें राग की अधिकता हो उसे वैराग्य का, क्रोध अधिक हो तो क्षमा का एवं मान अधिक होने पर नम्रता का विचार करना लाभप्रद होता है।

दुःस्थां भवस्थितिं स्थेम्ना सर्वजीवेषु चिन्तयन्।
निसर्गसुखसर्गं तेष्वपवर्गं विमार्गयेत्॥१३७॥

संसार परिभ्रमण सभी जीवों के लिए दुःखमय है। भवचक्र में पड़ा हुआ कोई भी प्राणी सुखी नहीं रहता। अतः स्थिर चित्त से इस प्रकार विचार करता हुआ श्रावक सब जीवों के लिए मोक्ष की कामना करे, जहाँ स्वाभाविक रूप से सुख का ही सद्भाव है।

संसर्गेऽप्युपसर्गाणां दृढ-व्रत - परायणः।
धन्यास्ते कामदेवाद्याः श्लाघ्यास्तीर्थकृतामपि ॥ १३८ ॥

निद्रा त्याग के पश्चात् ऐसा भी विचार करना चाहिए कि "उपसर्गों की प्राप्ति होने पर भी अपने व्रत के रक्षण और पालन में दृढ़ रहने वाले कामदेव आदि श्रावक तीर्थंकरों की प्रशंसा के पात्र बने थे। अतः वे धन्य हैं।"

जिनो देवः कृपा धर्मो गुरवो यत्र साधवः।
श्रावकत्वाय कस्तस्मै न श्लाघयेताविमूढधीः ॥ १३९ ॥

श्रावकत्व की प्राप्ति होने पर वह वीतराग जिनेन्द्र को देव, दया को धर्म और पंच महाव्रतधारी साधु को गुरु के रूप में स्वीकार करता है। ऐसे शुद्ध देव, गुरु और धर्म को मानने वाले श्रावक की कौन बुद्धिमान प्रशंसा नहीं करेगा?

श्रावक के मनोरथ

जिनधर्मविनिर्मुक्तो, मा भूवं चक्रवर्त्यपि।
स्यां चेटोऽपि दरिद्रोऽपि, जिनधर्माधिवासितः ॥ १४० ॥

जैन-धर्म से वंचित होकर मैं चक्रवर्ती भी न होऊँ, किन्तु जैन-धर्म को प्राप्त करके मुझे दास होना और दरिद्र होना भी स्वीकार है।

त्यक्तसंगो जीर्णवासा, मलक्लिन्नकलेवरः।
भजन् माधुकरीं वृत्तिं, मुनिचर्यां कदा श्रये ॥ १४१ ॥
त्यजन् दुःशील-संसर्गं, गुरुपाद-रजः स्पृशन्।
कदाऽहं योगमभ्यस्यन्, प्रभवेयं भवच्छिदे ॥ १४२ ॥

महानिशायां प्रकृते, कायोत्सर्गे पुराद्‌बहिः ।
स्तंभवत्स्कंधकर्षणं, वृषाः कुर्युः कदा मयि ॥ १४३ ॥

वने पद्मासनासीनं, क्रोडस्थित-मृगार्भकम् ।
कदाऽऽघ्रास्यंति वक्त्रे मां जरन्तो मृगयूथपाः ॥ १४४ ॥

शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि ।
मोक्षे भवे भविष्यामि निर्विशेषमतिः कदा ॥ १४५ ॥

अधिरोढुं गुणश्रेणिं, निश्रेणीं मुक्तिवेश्मनः ।
परानन्दलताकन्दान्, कुर्यादिति मनोरथान् ॥ १४६ ॥

श्रावक को प्रतिदिन यह मनोरथ करना चाहिए कि "मेरे जीवन में वह मंगलमय दिन कब आएगा, जब मैं समस्त पर-पदार्थों के संयोगों का त्यागी, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र का धारक, शरीर के स्नान आदि संस्कार से निरपेक्ष होकर मधुकरी वृत्ति युक्त मुनिचर्या का अवलम्बन लूँगा !"

"अनाचारियों की संगति का त्याग करके, गुरुदेव की चरण-रज का स्पर्श करता हुआ, योग का अभ्यास करके जन्म-मरण के चक्र को समाप्त करने में मैं कब समर्थ होऊँगा ?"

ऐसा अवसर कब आएगा कि "मैं घोर रात्रि के समय, नगर से बाहर निश्चल भाव से कार्योत्सर्ग में लीन रहूँ और मुझे स्तंभ—खंभा समझ कर बैल मेरे शरीर से अपना कंधा घिसें ? मुझे ध्यान की ऐसी तल्लीनता और निश्चलता कब प्राप्त होगी ?"

अहा, कब वह अवसर प्राप्त होगा कि "मैं वन में पद्मासन जमाकर स्थित होऊँ, हिरन के बच्चे मेरी गोद में आकर बैठ जाएँ और मृगों की टोली का मुखिया वृद्ध मृग मुझे जड़ समझ कर मेरे मुख को सूँघे ?"

ऐसा शुभ अवसर कब आएगा कि "मैं शत्रु और मित्र पर, तृण और स्त्रियों के समूह पर, स्वर्ण और पाषाण पर, मणि और मिट्टी पर

तथा मोक्ष और संसार पर समबुद्धि रख सकूं ? अर्थात् समस्त दुःखों का निवारक और समस्त सुख का कारण समभाव मुझे कब प्राप्त होगा ?"

यह मनोरथ मोक्ष रूपी महल में प्रविष्ट होने के लिए निश्रेणि—नसैनी के समान गुणस्थानों की श्रेणी पर उत्तरोत्तर आरूढ़ होने के लिए आवश्यक हैं। परमानन्द रूपी लता के कंद हैं। श्रावक को इन मनोरथों का सदा चिन्तन करना चाहिए।

इत्याहोरात्रिकीं चर्यमिप्रमत्तः समाचरन् ।
यथावदुक्तवृत्तस्थो गृहस्थोऽपि विशुध्यति ॥ १४७ ॥

इस प्रकार दिन-रात सम्बन्धी चर्या का अप्रमत्त रूप से सेवन करने वाला और पूर्वोक्त व्रतों में स्थिर रहने वाला गृहस्थ, साधु न होने पर भी पापों का क्षय करने में समर्थ होता है।

साधना विधि

सोऽथावश्यक-योगानां, भंगे मृत्योरथागमे।
कृत्वा संलेखनामादौ, प्रतिपद्य च संयमम् ॥ १४८ ॥
जन्म-दीक्षा-ज्ञान-मोक्ष-स्थानेषु श्रीमदर्हताम् ।
तदभावे गृहेऽरण्ये, स्थण्डिले जन्तुवर्जिते ॥ १४९ ॥
त्यक्त्वा चतुर्विधाहारं, नमस्कार-परायणः।
आराधनां विधायोच्चैश्चतुः शरणमाश्रितः ॥ १५० ॥
इहलोके परलोके जीविते मरणे तथा।
त्यक्त्वाशंसां निदानं च, समाधिसुधयोक्षितः ॥ १५१ ॥
परीषहोपसर्गेभ्यो निर्भीको जिनभक्ति भाक्।
प्रतिपद्येत मरणमानन्दः श्रावको यथा ॥ १५२ ॥

श्रावक जब अवश्य करने योग्य संयम-व्यापारों का सेवन करने में असमर्थ हो जाय अथवा मृत्यु का समय सन्निकट आ पहुंचे, तब वह सर्व-प्रथम संलेखना करे अर्थात् आहार का त्याग करके शरीर और

क्रोधादि का त्याग करके कषायों को कृश पतला करे और संयम को स्वीकार करे।

संलेखना करने के लिए अरिहन्तों के जन्म-कल्याणक, दीक्षा-कल्याणक, ज्ञान-कल्याणक या निर्वाण-कल्याणक के स्थलों पर पहुँच जाए। कल्याणक भूमि समीप में न हो तो घर पर या वन में, जीव-जन्तु से रहित शान्त-एकान्त भूमि में संलेखना करे।

सर्वप्रथम अशन, पान, खादिम, स्वादिम—यह चार प्रकार का आहार त्याग कर नमस्कार मंत्र का जाप करने में तत्पर हो। फिर ज्ञानादि की निरतिचार आराधना करे और अरिहन्त आदि चार शरणों का अवलम्बन रखे।

उस समय श्रावक के चित्त में न इहलोक सम्बन्धी कामना रहे और न परलोक सम्बन्धी। उसे न जीवित रहने की इच्छा हो और न मरने की। उसे निदान युक्त की जाने वाली साधना के लौकिक फल की लिप्सा भी न रहे। वह पूरी तरह निष्काम भाव होकर समाधि रूपी सुधा से सिंचित बना रहे अर्थात् समाधि भाव में संलग्न रहे।

वह परीषहों और उपसर्गों से भयभीत न हो तथा जिन-भगवान् की भक्ति में तन्मय रहे। इस प्रकार आनन्द श्रावक की भाँति समाधि-मरण को प्राप्त करे।

आराधना का फल

प्राप्तः स कल्पेष्विन्द्रत्वमन्यद्वा स्थानमुत्तमम्।
मोदतेऽनुत्तर-प्राज्य-पुण्य-संभारभाक् ततः ॥१५३॥
च्युत्वोत्पद्य मनुष्येषु, भुक्त्वा भोगान् सुदुर्लभान्।
विरक्तो मुक्तिमाप्नोति शुद्धात्मान्तर्भवाष्टकम् ॥१५४॥

इस प्रकार श्रावक-धर्म की आराधना करने वाला गृहस्थ देवलोक में इन्द्र पद या अन्य किसी श्रेष्ठ पद को प्राप्त करता है। वहाँ जगत् के

सर्वोत्कृष्ट और महान् पुण्य का उपभोग करता हुआ आनन्द में रहता है।

देव आयु पूर्ण होने पर वह वहाँ से च्युत होकर, मनुष्य गति में जन्म लेता है और दुर्लभ भोगों को भोग कर तथा संसार से विरक्त होकर वह शुद्धात्मा उसी भव में या सात-आठ भवों में मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

उपसंहार

इति संक्षेपतः सम्यक्-रत्न-त्रयमुदीरितम्।
सर्वोऽपि यदनासाद्य, नासादयति निर्वृतिम्॥ १५५॥

जिस रत्नत्रय को प्राप्त किये विना कोई भी आत्मा मुक्ति नहीं पा सकता, उस रत्न-त्रय—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र की साधना का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

जिस धर्म-साधना के द्वारा अपवर्ग—मुक्ति की प्राप्ति हो, उसे 'योग' कहते हैं।

—आचार्य हरिभद्र

समस्त आत्म शक्तियों का पूर्ण विकास कराने वाली क्रिया, साधना एवं आचार-परंपरा 'योग' है।

—लार्ड एवेबरीने

ज्ञान तभी परिपक्व समझा जाता है, जबकि ज्ञान के अनुरूप आचरण किया जाए। असल में यह आचरण ही 'योग' है।

—पं० सुखलाल संघवी

सधना के लिए आचार के पहले ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान के बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती।

—भगवान महावीर

जिसमें योग—एकाग्रता नहीं है, वह योगी नहीं; ज्ञान-बन्धु है।

—योगवासिष्ठ

योग का कलेवर—शरीर एकाग्रता है और उसकी आत्मा अहंत्व—ममत्व का त्याग है। जिसमें केवल एकाग्रता है, वह 'व्यवहारिक-योग' है और जिसमें एकाग्रता के साथ अहंभाव का त्याग भी है, वह 'परमार्थ-योग' है।

—पं० सुखलाल संघवी

चतुर्थ प्रकाश

आत्मा और रत्न-त्रय का अभेद

तीसरे प्रकाश में धर्म और धर्मी के भेद की विवक्षा करके रत्न-त्रय को आत्मा के मोक्ष का कारण वतलाया है, किन्तु दूसरे दृष्टिकोण से धर्म और धर्मी का अभेद भी सिद्ध होता है। इस अपेक्षा से अव रत्नत्रय के साथ आत्मा के एकत्व भाव का निरूपण किया जाता है।

आत्मैव दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्यथवा यतेः।
यत्तदात्मक एवैष शरीरमधितिष्ठति ॥ १ ॥

मुनि की आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है, क्योंकि आत्मा इसी रूप में शरीर में स्थित है।

अभेद का समर्थन

आत्मानमात्मना वेत्ति मोहत्यागाद्य आत्मनि।
तदेव तस्य चारित्रं तज्ज्ञानं तच्चदर्शनम् ॥ २ ॥

मोह का त्याग करके जो योगी अपनी आत्मा को, अपनी आत्मा के द्वारा अपनी ही आत्मा में जानता है, वही उसका चारित्र है, वही उसका ज्ञान है और वही उसका दर्शन है।

आत्म-ज्ञान का महत्व

आत्माज्ञानभवं दुःखमात्मज्ञानेन हन्यते।
तपसाप्यात्म-विज्ञानहीनैश्छेत्तुं न शक्यते ॥ ३ ॥

समस्त दुःख का कारण आत्मा सम्बन्धी अज्ञान है, अतः उसके विरोधी आत्म-ज्ञान से ही उसका क्षय होता है। जो आत्म-ज्ञान से रहित हैं, वे तपस्या करके भी दुःख का छेदन नहीं कर सकते।

अयमात्मैव चिद्रूपः शरीरी कर्मयोगतः ।
ध्यानाग्निदग्धकर्मा तु सिद्धात्मा स्यान्निरञ्जनः ॥ ४ ॥
अयमात्मैव संसारः कषायेन्द्रियनिर्जितः ।
तमेव तद्विजेतारं मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥ ५ ॥

वास्तव में आत्मा चेतन स्वरूप है। कर्मों के संयोग से यह शरीर-धारी बनती है। जब यह आत्मा शुक्ल-ध्यान रूपी अग्नि से समस्त कर्मों को भस्म कर देती है, तो निर्मल होकर मुक्तात्मा बन जाती है।

किन्तु कषायों और इन्द्रियों से पराजित होकर यह आत्मा संसार में रहकर शरीर धारण करती है और जब आत्मा कषायों तथा इन्द्रियों को जीत लेती है, तो उसी को प्रबुद्ध पुरुष मोक्ष कहते हैं।

कषाय-स्वरूप

स्युः कषाया क्रोधमानमायालोभाः शरीरिणाम् ।
चतुर्विधास्ते प्रत्येकं भेदैः संज्वलनादिभिः ॥ ६ ॥
पक्षं संज्वलनः प्रत्याख्यानो मासचतुष्टयम् ।
अप्रत्याख्यानको वर्षं जन्मानन्तानुबन्धकः ॥ ७ ॥
वीतराग-यति-श्राद्ध - सम्यग्दृष्टित्व - घातकाः ।
ते देवत्व मनुष्यत्व तिर्यक्त्व - नरकप्रदाः ॥ ८ ॥

शरीरधारी आत्माओं में चार कषाय होते हैं—१. क्रोध, २. मान, ३. माया, और ४. लोभ। संज्वलन आदि के भेद से यह क्रोधादि कषाय चार-चार प्रकार के हैं—

१. संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ।

२. अप्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ।

३. प्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ ।

४. अनन्तानुबन्धी—क्रोध, मान, माया लोभ ।

संज्वलन कषाय की काल-मर्यादा पन्द्रह दिन की है, प्रत्याख्यानावरण की चार मास की, अप्रत्याख्यानावरण की एक वर्ष की और अनन्तानुबन्धी कषाय की जन्म-पर्यन्त की है। इतने काल तक इन कषायों के संस्कार रहते हैं।

संज्वलन की विद्यमानता में वीतरागता की प्राप्ति नहीं होती। प्रत्याख्यानावरण कषाय साधुता—सर्वविरति संयम को उत्पन्न नहीं होने देता। अप्रत्याख्यानावरण कषाय की मौजूदगी में श्रावकपन नहीं आता और अनन्तानुबन्धी कषाय जब तक विद्यमान रहता है तब तक सम्यग्दर्शन की भी प्राप्ति नहीं होती। संज्वलन आदि कषाय क्रमशः देव-गति, मनुष्य-गति, तिर्यञ्च-गति और नरक-गति के कारण हैं।

१. क्रोध-कषाय

तत्रोपतापकः क्रोधः क्रोधो वैरस्य कारणम् ।
दुर्गतेर्वर्त्तनी क्रोधः क्रोधः शम-सुखार्गला ॥ ९ ॥
उत्पद्यमानः प्रथमं दहत्येव स्वमाश्रयम् ।
क्रोधः कृशानुवत्पश्चादन्यं दहति वा न वा ॥ १० ॥
क्रोधवह्नेस्तदह्नाय शमनाय शुभात्मभिः ।
श्रयणीया क्षमैकैव संयमारामसारणीः ॥ ११ ॥

क्रोध शरीर और मन में संताप उत्पन्न करता है। क्रोध से वैर की वृद्धि होती है। वह अधोगति का मार्ग है और प्रशम-सुख को रोकने के लिए अर्गला के समान है।

क्रोध जब उत्पन्न होता है, तो सर्वप्रथम आग की तरह उसी को जलाता है जिसमें वह उत्पन्न होता है, बाद में दूसरे को जलाए अथवा न भी जलाए। तात्पर्य यह है कि जैसे प्रज्वलित हुई दियासलाई

दूसरे को जलाए अथवा न भी जलाए, पर अपने आपको तो जलाती ही है। उसी प्रकार क्रोध करने वाला पहले स्वयं जलता है, फिर दूसरे को जला सकता है या नहीं भी जला सकता।

क्रोध रूपी अग्नि को तत्काल शान्त करने के लिए उत्तम पुरुषों को एक मात्र क्षमा का ही आश्रय लेना चाहिए—क्षमा ही क्रोधाग्नि को शान्त कर सकती है। क्षमा संयम रूपी उद्यान को हरा-भरा वनाने के लिए क्यारी के समान है।

२. मान-कषाय

विनय-श्रुत-शीलानां त्रि-वर्गस्य च घातकः।
विवेकलोचनं लुम्पन् मानोऽन्धकरणो नृणाम् ॥ १२ ॥

मान विनय का, श्रुत का और शील-सदाचार का घातक है, त्रि-वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ एवं काम का विनाशक है। वह मनुष्य के विवेक रूपी नेत्र को नष्ट करके उसे अन्धा कर ता है।

जाति-लाभ-कुलैश्वर्य-वल-रूप - तपः श्रुतैः।
कुर्वन् मदं पुनस्तानि हीनानि लभते जनः ॥ १३ ॥
उत्सर्पयन् दोष-शाखा, गुणमूलान्यधो नयन्।
उन्मूलनीयो मान-द्रुस्तन्मार्दव-सरित्प्लवैः ॥ १४ ॥

मान के प्रधान स्थान आठ हैं—जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, वल, रूप, तप और श्रुत। इन आठ में से मनुष्य जिसका अभिमान करता है, भवान्तर में उसी की हीनता प्राप्त करता है। अर्थात् जाति का अभिमान करने वाले को नीच जाति की, लाभ का मद करने वाले को अलाभ की, कुल आदि का मद करने वाले को नीच कुल आदि की प्राप्ति होती है। अतः दोष रूपी शाखाओं का विस्तार करने वाले और गुण रूपी मूल को नीचे ले जाने वाले मान रूपी वृक्ष को मार्दव—मृदुता-नम्रता रूपी नदी के वेग के द्वारा जड़ से उखाड़ फैंकना ही उचित है।

३. माया-कषाय

असूनृतस्य जननी परशुः शील-शाखिनः ।
जन्म-भूमिरविद्यानां माया दुर्गतिकारणम् ॥ १५ ॥

कौटिल्यपटवः पापा मायया बकवृत्तयः ।
भुवनं वञ्चयमाना वञ्चयन्ते स्वमेव हि ॥ १६ ॥

तदार्जव-महौषध्या जगदानन्द हेतुना ।
जयेज्जगद्द्रोहकरीं मायां विषधरीमिव ॥ १७ ॥

माया असत्य की जननी है, शील रूपी वृक्ष को नष्ट करने के लिए परशु—कुल्हाड़े के समान है, अविद्या की जन्मभूमि है और अधोगति का कारण है।

कुटिलता करने में कुशल और कपट करके बगुले के समान आचरण करने वाले पापी जगत् को ठगते हुए वस्तुतः अपने आपको ही ठगते हैं।

इसलिए जगत् के जीवों को आनन्द देने वाले आर्जव रूपी महान् औषध से, जगत् का द्रोह करने वाली सर्पिणी के समान माया पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

४. लोभ-कषाय

आकरः सर्वदोषाणां गुण-ग्रसन-राक्षसः ।
कन्दो व्यसनवल्लीनां लोभः सर्वार्थ-बाधकः ॥ १८ ॥

धनहीनः शतमेकं सहस्रं शतवानपि ।
सहस्राधिपतिर्लक्षं कोटिं लक्षेश्वरोऽपि च ॥ १९ ॥

कोटीश्वरो नरेन्द्रत्वं, नरेन्द्रश्चक्रवर्त्तिताम् ।
चक्रवर्त्ती च देवत्वं, देवोऽपीन्द्रत्वमिच्छति ॥ २० ॥

इन्द्रत्वेऽपि हि सम्प्राप्ते, यदीच्छा न निवर्त्तते ।
मूले लघीयांस्तल्लोभः, सराव इव वर्धते ॥ २१ ॥

लोभ - सागरमुद्वेलमतिवेलं महामतिः ।
सन्तोष-सेतु-बन्धेन, प्रसरन्तं निवारयेत् ॥ २२ ॥

लोभ समस्त दोषों की उत्पत्ति की खान है और समस्त गुणों को निगल जाने वाला राक्षस है। वह सारी मुसीबतों का मूल कारण है और धर्म, काम आदि सब पुरुषार्थों का बाधक है।

मनुष्य जब निर्धन होता है, तब वह सौ रुपए की इच्छा करता है। सौ रुपए वाला हजार रुपए की कामना करता है। हजार का स्वामी लखपति बनना चाहता है और लखपति करोड़पति बनने की अभिलाषा रखता है। करोड़पति चाहता है कि मैं राजा बन जाऊँ और राजा चक्रवर्ती होने के स्वप्न देखता है। चक्रवर्ती देवत्व—दैवी वैभव की अभिलाषा करता है, तो देव इन्द्र की विभूति की लालसा करता है। किन्तु, इन्द्र का पद प्राप्त कर लेने पर भी क्या लोभ का अन्त आ जाता है ? नहीं। इस प्रकार लोभ प्रारम्भ में छोटा होकर शैतान की भाँति बढ़ता ही चला जाता है। अतः महासागर के ज्वार की तरह वार-वार फैलने वाले लोभ के विस्तार को रोकने के लिए बुद्धिमान् पुरुष सन्तोष का बाँध (Dam) बान्ध ले।

कषाय-विजय

क्षान्त्या क्रोधो मृदुत्वेन मानो मायाऽऽर्जवेन च ।
लोभश्चानोहया जेयाः कषाया इति संग्रहः ॥ २३ ॥

क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव—सरलता से और लोभ को निस्पृहता से जीतना चाहिए।

इन्द्रिय-विजय

विनेन्द्रियजयं नैव कषायान् जेतुमीश्वरः ।
हन्यते हैमनं जाड्यं, न विना ज्वलितानलम् ॥ २४ ॥

इन्द्रियों पर काबू पाए विना कषायों को जीतने के लिए कोई समर्थ नहीं हो सकता। हेमन्त ऋतु का भयंकर शीत जाज्वल्यमान अग्नि के विना नष्ट नहीं होता।

अदान्तैरिन्द्रिय-हयैश्चलैरपथगामिभिः।
आकृष्य नरकारण्ये जन्तुः सपदि नीयते ॥ २५ ॥

इन्द्रिय रूपी चपल घोड़े जब नियंत्रण में नहीं रहते हैं तो कुमार्ग में चले जाते हैं। कुमार्ग में जाकर वे जीव को भी शीघ्र ही नरक रूपी अरण्य में खींच ले जाते हैं। अतः इन्द्रियों पर विजय प्राप्त न करने वाला जीव नरकगामी होता है।

इन्द्रियैर्विजितो जन्तुः कषायैरभिभूयते।
वीरैः कृष्टेष्टकः पूर्वं वप्रः कैः कैर्न खण्ड्यते ॥ २६ ॥

जो जीव इन्द्रियों के द्वारा पराजित हो जाता है, कषाय भी उसका पराभव करते हैं। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि वीर पुरुष जब किसी भव्य-भवन की ईंटें खींच लेते हैं, तो बाद में उसे कौन खंडित नहीं करते? फिर तो साधारण आदमी भी उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं।

कुलघाताय पाताय बन्धाय वधाय च।
अनिर्जितानि जायन्ते करणानि शरीरिणाम् ॥ २७ ॥

अविजित इन्द्रियाँ रावण की तरह मनुष्यों के कुल के विनाश का, सौदास की तरह पतन का, चण्डप्रद्योत की तरह बन्धन का, और पवनकेतु की तरह वध का कारण बनती हैं।

इन्द्रियासक्ति का फल

वशा-स्पर्श-सुख-स्वाद - प्रसारित - करः करी।
आलान - बन्धन - क्लेशमासादयति तत्क्षणात् ॥ २८ ॥
पयस्यगाधे विचरन् गिलन् गलगतामिषम्।
मैनिकस्य करे दीनो मीनः पतति निश्चितम् ॥ २९ ॥

निपतन् मत्त - मातङ्ग - कपोले गन्ध-लोलुपः ।
कर्णतालतलाघातान्मृत्युमाप्नोति षट्पदः ॥ ३० ॥

कनकच्छेद - संकाश - शिखालोक - विमोहितः ।
रभसेन पतन् दीपे शलभो लभते मृतिम् ॥ ३१ ॥

हरिणो हारिणीं गीतिमाकर्णयितुमुद्धुरः ।
आकर्णाकृष्टचापस्य याति व्याधस्य वेध्यताम् ॥ ३२ ॥

एवं विषय एकैकः पञ्चत्वाय निषेवितः ।
कथं हि युगपत् पञ्च - पञ्चत्वाय भवन्ति न ॥ ३३ ॥

हथिनी के स्पर्श के सुख की लालसा को प्राप्त करने के लिए सूंड़ फैलाने वाला हाथी शीघ्र ही स्तंभ के बन्धन का क्लेश प्राप्त करता है।

अगाध जल में विचरण करने वाली मछली जाल में लगे हुए लोहे के काँटे पर रहे हुए मांस को खाने के लिए उद्यत होते ही मच्छीमार के हाथ लग जाती है।

गंध में आसक्त होकर भ्रमर मदोन्मत्त हाथी के कपोल पर बैठता है और उसके कान की फटकार से मृत्यु का शिकार हो जाता है।

स्वर्ण के तेज के समान चमकती हुई दीपक की शिखा के प्रकाश पर मुग्ध होकर पतंग सपाटे के साथ दीपक पर गिरता है और काल का ग्रास बन जाता है।

मनोहर गीत को सुनने के लिए उत्कंठित हिरण कान पर्यन्त खींचे हुए व्याध के वाण के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है।

इस प्रकार स्पर्शन, रसना, नासिका, चक्षु और कर्ण, इन पाँच इन्द्रियों में से एक-एक इन्द्रिय का विषय भी जब मृत्यु का कारण बनता है, तो एक साथ पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन मृत्यु का कारण क्यों नहीं होगा ?

मानसिक विजय

तदिन्द्रियजयं कुर्यात्मनः शुद्धया महामतिः।
यां विना यम-नियमैः काय-क्लेशो वृथा नृणाम् ॥३४॥

वुद्धिमान् पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे मन की शुद्धि करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करें। मन की शुद्धि किए विना यमों और नियमों का पालन करने से मनुष्य व्यर्थ ही काय-क्लेश के पात्र वनते हैं।

टिप्पण—इन्द्रिय विजय के लिए मन की शुद्धि आवश्यक है। मन इन्द्रियों का संचालक है, वही उन्हें विपयों की ओर प्रेरित करता है। मन पर कावू पा लेने से इन्द्रियों पर भी कावू पाया जा सकता है। मन शुद्ध नहीं है तो व्रतों के पालन से भी कोई लाभ नहीं होता, केवल काय-क्लेश ही होता है।

मनःक्षपाचरो भ्राम्यन्नपशङ्कं निरंकुशः।
प्रपातयति संसाराऽऽवर्त्तगर्ते जगत्त्रयीम् ॥ ३५ ॥

तप्यमानांस्तपो मुक्तौ गन्तुकामान् शरीरिणः।
वात्येव तरलं चेतः क्षिपत्यन्यत्र कुत्रचित् ॥ ३६ ॥

अनिरुद्ध-मनस्कः सन् योग-श्रद्धां दधाति यः।
पद्भ्यां जिगमिषुर्ग्रामं, स पंगुरिव हस्यते ॥ ३७ ॥

मनोरोधे निरुध्यन्ते कर्माण्यपि समन्ततः।
अनिरुद्धमनस्कस्य, प्रसरन्ति हि तान्यपि ॥ ३८ ॥

मनः कपिरयं विश्व - परिभ्रमण - लम्पटः।
नियन्त्रणीयो यत्नेन मुक्तिमिच्छुभिरात्मनः ॥ ३९ ॥

निरंकुश मन राक्षस है, जो निःशंक होकर दौड़-धूप करता रहता है और तीनों जगत् के जीवों को संसार रूपी गड्ढे में गिराता है।

आंधी की तरह चंचल मन मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक और तीव्र तपश्चर्या करने वाले मनुष्यों को भी कहीं का कहीं ले जाकर पटक देता है।

अतः मन का निरोध किए विना जो मनुष्य योगी होने का निश्चय करता है, वह उसी प्रकार हँसी का पात्र बनता है जैसे कोई पंगु पुरुष एक गाँव से दूसरे गाँव जाने की इच्छा करके हास्यास्पद बनता है।

मन का निरोध होने पर कर्म भी पूरी तरह से रुक जाते हैं, क्योंकि कर्म का आस्रव मन के अधीन है। किन्तु, जो पुरुष मन का निरोध नहीं कर पाता है, उसके कर्मों की अभिवृद्धि होती रहती है।

अतएव जो मनुष्य कर्मों से अपनी मुक्ति चाहते हैं, उन्हें समग्र विश्व में भटकने वाले लंपट मन को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

दीपिका खल्वनिर्वाणा निर्वाण-पथ-दर्शिनी।
एकैव मनसः शुद्धिः समाम्नाता मनीषिभिः ॥ ४० ॥

सत्यां हि मनसः शुद्धौ सन्त्यसन्तोऽपि यद्गुणाः।
सन्तोऽप्यसत्यां नो सन्ति, सैव कार्या बुधैस्ततः ॥ ४१ ॥

मनः शुद्धिमविभ्राणा ये तपस्यन्ति मुक्तये।
त्यक्त्वा नावं भुजाभ्यां ते तितीर्षन्ति महार्णवम् ॥ ४२ ॥

तपस्विनो मनः शुद्धि-विनाभूतस्य सर्वथा।
ध्यानं खलु मुधा चक्षुर्विकलस्येव दर्पणः ॥ ४३ ॥

तदवश्यं मनःशुद्धिः कर्त्तव्या सिद्धिमिच्छता।
तपः श्रुत-यमप्रायैः किमन्यैः काय-दण्डनैः ॥ ४४ ॥

मनः शुद्ध्यैव कर्त्तव्यो राग-द्वेष-विनिर्जयः।
कालुष्यं येन हित्वाऽऽत्मा स्वस्वरूपेऽवतिष्ठते ॥ ४५ ॥

यम-नियम आदि से रहित अकेली मन-शुद्धि भी वह दीपक है, जो कभी बुझता नहीं है और जो सदा निर्वाण का पथ प्रदर्शित करता है, मनीषी जनों की ऐसी मान्यता है।

यदि मन की शुद्धि हो गई है, तो समझ लीजिए कि अविद्यमान

क्षमा आदि गुण भी विद्यमान ही हैं, क्योंकि मन-शुद्धि वाले को उन गुणों का फल सहज ही प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत, यदि मन की शुद्धि नहीं हुई है, तो क्षमा आदि गुणों का होना भी न होने के समान है। अतः विवेकी जनों को मन की शुद्धि करनी चाहिए।

जो मन को शुद्ध किए बिना मुक्ति के लिए तपस्या करते हैं, वे नौका को त्याग कर भुजाओं से महासागर को पार करना चाहते हैं।

जैसे अंधे के लिए दर्पण व्यर्थ है, उसी प्रकार मन की थोड़ी भी शुद्धि किए बिना तपस्वी का ध्यान करना निरर्थक है।

अतः सिद्धि प्राप्त करने के अभिलाषी को मन की शुद्धि अवश्य करनी चाहिए। मन की शुद्धि के अभाव में तपश्चरण, श्रुताभ्यास एवं महाव्रतों का पालन करके काया को क्लेश पहुँचाने से लाभ ही क्या है ?

मन की शुद्धि करके ही राग-द्वेष पर विजय प्राप्त की जाती है, जिसके प्रभाव से आत्मा मलीनता को त्याग कर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है।

राग-द्वेष की दुर्जयता

आत्मायत्तमपि स्वान्तं, कुर्वतामत्र योगिनाम्।
रागादिभिः समाक्रम्य, परायत्तं, विधीयते ॥ ४६ ॥

रक्ष्यमाणमपि स्वान्तं, समादाय मनाग् मिषम्।
पिशाचा इव रागाद्याश्छलयन्ति मुहुर्मुहुः ॥ ४७ ॥

रागादि-तिमिर - ध्वस्त - ज्ञानेन मनसा जनः।
अन्धेनान्ध इवाकृष्टः पात्यते नरकावटे ॥ ४८ ॥

अस्ततन्द्रैरतः पुंभिर्निर्वाण - पद - कांक्षिभिः।
विधातव्यः समत्वेन, राग-द्वेष द्विषज्जयः ॥ ४९ ॥

योगी पुरुष किसी तरह अपने मन को अधीन करते भी हैं, तो राग-द्वेष और मोह आदि विकार आक्रमण करके उसे पराधीन बना देते हैं।

यम-नियम आदि के द्वारा मन की रक्षा करने पर भी रागादि पिशाच कोई न कोई प्रमाद रूप बहाना ढूंढ़ कर बार-बार योगियों के मन को छलते रहते हैं।

अंधे का हाथ पकड़ कर चलने वाले अंधे को वह कुएँ में गिरा देता है, उसी प्रकार राग-द्वेष आदि से जिसका ज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसा मन भी अंधा होकर मनुष्य को नरक-कूप में गिरा देता है।

अतः निर्वाण पद प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले साधक को समभाव के द्वारा, सावधान होकर राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को जीतना चाहिए। अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों को जीतने के लिए मन को जीतना चाहिए और मन को जीतने के लिए राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

राग-विजय का मार्ग

अमन्दानन्द-जनने साम्यवारिणि मज्जताम्।
जायते सहसा पुंसां राग-द्वेष-मल-क्षयः ॥ ५० ॥

तीव्र आनन्द को उत्पन्न करने वाले समभाव रूपी जल में अवगाहन करने वाले पुरुषों का राग-द्वेष रूपी मल सहसा ही नष्ट हो जाता है।

प्रणिहन्ति क्षणार्धेन, साम्यमालम्ब्य कर्म तत्।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्र-तपसा जन्म-कोटिभिः ॥ ५१ ॥

समता-भाव का अवलम्बन करने से अन्तर्मुहूर्त्त में मनुष्य जिन कर्मों का विनाश कर डालता है, वे तीव्र तपश्चर्या से करोड़ों जन्मों में भी नष्ट नहीं हो सकते।

कर्म जीवं च संश्लिष्टं परिज्ञातात्म-निश्चयः।
विभिन्नीकुरुते साधुः सामायिक-शलाकया ॥ ५२ ॥

जैसे आपस में चिपकी हुई वस्तुएँ बांस आदि की सलाई से पृथक् की जाती हैं, उसी प्रकार परस्पर बद्ध-कर्म और जीव को साधु समभाव

भावना—सामायिक की शलाका से पृथक् कर देता है अर्थात् निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है।

समभाव का प्रभाव

रागादिध्वान्तविध्वंसे, कृते सामायिकांशुना।
स्वस्मिन् स्वरूपं पश्यन्ति योगिनः परमात्मनः॥ ५३॥

समभाव रूपी सूर्य के द्वारा राग-द्वेष और मोह का अंधकार नष्ट कर देने पर योगी अपनी आत्मा में परमात्मा का स्वरूप देखने लगते है।

स्निह्यन्ति जन्तवो नित्यं वैरिणोऽपि परस्परम्।
अपि स्वार्थकृते साम्यभाजः साधोः प्रभावतः॥ ५४॥

यद्यपि साधु अपने स्वार्थ के लिए—अपने आनन्द के लिए, समभाव का विकास करता है, फिर भी समभाव की महिमा ऐसी अद्भुत है कि उसके प्रभाव से नित्य वैर रखने वाले सर्प-नकुल जैसे प्राणी भी परस्पर प्रीति-भाव धारण करते हैं।

समभाव की साधना

साम्यं स्यान्निर्ममत्वेन, तत्कृते भावनाः श्रयेत्।
अनित्यतामशरणं भवमेकत्वमन्यताम्॥ ५५॥
अशौचमास्रवविधिं संवरं कर्म-निर्जराम्।
धर्मस्वाख्याततां लोकं, द्वादशीं बोधिभावनाम्॥ ५६॥

समभाव की प्राप्ति निर्ममत्व भाव से होती है और निर्ममत्व भाव जागृत करने के लिए द्वादश भावनाओं का आश्रय लेना चाहिए— १. अनित्य, २. अशरण, ३. संसार, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचित्व, ७. आश्रव, ८. संवर, ९. निर्जरा, १०. धर्म-स्वाख्यात, ११. लोक, और १२. बोधि-दुर्लभ।

टिप्पण—राग और द्वेष, दोनों की विरोधी भावना 'समभाव' है

और फिर राग की विरोधी भावना 'निर्ममत्व' है। इन दोनों में कार्य-कारण भाव है। साधक जब राग-द्वेष को नष्ट करने के लिए समभाव जगाना चाहता है, तो उसे पहले अधिक शक्तिशाली राग का विनाश करने के लिए निर्ममत्व का अवलम्बन लेना चाहिए। निर्ममत्व भाव को जागृत करने लिए बारह भावनाएँ उपयोगी हैं, जिनका स्वरूप आगे बतलाया जा रहा है।

१. अनित्य-भावना

यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने, यन्मध्याह्ने न तन्निशि।
निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् हि पदार्थानामनित्यता ॥ ५७ ॥

शरीरं देहिनां सर्व-पुरुषार्थ निबन्धनम्।
प्रचण्ड-पवनोद्धूत घनाघन-विनश्वरम् ॥ ५८ ॥

कल्लोल-चपला लक्ष्मीः संगमाः स्वप्नसन्निभाः।
वात्या-व्यतिकरोत्क्षिप्त-तूल-तुल्यं च यौवनम् ॥ ५९ ॥

इत्यनित्यं जगद्वृत्तं स्थिर-चित्तः प्रतिक्षणम्।
तृष्णा-कृष्णाहि-मन्त्राय निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥ ६० ॥

इस संसार में समस्त पदार्थ अनित्य हैं। प्रातःकाल जिसे देखते हैं, वह मध्याह्न में दिखाई नहीं देता और मध्याह्न में जो दृष्टिगोचर होता है, वह रात्रि में नजर नहीं आता।

इस प्रकार स्थिर चित्त से, क्षण-क्षण में, तृष्णा रूपी काले भुजंगम का नाश करने वाले निर्ममत्व भाव को जगाने के लिए जगत् के अनित्य स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।

२. अशरण-भावना

इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते यन्मृत्योर्यान्ति गोचरम्।
अहो तदन्तकातङ्के कः शरण्यः शरीरिणाम्॥ ६१॥

अहा, जब देवराज इन्द्र तथा उपेन्द्र—वासुदेव, चक्रवर्ती आदि भी मृत्यु के अधीन होते हैं, तो मौत का भय उपस्थित होने पर अन्य जीवों को कौन शरण प्रदान कर सकेगा? मृत्यु से कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता।

पितुर्मातुः स्वसुर्भ्रातुस्तनयानाञ्च पश्यताम्।
अत्राणो नीयते जन्तुः कर्मभिर्यम-सद्मनि॥ ६२॥

माता, पिता, भगिनी, भाई और पुत्र आदि स्वजन देखते रहते हैं और कर्म जीव को यमराज के घर—विभिन्न गतियों में ले जाते हैं। उस समय रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं होता।

शोचन्ति स्वजनानन्तं नीयमानान् स्वकर्मभिः।
नेष्यमाणं तु शोचन्ति नात्मानं मूढ-बुद्धयः॥ ६३॥

मूढ़-बुद्धि पुरुष अपने कर्मों के कारण मृत्यु को प्राप्त होने वाले स्वजनों के लिए तो शोक करते हैं, परन्तु 'मैं स्वयं एक दिन मृत्यु की शरण में चला जाऊँगा'—यह सोचकर अपने लिए शोक नहीं करते।

संसारे दुःखदावाग्नि-ज्वलज्ज्वाला-करालिते।
वने मृगार्भकस्येव शरणं नास्ति देहिनः॥ ६४॥

वन में सिंह का हमला होने पर जैसे हिरन के बच्चे को कोई बचा नहीं सकता, इसी प्रकार दुःखों के दावानल की जाज्वल्यमान भीषण ज्वालाओं से प्रज्वलित इस संसार में प्राणी को कोई बचाने वाला नहीं है।

३. संसार-भावना

श्रोत्रियः श्वपचः स्वामी पत्तिर्ब्रह्मा कृमिश्च सः ।
संसार-नाट्ये नटवत् संसारी हन्त चेष्टते ॥ ६५ ॥

संसारी जीव संसार रूपी नाटक में नट की तरह विभिन्न चेष्टाएँ कर रहा है । वेद का पारगामी ब्राह्मण भी मरकर कर्मानुसार चाण्डाल बन जाता है, स्वामी मर कर सेवक के रूप में उत्पन्न हो जाता है और प्रजापति भी कीट के रूप में जन्म ले लेता है ।

न याति कतमां योनिं कतमां वा न मुञ्चति ।
संसारी कर्म - सम्बन्धादवक्रय - कुटीमिव ॥ ६६ ॥

भव-भवान्तर में भ्रमण करने वाला यह जीव कर्म के सम्बन्ध से किराये की कुटिया के समान किस योनि में प्रवेश नहीं करता है ? और किस योनि का परित्याग नहीं करता है ? वह संसार की समस्त योनियों में जन्म लेता है और मरता है ।

समस्त लोकाकाशेऽपि नानारूपैः स्वकर्मभिः ।
बालाग्रमपि तन्नास्ति यन्न स्पृष्टं शरीरिभिः ॥ ६७ ॥

सम्पूर्ण लोकाकाश में एक बाल की नौंक के बराबर भी ऐसा कोई स्थान नहीं है, जिसे जीवों ने अपने नाना प्रकार के कर्मों के उदय से स्पर्श न किया हो । अनादि काल से भव-भ्रमण करते हुए जीव ने लोक के प्रत्येक प्रदेश पर जन्म-मरण किया है और वह भी एक बार नहीं, अनन्त-अनन्त बार ।

४. एकत्व-भावना

एक उत्पद्यते जन्तुरेक एव विपद्यते ।
कर्माण्यनुभवत्येकः प्रचितानि भवान्तरे ॥ ६८ ॥

अन्यैस्तेनार्जितं वित्तं भूयः सम्भूय भुज्यते ।
स त्वेको नरकक्रोडे क्लिश्यते निजकर्मभिः ॥ ६९ ॥

जीव अकेला ही उत्पन्न होता और अकेला ही मरता है। भव-भवान्तर में संचित कर्मों को अकेला ही भोगता है।

एक जीव के द्वारा पापाचरण करके जो धन-उपार्जन किया जाता है, उसे सब कुटुम्बी मिलकर भोगते हैं। परन्तु, वह पापाचारी अपने पाप-कर्मों के फल-स्वरूप नरक में जाकर अकेला ही क्लेश का संवेदन करता है।

५. अन्यत्व-भावना

> यत्रान्यत्वं शरीरस्य वैसादृश्याच्छरीरिणः ।
> धन-बन्धु-सहायानां तत्रान्यत्वं न दुर्वचम् ॥ ७० ॥
>
> यो देह-धन-बन्धुभ्यो भिन्नमात्मानमीक्षते ।
> क्व शोकशंकुना तस्य हन्तातङ्कः प्रतन्यते ॥ ७१ ॥

शरीर रूपी है और आत्मा अरूपी। शरीर जड़ है और आत्मा चेतन। शरीर अनित्य है और आत्मा नित्य। शरीर भवान्तर में साथ नहीं जाता है और आत्मा भवान्तर में भी रहता है। इस प्रकार जहाँ शरीर और शरीरवान्—आत्मा में विसदृशता होने से भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है, वहाँ धन और बन्धु-बान्धवों की भिन्नता कहने या समझने में क्या कठिनाई हो सकती है?

जो साधक अपनी आत्मा को देह से, धन से और परिवार से भिन्न अनुभव करता है, उसे वियोग-जन्य शोक का शल्य कैसे पीड़ित कर सकता है? कहने का अभिप्राय यह है कि वह कैसी भी परिस्थिति में शोक-ग्रस्त नहीं होता।

६. अशुचित्व-भावना

> रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जा शुक्रान्त्रवर्चसाम् ।
> अशुचीनां पदं कायः शुचित्वं तस्य तत्कुतः ॥ ७२ ॥

नवस्रोतःस्रवद्विस्र - रसनिःस्यन्द - पिच्छिले।
देहेऽपि शौचसंकल्पो महन्मोहविजृम्भितम् ॥ ७३ ॥

शरीर रस, रक्त, मांस, मेद—चर्बी, हाड़, मज्जा, वीर्य, आंत और विष्ठा आदि अशुचि पदार्थों का भाजन है। अतः यह शरीर किस प्रकार से पवित्र हो सकता है ?

इस देह के नौ द्वारों से सदैव दुर्गन्धित रस झरता रहता है और उस रस से देह लिप्त बना रहता है। ऐसे अपावन देह में पवित्रता की कल्पना करना महान् मोह की बिडम्बना मात्र है।

७. आस्रव-भावना

मनोवाक्काय कर्माणि योगाः कर्म शुभाशुभम्।
यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्त्तिताः। ७४ ॥

मन, वचन और काय का व्यापार 'योग' कहलाता है। योग के द्वारा जीवों में शुभ और अशुभ कर्मों का आगमन होता है, अतः योग को ही आस्रव कहा गया हैं।

टिप्पण—आत्मा के द्वारा गृहीत मनोवर्गणा के पुद्गलों के निमित्त से आत्मा अच्छा-बुरा मनन करता है। मनन करते समय आत्मा में जो वीर्य-परिणति होती है, उसे 'मनोयोग' कहा है। ग्रहण किए हुए भाषा पुद्गलों के निमित्त से आत्मा की भाषण-शक्ति 'वचन-योग' है और शरीर के निमित्त से होने वाला जीव का वीर्य-परिणमन 'काय-योग' है। यह तीनों योग शुभ और अशुभ कर्मों के जनक हैं, इस कारण इन्हें 'आस्रव' कहते हैं।

मैत्र्यादिवासितं चेतः कर्म सूते शुभात्मकम्।
कषाय - विषयाक्रान्तं, वितनोत्यशुभं पुनः ॥ ७५ ॥
शुभार्जनाय निर्मिथ्यं श्रुतज्ञानाश्रितं वचः।
विपरीतं पुनर्ज्ञेयमशुभार्जन - हेतवे ॥ ७६ ॥

शरीरेण सुगुप्तेन शरीरी चिनुते शुभम्।
सततारम्भिणा जन्तु-घातकेनाशुभं पुनः ॥ ७७ ॥

एक ही प्रकार का मनोयोग कभी शुभ और कभी अशुभ—इस प्रकार विरोधी कर्मों का जनक किस प्रकार हो सकता है ? और जो प्रश्न मनोयोग के सम्बन्ध में है, वही वचन-योग और काय-योग के विषय में भी हो सकते है। इनके उत्तर यहाँ दिये गये हैं।

मैत्री, प्रमोद, करुणा और समता आदि शुभ भावों से भावित मनोयोग शुभ-कर्मों का जनक होता है और जब वह कषाय एवं इन्द्रिय-विषयों से आक्रान्त होता है, तब वह अशुभ-कर्मों का जनक होता है।

शास्त्र के अनुकूल सत्य वचन शुभ-कर्म का जनक होता है और इससे विपरीत वचन अशुभ-कर्म को उत्पन्न करता है।

सम्यक् प्रकार से गोपन किया हुआ अर्थात् कुचेष्टाओं से रहित या सब प्रकार की चेष्टाओं से रहित शरीर शुभ कर्मों का उपार्जन करता है और सदैव आरम्भ में प्रवृत्त तथा जीव-हिंसा करने शरीर से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है।

कषाया विषया योगाः प्रमादा विरती तथा।
मिथ्यात्वमार्त्त-रौद्रे चेत्यशुभं प्रति हेतवः ॥ ७८ ॥

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति-अरति आदि, इन्द्रियों के विषयों की कामना, योग, प्रमाद अर्थात् अज्ञान, संशय, विपर्यय, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, धर्म के प्रति अनादर और योगों की दूषित प्रवृत्ति, अविरति—हिंसा आदि पापों, मिथ्यात्व, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का सेवन करना, यह सब अशुभ कर्मों के आश्रव-कर्म आने के कारण हैं।

८. संवर-भावना

सर्वेषामाश्रवाणां तु निरोधः संवरः स्मृतः।
स पुनर्भिद्यते द्वेधा द्रव्य-भाव-विभेदतः ॥ ७९ ॥

पूर्वोक्त आस्रवों का निरोध—प्रतिपक्षी भाव 'संवर' कहा गया है। संवर दो प्रकार का है—द्रव्य-संवर और भाव-संवर।

टिप्पण—जिन कषाय आदि निमित्तों से कर्मों का आश्रव होता है, उनका रुक जाना संवर है। पूर्ण संवर की प्राप्ति अयोगी दशा में होती है, क्योंकि उस दशा में आश्रव का कोई भी कारण विद्यमान नहीं रहता। किन्तु, उससे पहले ज्यों-ज्यों आश्रव के कारणों को जीव कम करता जाता है, त्यों-त्यों संवर की मात्रा बढ़ती जाती है। ऐसा संवर देश-संवर कहलाता है। द्रव्यसंवर और भावसंवर—दोनों के ही यह दो-दो भेद हैं।

यः कर्म-पुद्गलादानच्छेदः स द्रव्य-संवरः।
भव-हेतु-क्रिया-त्यागः स पुनर्भाव-संवरः॥ ८०॥

कर्म-पुद्गलों के ग्रहण का छेदन हो जाना, अर्थात् आगमन रुक जाना 'द्रव्य-संवर' है और भव-भ्रमण की कारणभूत क्रियाओं का त्याग कर देना 'भाव-संवर' है।

येन येन ह्युपायेन, सध्यते यो य आश्रवः।
तस्य तस्य निरोधाय स स योज्यो मनीषिभिः॥ ८१॥
क्षमया मृदुभावेन ऋजुत्वेनाऽप्यनीहया।
क्रोधं मानं तथा मायां लोभं रुंध्याद्यथाक्रमम्॥ ८२॥
असंयमकृतोत्सेकान् विषयान् विषसन्निभान्।
निरा - कुर्यादखण्डेन संयमेन महामतिः॥ ८३॥
तिसृभिर्गुप्तिभिर्योगान् प्रमादं चाप्रमादतः।
सावद्ययोगहानेनाविरतिं चापि साधयेत्॥ ८४॥
सद्दर्शनेन मिथ्यात्वं शुभस्थैर्येण चेतसः।
विजयेतार्त्त-रौद्रे च संवरार्थं कृतोद्यमः॥ ८५॥

जो-जो आश्रव जिस-जिस उपाय से रोका जा सके, उसे रोकने के लिए विवेकवान् पुरुष उस-उस उपाय को काम में लाए।

संवर की प्राप्ति के लिए उद्योग करने वाले पुरुष को चाहिए कि वह क्षमा से क्रोध को, कोमलता—नम्रता से मान को, सरलता से माया को और निस्पृहता से लोभ को रोके।

बुद्धिमान् पुरुष अखण्ड संयम भावना के द्वारा इन्द्रियों की स्वच्छंद प्रवृत्ति से बलवान् बनने वाले, विष के समान विषयों को तथा विषयों की कामना को रोक दे।

इसी प्रकार तीनों गुप्तियों द्वारा तीनों योगों को, अप्रमाद से प्रमाद को और सावद्य-योग पाप-पूर्ण व्यापारों के त्याग से अविरति को दूर करे।

सम्यग्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्व को तथा शुभ भावना में चित्त की स्थिरता करके आर्त्त-रौद्र ध्यान को जीतना चाहिए। किस आश्रव का किस उपाय से निरोध किया जा सकता है, इस प्रकार का बार-बार चिन्तन करना 'संवर-भावना' है।

९. निर्जरा-भावना

संसार-बीज-भूतानां कर्मणां जरणादिह।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा सकामा कामवर्जिता ॥ ८६ ॥

भव-भ्रमण के बीजभूत कर्मों का आत्म-प्रदेशों से खिर जाना, झड़ जाना या पृथक् हो जाना 'निर्जरा' है। वह दो प्रकार की है—सकाम-निर्जरा और अकाम-निर्जरा।

ज्ञेया सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनाम्।
कर्मणां फलवत्पाको यदुपायात्स्वतोऽपि च ॥ ८७ ॥

केवल कर्मों की निर्जरा के अभिप्राय से तपश्चरण आदि क्रिया की जाती है, तो उस क्रिया से होने वाली निर्जरा 'सकाम-निर्जरा' कहलाती है। यह निर्जरा सम्यग्-दृष्टि जीवों को ही होती है। सम्यक्त्वी से भिन्न एकेन्द्रिय आदि अन्य प्राणियों के कर्मों की निर्जरा करने की अभिलाषा

के बिना ही भूख-प्यास आदि का कष्ट सहने से जो निर्जरा होती है, वह 'अकाम-निर्जरा' है। जैसे फल दो प्रकार से पकता है—फल को घास आदि में दबा देने से और स्वभाव से अर्थात् डाली पर लगे-लगे प्राकृतिक प्रक्रिया से, उसी प्रकार कर्मों का परिपाक भी दो प्रकार से होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म-क्षय करने की इच्छा से प्रेरित होकर व्रती पुरुष तपस्या आदि का कष्ट सहन करता है, उससे कर्म नीरस होकर आत्म-प्रदेशों से पृथक् हो जाते हैं। यह 'सकाम-निर्जरा' है। दूसरे प्राणी संसार में जो नाना प्रकार के कष्ट सहन करते हैं, उनसे कर्म का विपाक भोग लिया जाता है और विपाक भोग लेने के पश्चात् वह कर्म आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाता है। वह 'अकाम-निर्जरा' कहलाती है। प्रत्येक संसारी जीव प्रतिक्षण अकाम-निर्जरा करता रहता है, परन्तु सकाम-निर्जरा तो ज्ञान युक्त तपस्या करने पर ही होती है।

सदोषमपि दीप्तेन सुवर्णं वह्निना यथा।
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ॥ ८८ ॥

जैसे सदोष—रज एवं मैल युक्त स्वर्ण प्रदीप्त अग्नि में पड़कर पूरी तरह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार तप रूपी आग से तपा हुआ जीव भी विशुद्ध बन जाता है।

अनशनमौनोदर्यं वृत्तेः संक्षेपणं तथा।
रस-त्यागस्तनुक्लेशो लीनतेति बहिस्तपः ॥ ८९ ॥
प्रायश्चित्तं वैयावृत्यं स्वाध्यायो विनयोऽपि च।
व्युत्सर्गोऽथ शुभं ध्यानं षोढेत्याभ्यन्तरं तपः ॥ ९० ॥

तप दो प्रकार का है—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। बाह्य तप छह प्रकार का होता है :—

१. अनशन—परिमित समय तक अथवा विशिष्ट कारण उपस्थित होने पर जीवन-पर्यन्त आहार का त्याग करना।

२. ऊनोदर्य—पुरुष का बत्तीस कवल और स्त्री का अट्ठाईस कवल पूरा आहार होता है। उससे कम भोजन करना।

३. वृत्ति-संक्षेप—आहार सम्बन्धी अनेक प्रकार की प्रतिज्ञाएँ करके वृत्ति का संक्षेप करना।

४. रस-परित्याग—मद्य, मांस, मधु, मक्खन, दूध, दही, घृत, तेल, गुड़ आदि विशिष्ट रस वाले मादक पदार्थों का त्याग करना।

५. काय-क्लेश—देह का दमन करना।

६. परिसंलीनता—संयम में बाधक स्थान में न रहना और मन, वचन और काय का गोपन करना।

आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का होता है :—

१. प्रायश्चित्त—ग्रहण किए हुए व्रत में भूल या प्रमाद से दोष लग जाने पर शास्त्रोक्त विधि से उसकी शुद्धि करना।

२. वैयावृत्य—सेवा-शुश्रूषा करना।

३. स्वाध्याय—संयम-जीवन का उत्थान करने के लिए शास्त्रों का पठन, चिन्तन आदि करना।

४. विनय—विशिष्ट ज्ञानी एवं चारित्रनिष्ठ महापुरुषों के प्रति बहुमान का भाव रखना।

५. व्युत्सर्ग—त्याज्य वस्तु और कषाय आदि भाव का त्याग करना।

६. ध्यान—आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग करके धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान में मन को संलग्न कर देना।

दीप्यमाने तपोवह्नौ, बाह्ये चाभ्यन्तरेऽपि च।
यमी जरति कर्माणि दुर्जराण्यपि तत्क्षणात् ॥ ९१ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर तपस्या रूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर संयमी पुरुष कठिनाई से क्षीण किए जाने योग्य कर्मों का भी तत्काल क्षय कर देता है।

१०. धर्म-सुआख्यतत्व-भावना

स्वाख्यातः खलु धर्मोऽयं भमवद्भिर्जिनोत्तमैः।
यं समालम्बमानो हि न मज्जेद् भव-सागरे॥ ९२॥
संयमः सूनृतं शौचं ब्रह्माकिञ्चनता तपः।
क्षान्तिर्मार्दवमृजुता मुक्तिश्च दशधा स तु॥ ९३॥

भगवान् जिनेन्द्र देव ने विधि-निषेध रूप यह धर्म सम्यक् प्रकार से प्रतिपादन किया है, जिसका अवलम्बन करने वाला प्राणी संसार-सागर में नहीं डूबता है।

वह धर्म या संयम—जीवदया, सत्य, शौच—अदत्तादान का त्याग, ब्रह्मचर्य, अकिंचनता—निर्ममत्व, तप, क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभता, इस प्रकार दस तरह का है।

धर्मप्रभावतः कल्पद्रुमाद्या ददतीप्सितम्।
गोचरेऽपि न ते यत्स्युरधर्माधिष्ठितात्मनाम्॥ ९४॥

धर्म के प्रभाव से कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, आदि मनचाहा फल प्रदान करते हैं, किन्तु अधर्मी जनों के लिए फल देना तो दूर रहा, वे दृष्टिगोचर तक नहीं होते।

अपारे व्यसनाम्भोधौ पतन्तं पाति देहिनम्।
सदा सविधवर्त्येक-बन्धुर्धर्मोऽति-वत्सलः॥ ९५॥

इस लोक और परलोक में सदैव साथ रहने वाला और बन्धु के समान अत्यन्त वत्सल धर्म अपार दुःखसागर में गिरते हुए मनुष्य को बचाता है।

आप्लावयति नाम्भोधिराश्वासयति चाम्बुदः।
यन्महीं स प्रभावोऽयं ध्रुवं धर्मस्य केवलः॥ ९६॥

न ज्वलत्यनलस्तिर्यग् यदूर्ध्वं वाति नानिलः ।
अचिन्त्य-महिमा तत्र धर्म एव निबन्धनम् ॥ ९७ ॥
निरालम्बा निराधारा विश्वाधारो वसुन्धरा ।
यच्चावतिष्ठते तत्र धर्मादन्यन्न कारणम् ॥ ९८ ॥
सूर्या-चन्द्रमसावेतौ विश्वोपकृति-हेतवे ।
उदयेते जगत्यस्मिन् नूनं धर्मस्य शासनात् ॥ ९९ ॥

समुद्र इस पृथ्वी को बहा नहीं ले जाता और जलधर पृथ्वी को परितृप्त करता है, निस्सन्देह यह केवल धर्म का ही प्रभाव है ।

अग्नि की ज्वालाएँ यदि तिर्छी जाती तो जगत् भस्म हो जाता और पवन तिर्छी गति के बदले ऊर्ध्वगति करता होता तो जीव-धारियों का जीना कठिन हो जाता । किन्तु, ऐसा नहीं होता । इसका कारण धर्म ही है । वास्तव में धर्म की महिमा चिन्तन से परे है ।

समग्र विश्व का आधार यह पृथ्वी बिना किसी अवलम्बन के और बिना किसी आधार के जो टिकी हुई है, इसमें धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण है ।

वस्तुतः जगत् का उपकार करने के लिए यह जो चन्द्र और सूर्य प्रतिदिन उदित होते रहते हैं, यह किसके आदेश से ? धर्म के आदेश से ही उदित होते हैं ।

अबन्धूनामसौ बन्धुरसखीनामसौ सखा ।
अनाथानामसौ नाथो धर्मो विश्वैकवत्सलः ॥ १०० ॥

धर्म उनका बन्धु है, जिनका संसार में कोई बन्धु नहीं है । धर्म उनका सखा है, जिनका कोई सखा नहीं है । धर्म उनका नाथ है, जिनका कोई नाथ नहीं है । अखिल जगत् के लिए एक मात्र धर्म ही रक्षक है ।

रक्षो-यक्षोरग-व्याघ्र-व्यालानलगरादयः ।
नापकर्तुमलं तेषां यैर्धर्मः शरणं श्रितः ॥ १०१ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर तपस्या रूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर संयमी पुरुष कठिनाई से क्षीण किए जाने योग्य कर्मों का भी तत्काल क्षय कर देता है।

१०. धर्म-सुआख्यतत्व-भावना

स्वाख्यातः खलु धर्मोऽयं भमवद्भिर्जिनोत्तमैः।
यं समालम्बमानो हि न मज्जेद् भव-सागरे॥ ९२॥
संयमः सूनृतं शौचं ब्रह्माकिञ्चनता तपः।
क्षान्तिर्मार्दवमृजुता मुक्तिश्च दशधा स तु॥ ९३॥

भगवान् जिनेन्द्र देव ने विधि-निषेध रूप यह धर्म सम्यक् प्रकार से प्रतिपादन किया है, जिसका अवलम्बन करने वाला प्राणी संसार-सागर में नहीं डूबता है।

वह धर्म या संयम—जीवदया, सत्य, शौच—अदत्तादान का त्याग, ब्रह्मचर्य, अकिंचनता—निर्ममत्व, तप, क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभता, इस प्रकार दस तरह का है।

धर्मप्रभावतः कल्पद्रुमाद्या ददतीप्सितम्।
गोचरेऽपि न ते यत्स्युरधर्माधिष्ठितात्मनाम्॥ ९४॥

धर्म के प्रभाव से कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, आदि मनचाहा फल प्रदान करते हैं, किन्तु अधर्मी जनों के लिए फल देना तो दूर रहा, वे दृष्टिगोचर तक नहीं होते।

अपारे व्यसनाम्भोधौ पतन्तं पाति देहिनम्।
सदा सविधवर्त्येक-बन्धुर्धर्मोऽति-वत्सलः॥ ९५॥

इस लोक और परलोक में सदैव साथ रहने वाला और बन्धु के समान अत्यन्त वत्सल धर्म अपार दुःखसागर में गिरते हुए मनुष्य को बचाता है।

आप्लावयति नाम्भोधिराश्वासयति चाम्बुदः।
यन्महीं स प्रभावोऽयं ध्रुवं धर्मस्य केवलः॥ ९६॥

न ज्वलत्यनलस्तिर्यग् यदूर्ध्वं वाति नानिलः।
अचिन्त्य-महिमा तत्र धर्म एव निबन्धनम् ॥ ७ ॥
निरालम्बा निराधारा विश्वाधारो वसुन्धरा।
यच्चावतिष्ठते तत्र धर्मादन्यन्न कारणम् ॥ ९८ ॥
सूर्या-चन्द्रमसावेतौ विश्वोपकृति-हेतवे।
उदयेते जगत्यस्मिन् नूनं धर्मस्य शासनात् ॥ ९९ ॥

समुद्र इस पृथ्वी को बहा नहीं ले जाता और जलधर पृथ्वी को परितृप्त करता है, निस्सन्देह यह केवल धर्म का ही प्रभाव है।

अग्नि की ज्वालाएँ यदि तिर्छी जातीं तो जगत् भस्म हो जाता और पवन तिर्छी गति के बदले ऊर्ध्वगति करता होता तो जीव-धारियों का जीना कठिन हो जाता। किन्तु, ऐसा नहीं होता। इसका कारण धर्म ही है। वास्तव में धर्म की महिमा चिन्तन से परे है।

समग्र विश्व का आधार यह पृथ्वी बिना किसी अवलम्बन के और विना किसी आधार के जो ठहरी हुई है, इसमें धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण है।

वस्तुतः जगत् का उपकार करने के लिए यह जो चन्द्र और सूर्य प्रतिदिन उदित होते रहते हैं, वह किसके आदेश से ? धर्म के आदेश से ही उदित होते हैं।

अबन्धूनामसौ बन्धुरसखीनामसौ सखा।
अनाथानामसौ नाथो धर्मो विश्वैकवत्सलः ॥ १०० ॥

धर्म उनका बन्धु है, जिनका संसार में कोई बन्धु नहीं है। धर्म उनका सखा है, जिनका कोई सखा नहीं है। धर्म उनका नाथ है, जिनका कोई नाथ नहीं है। अखिल जगत् के लिए एक मात्र धर्म ही रक्षक है।

रक्षो-यक्षोरग-व्याघ्र-व्यालानलगरादयः।
नापकर्तुमलं तेषां यैर्धर्मः शरणं श्रितः ॥ १०१ ॥

जिन्होंने धर्म का शरण ग्रहण कर लिया है, उनका राक्षस, यक्ष, अजगर, व्याघ्र, सर्प, आग और विष आदि हानिकर पदार्थ भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

धर्मो नरक-पाताल-पातादवति देहिनः।
धर्मो निरुपमं यच्छत्यपि सर्वज्ञ-वैभवम् ॥ १०२ ॥

धर्म प्राणी को नरक—पाताल में पड़ने से बचाता भी है और सर्वज्ञ के उस वैभव को प्रदान भी करता है जिसकी कोई उपमा नहीं। अर्थात् धर्म अनर्थ से बचाता है और इष्ट अर्थ की प्राप्ति कराता है।

११. लोक-भावना

कटिस्थ-कर - वैशाखस्थानकस्थ - नराकृतिम्।
द्रव्यैः पूर्णं स्मरेल्लोकं स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकैः ॥ १०३ ॥

कमर के ऊपर दोनों हाथ रखकर और पैरों को फैलाकर खड़े हुए पुरुष की आकृति के सदृश आकृति वाले और उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य धर्म वाले द्रव्यों से व्याप्त लोक का चिन्तन करे।

टिप्पण—अनन्त और असीम आकाश का कुछ भाग धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों से व्याप्त है और शेष भाग ऐसा है जहाँ आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नहीं है। इस उपाधि-भेद के कारण आकाश दो भागों में विभक्त माना गया है। जिसमें धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य व्याप्त हैं, वह 'लोक' कहलाता है और इनसे रहित केवल आकाश को 'अलोक' संज्ञा दी गई है। लोक का आकार किस प्रकार का है, यह बात यहाँ बताई गई है।

लोक षट्-द्रव्यमय है और प्रत्येक द्रव्य, पर्याय की दृष्टि से प्रतिक्षण उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से वह ध्रुव-नित्य है। इस प्रकार षट्-द्रव्यमय लोक के स्वरूप का चिन्तन करने को 'लोक भावना' कहते हैं।

लोको जगत्त्रयाकीर्णो भुवः सप्तात्र वेष्टिताः ।
घनाम्भोधि - महावात - तनुवातैर्महाबलैः ।। १०४ ।।

लोक तीन जगत् से व्याप्त है, जिन्हें—अधो-लोक, मध्य-लोक और ऊर्ध्व-लोक कहते हैं। अधो-लोक में सात नरक-भूमियाँ हैं, जो घनोदधि—जमे हुए पानी, घनवात—जमी हुई वायु और तनुवात—पतली वायु से वेष्टित हैं। यह तीनों इतने प्रबल हैं कि पृथ्वी को धारण करने में समर्थ होते हैं।

वेत्रासनसमोऽधस्तान्मध्यतो झल्लरीनिभः ।
अग्रे मुरजसंकाशो लोकः स्यादेवमाकृतिः ।। १०५ ।।

लोक अधोभाग में वेत्रासन के आकार का है अर्थात् नीचे विस्तार वाला और ऊपर क्रमशः सिकुड़ा हुआ है। मध्यभाग में झालर के आकार का और ऊपर मृदंग सदृश आकार का है। तीनों लोकों की यह आकृति मिलने से लोक का आकार बन जाता है।

निष्पादितो न केनापि न धृतः केनचिच्च सः ।
स्वयं-सिद्धो निराधारो गगने किन्त्ववस्थितः ।। १०६ ।।

इस लोक को न तो किसी ने बनाया है और न धारण कर रखा है। वह अनादि काल से स्वयं सिद्ध है। उसका कोई आधार नहीं है, किन्तु वह आकाश में स्थित है।

१२. बोधिदुर्लभ-भावना

अकाम-निर्जरा-रूपात्पुण्याज्जन्तोः प्रजायते ।
स्थावरत्वात्त्रसत्वं वा तिर्यक्त्वं वा कथञ्चन ।। १०७ ।।
मानुष्यमार्य-देशश्च जातिः सर्वाक्षपाटवम् ।
आयुश्च प्राप्यते तत्र कथञ्चित्कर्म-लाघवात् । १०८ ।।
प्राप्तेषु पुण्यतः श्रद्धा-कथक-श्रवणेष्वपि ।
तत्त्व-निश्चय-रूपं तद्बोधिरत्नं सुदुर्लभम् ।। १०९ ।।

जिन्होंने धर्म का शरण ग्रहण कर लिया है; उनका राक्षस, यक्ष, अजगर, व्याघ्र, सर्प, आग और विष आदि हानिकर पदार्थ भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

धर्मो नरक-पाताल-पातादवति देहिनः।
धर्मो निरुपमं यच्छत्यपि सर्वज्ञ-वैभवम् ॥ १०२ ॥

धर्म प्राणी को नरक—पाताल में पड़ने से बचाता भी है और सर्वज्ञ के उस वैभव को प्रदान भी करता है जिसकी कोई उपमा नहीं। अर्थात् धर्म अनर्थ से बचाता है और इष्ट अर्थ की प्राप्ति कराता है।

११. लोक-भावना

कटिस्थ-कर - वैशाखस्थानकस्थ - नराकृतिम् ।
द्रव्यैः पूर्णं स्मरेल्लोकं स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकैः ॥ १०३ ॥

कमर के ऊपर दोनों हाथ रखकर और पैरों को फैलाकर खड़े हुए पुरुष की आकृति के सदृश आकृति वाले और उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य धर्म वाले द्रव्यों से व्याप्त लोक का चिन्तन करे।

टिप्पण—अनन्त और असीम आकाश का कुछ भाग धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों से व्याप्त है और शेष भाग ऐसा है जहाँ आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नहीं है। इस उपाधि-भेद के कारण आकाश दो भागों में विभक्त माना गया है। जिसमें धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य व्याप्त हैं, वह 'लोक' कहलाता है और इनसे रहित केवल आकाश को 'अलोक' संज्ञा दी गई है। लोक का आकार किस प्रकार का है, यह बात यहाँ बताई गई है।

लोक षट्-द्रव्यमय है और प्रत्येक द्रव्य, पर्याय की दृष्टि से प्रतिक्षण उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से वह ध्रुव-नित्य है। इस प्रकार षट्-द्रव्यमय लोक के स्वरूप का चिन्तन करने को 'लोक भावना' कहते हैं।

लोको जगत्त्रयाकीर्णो भुवः सप्तात्र वेष्टिताः ।
घनाम्भोधि - महावात - तनुवातैर्महाबलैः ॥ १०४ ॥

लोक तीन जगत् से व्याप्त है, जिन्हें—अधो-लोक, मध्य-लोक और ऊर्ध्व-लोक कहते हैं। अधो-लोक में सात नरक-भूमियाँ हैं, जो घनोदधि—जमे हुए पानी, घनवात—जमी हुई वायु और तनुवात—पतली वायु से वेष्टित हैं। यह तीनों इतने प्रबल हैं कि पृथ्वी को धारण करने में समर्थ होते हैं।

वेत्रासनसमोऽधस्तान्मध्यतो झल्लरीनिभः ।
अग्रे मुरजसंकाशो लोकः स्यादेवमाकृतिः ॥ १०५ ॥

लोक अधोभाग में वेत्रासन के आकार का है अर्थात् नीचे विस्तार वाला और ऊपर क्रमशः सिकुड़ा हुआ है। मध्यभाग में झालर के आकार का और ऊपर मृदंग सदृश आकार का है। तीनों लोकों की यह आकृति मिलने से लोक का आकार बन जाता है।

निष्पादितो न केनापि न धृतः केनचिच्च सः ।
स्वयं-सिद्धो निराधारो गगने किन्त्ववस्थितः ॥ १०६ ॥

इस लोक को न तो किसी ने बनाया है और न धारण कर रखा है। वह अनादि काल से स्वयं सिद्ध है। उसका कोई आधार नहीं है, किन्तु वह आकाश में स्थित है।

१२. बोधिदुर्लभ-भावना

अकाम-निर्जरा-रूपात्पुण्याज्जन्तोः प्रजायते ।
स्थावरत्वात्त्रसत्वं वा तिर्यक्त्वं वा कथञ्चन ॥ १०७ ॥
मानुष्यमार्य-देशश्च जातिः सर्वाक्षपाटवम् ।
आयुश्च प्राप्यते तत्र कथञ्चित्कर्म-लाघवात् । १०८ ॥
प्राप्तेषु पुण्यतः श्रद्धा-कथक-श्रवणेष्वपि ।
तत्त्व-निश्चय-रूपं तद्बोधिरत्नं सुदुर्लभम् ॥ १०९ ॥

भावनाभिरविश्रान्तमिति भावित-मानसः ।
निर्ममः सर्व-भावेषु समत्वमवलम्बते ॥ ११० ॥

पहाड़ी नदी के प्रवाह मे वहता हुआ पापाण टक्करें खाते-खाते जैसे गोल-मटोल बन जाता है, उसी प्रकार जन्म-मरण के प्रवाह में वहने वाले इस जीव को कभी-कभी विशिष्ट अकाम-निर्जरा रूप पुण्य की प्राप्ति होती है, अर्थात् अनजान में ही उसके कर्मों की निर्जरा हो जाती है, जिससे उसमें एक प्रकार का लाघव आ जाता है। उस लाघव के प्रभाव से जीव स्थावर पर्याय से त्रस पर्याय पा लेता है अथवा पंचेन्द्रिय तिर्यंच हो जाता है।

तत्पश्चात् किसी प्रकार से कर्मों की अधिक-अधिक लघुता होने पर मनुष्य-पर्याय, आर्य देश में जन्म, उत्तम जाति, पाँचों इन्द्रियों की परिपूर्णता और दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त संयोगों के साथ विशेष पुण्य के उदय से धर्माभिलाषा रूप श्रद्धा, धर्मोपदेशक गुरु और धर्म-श्रवण, की प्राप्ति होती है, परन्तु यह सब प्राप्त हो जाने पर भी तत्त्व निश्चय रूप सम्यक्त्व बोधि-रत्न की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है।

इन द्वादश भावनाओं से जिसका चित्त निरन्तर भावित रहता है, वह प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक परिस्थिति में अनासक्त रहता हुआ समभाव का अवलम्बन करता है।

समभाव का प्रभाव

विषयेभ्यो विरक्तानां साम्यवासित-चेतसाम् ।
उपशाम्येत् कषायाग्निर्बोधिदीपः समुन्मिषेत् ॥ १११ ॥

विषयों से विरक्त और समभाव से युक्त चित्त वाले मनुष्यों की कषाय रूपी अग्नि शान्त हो जाती है और सम्यक्त्व रूपी दीपक प्रदीप्त हो जाता है।

ध्यान का समय

समत्वमवलम्ब्याथ ध्यानं योगी समाश्रयेत् ।
विना समत्वमारब्धे ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते ॥ ११२ ॥

समत्व की प्राप्ति के पश्चात् योगी जनों को ध्यान करना चाहिए। समभाव की प्राप्ति के बिना ध्यान करना—आत्म-विडम्बना मात्र है। क्योंकि समत्व के बिना ध्यान में प्रवेश होना संभव नहीं है।

टिप्पण—चतुर्थ प्रकाश के प्रारम्भ में आत्म-ज्ञान की मुख्यता का प्रतिपादन करते हुए बताया गया था कि कषाय-विजय के बिना आत्म-ज्ञान प्राप्त नहीं होता। कषाय-विजय के लिए इन्द्रिय-विजय अपेक्षित है, इन्द्रिय-विजय के लिए मनःशुद्धि आवश्यक है, मनःशुद्धि के लिए राग-द्वेष को जीतना आवश्यक है, राग-द्वेष को जीतने के लिए समभाव का अभ्यास चाहिए और उसके लिए भावना-जनित निर्ममत्व भाव अनिवार्य है। इस प्रकार साधना की कार्य-कारण-भाव प्रक्रिया पूर्ण होने पर ध्यान की योग्यता प्रकट होती है। ध्यान की पूर्ववर्त्ती इस आवश्यक प्रक्रिया को पूर्ण किए बिना ही ध्यान करने का साहस करना विडम्बना मात्र है। यही आशय यहाँ प्रकट किया गया है।

ध्यान का महत्त्व

मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्म-ज्ञानतो भवेत् ।
ध्यान-साध्यं मतं तच्च तद्ध्यानं हितमात्मनः ॥ ११३ ॥

कर्म के क्षय से मोक्ष होता है, आत्म-ज्ञान से कर्म का क्षय होता है और ध्यान से आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है। अतः ध्यान आत्मा के लिए हितकारी माना गया है।

न साम्येन विना ध्यानं, न ध्यानेन विना च तत् ।
निष्कम्पं जायते तस्माद् द्वयमन्योन्य-कारणम् ॥ ११४ ॥

समत्व की जागृति के विना ध्यान नहीं हो सकता और ध्यान के बिना निश्चल समत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के कारण हैं।

ध्यान का स्वरूप

मुहूर्त्तान्तर्मनःस्थैर्यं ध्यानं छद्मस्थ-योगिनाम्।
धर्म्यं शुक्लं च तद् द्वेधा, योगरोधस्त्वयोगिनाम् ॥११५॥

ध्यान करने वाले दो प्रकार के होते हैं—सयोगी और अयोगी। सयोगी ध्याता भी दो प्रकार के हैं–छद्मस्थ और केवली। एक आलम्बन में एक मुहूर्त्त—४८ मिनिट पर्यन्त मन का स्थिर रहना छद्मस्थ योगियों का ध्यान कहलाता है। वह धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान के भेद से दो प्रकार का है। अयोगियों का ध्यान योग–मन, वचन, काय का निरोध होना है। और सयोगी केवली में योग का निरोध करते समय ही ध्यान होता है, अतः वह अयोगियों के ध्यान के समान ही है।

मुहूर्त्तात्परतश्चिन्ता यद्वा ध्यानान्तरं भवेत्।
वह्वर्थसंक्रमे तु स्याद्दीर्घाऽपि ध्यान-सन्ततिः॥ ११६॥

एक मुहूर्त्त ध्यान में व्यतीत हो जाने के पश्चात् ध्यान स्थिर नहीं रहता, फिर या तो वह चिन्तन कहलाएगा या आलम्बन की भिन्नता से दूसरा ध्यान कहलाएगा। अभिप्राय यह है कि ध्याता एक ही आलम्बन में एक मुहूर्त्त से अधिक स्थिर नहीं रह सकता। हाँ, एक के पश्चात् दूसरे और दूसरे के पश्चात् तीसरे आलम्बन को ग्रहण करने से ध्यान की परम्परा लम्बी—मुहूर्त्त से अधिक भी चल सकती है। परन्तु, एक ही ध्यान मुहूर्त्त से अधिक काल तक स्थिर नहीं रह सकता।

ध्यान की पोषक भावनाएँ

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि नियोजयेत्।
धर्म-ध्यानमुपस्कर्तुं तद्धि तस्य रसायनम्॥ ११७॥

टूटे हुए ध्यान को पुनः ध्यानान्तर के साथ जोड़ने के लिए—१. मैत्री, २. प्रमोद, ३. करुणा, और ४. मध्यस्थ्य, इन चार भावनाओं की आत्मा के साथ योजना करनी चाहिए। यह भावनाएँ रसायन की तरह ध्यान को पुष्ट करती हैं।

१. मैत्री-भावना

मा कार्षीत्कोऽपि पापानि मा च भूत्कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते॥ ११८॥

जगत् का कोई भी प्राणी पाप न करे, कोई भी प्राणी दुःख का भाजन न बने, समस्त प्राणी दुःख से मुक्त हो जाएँ, इस प्रकार का चिन्तन करना—मैत्री-भावना है।

२. प्रमोद-भावना

अपास्ताशेष-दोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातोऽयं, सः प्रमोदः प्रकीर्त्तितः॥ ११९॥

जिन्होंने हिंसा आदि समस्त दोषों का त्याग कर दिया है और जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को देखने वाले हैं, अर्थात् जिन्हें सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र प्राप्त हो गया है, उन महापुरुषों के गुणों के प्रति आदर-भाव होना, उनकी प्रशंसा करना, उनकी सेवा आदि करना—'प्रमोद-भावना' है।

३. करुणा-भावना

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते॥ १२०॥

दीन, दुखी, भयभीत और प्राणों की भीख चाहने वाले प्राणियों के दुख को दूर करने की भावना होना—'करुणा भावना' है।

४. माध्यस्थ-भावना

क्रूरकर्मसु निःशंकं, देवता-गुरु-निन्दिषु ।
आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥ १२१ ॥

निश्शंक भाव से अभक्ष्य भक्षण, अपेय पान, अगम्य गमन, ऋषि-घात, शिशु-घात आदि क्रूर कर्म करने वाले, देव और गुरु की निन्दा करने वाले तथा आत्म-प्रशंसा करने वाले मनुष्यों पर—जिन्हें सलाह या उपदेश देकर सन्मार्ग पर नहीं लाया जा सकता, उपेक्षा भाव होना—'माध्यस्थ्य भावना' है ।

आत्मानं भावयन्नाभिर्भावनाभिर्महामतिः ।
त्रुटितामपि संधत्ते विशुद्धध्यानसन्ततिम् ॥ १२२ ॥

इन चार भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करने वाला महाप्राज्ञ पुरुष टूटी हुई विशुद्ध ध्यान की परम्परा को फिर से जोड़ लेता है ।

ध्यान योग्य स्थान

तीर्थं वा स्वस्थताहेतु यत्तद्वा ध्यानसिद्धये ।
कृतासनजयो योगी विविक्तं स्थानमाश्रयेत् ॥ १२३ ॥

आसनों का अभ्यास कर लेने वाला योगी ध्यान की सिद्धि के लिए तीर्थंकरों की जन्म, दीक्षा, कैवल्य या निर्वाण भूमि में जाए। यदि वहाँ जाने की सुविधा न हो तो स्त्री, पशु एवं नपुंसक से रहित किसी भी गिरि-गुफा आदि एकान्त स्थान का आश्रय ले ।

आसनों का निर्देश

पर्यङ्क-वीर-वज्राब्ज-भद्र-दण्डासनानि च ।
उत्कटिका गोदोहिका कायोत्सर्गस्तथासनम् ॥ १२४ ॥

पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दंडासन, उत्कटिकासन, गोदोहिकासन, कायोत्सर्गासन आदि आसन कहे गए हैं ।

आसनों का स्वरूप

१. पर्यंकासन

स्याज्जंघयोरधोभागे पादोपरि कृते सति ।
पर्यङ्को नाभिगोत्तान - दक्षिणोत्तर-पाणिकः ॥ १२५ ॥

दोनों जंघाओं के निचले भाग पैरों के ऊपर रखने पर तथा दाहिना और बांयाँ हाथ नाभि के पास ऊपर दक्षिण-उत्तर में रखने से 'पर्यंकासन' होता है ।

२. वीरासन

वामोऽह्रिर्दक्षिणोरूर्ध्वं, वामोरूपरि दक्षिणः ।
क्रियते यत्र तद्वीरोचितं वीरासनं स्मृतम् ॥ १२६ ॥

बांयाँ पैर दाहिनी जांघ पर और दाहिना पैर बांयीं जांघ पर जिस आसन में रखा जाता है, वह 'वीरासन' कहलाता है । यह आसन वीर पुरुषों के लिए उपयुक्त है ।

३. वज्रासन

पृष्ठे वज्राकृतीभूते दोर्भ्यां वीरासने सति ।
गृह्णीयात्पादयोर्यत्रांगुष्ठो वज्रासनं तु तत् ॥ १२७ ॥

पूर्वकथित वीरासन करने के पश्चात्, वज्र की आकृतिवत् दोनों हाथ पीछे रखकर, दोनों हाथों से पैर के अंगूठे पकड़ने पर जो आकृति बनती है, वह 'वज्रासन' कहलाता है । कुछ आचार्य इसे 'बेतालासन' भी कहते हैं ।

मतान्तर से वीरासन

सिंहासनाधिरूढस्यासनापनयने सति ।
तथैवावस्थितिर्या तामन्ये वीरासनं विदुः ॥ १२८ ॥

कोई पुरुष जमीन पर पैर रखकर सिंहासन पर बैठा हो और पीछे से उसका आसन हटा दिया जाए और उससे उसकी जो आकृति बनती है, वह 'वीरासन' है, यह दूसरे आचार्यों का मत है।

४. पद्मासन

जङ्घाया मध्यभागे तु संश्लेषो यत्र जङ्घया।
पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः ॥ १२९ ॥

एक जांघ के साथ दूसरी जांघ को मध्यभाग में मिलाकर रखना 'पद्मासन' है, ऐसा आसनों के विशेषज्ञों का कथन है।

५. भद्रासन

सम्पुटीकृत्य मुष्काग्रे तलपादौ तथोपरि।
पाणिकच्छपिकां कुर्यात् यत्र भद्रासनं तु तत् ॥ १३० ॥

दोनों पैरों के तलभाग वृषण-प्रदेश में—अंडकोषों की जगह एकत्र करके, उनके ऊपर दोनों हाथों की अँगुलियाँ एक-दूसरी अंगुली में डाल कर रखना, 'भद्रासन' कहलाता है।

६. दण्डासन

श्लिष्टांगुली श्लिष्टगुल्फौ भूश्लिष्टोरू प्रसारयेत्।
यत्रोपविश्य पादौ तद्दण्डासनमुदीरितम् ॥ १३१ ॥

जमीन पर बैठकर इस प्रकार पैर फैलाना कि अंगुलियाँ, गुल्फ और जांघें जमीन के साथ लगी रहें, यह 'दंडासन' कहा गया है।

७-८. उत्कटिक और गोदोहासन

पुतपार्ष्णि - समायोगे प्राहुरुत्कटिकासनम्।
पार्ष्णिभ्यां तु भुवस्त्यागे तत्स्याद् गोदोहिकासनम् ॥१३२॥

जमीन से लगी हुई एड़ियों के साथ जब दोनों नितम्ब मिलते हैं, तब 'उत्कटिक-आसन' होता है और जब एड़ियाँ जमीन से लगी हुई नहीं होतीं, तब वह 'गोदुह-आसन' कहलाता है।

९. कायोत्सर्गासन

प्रलम्बित-भुज-द्वन्द्वमूर्ध्वस्थस्यासितस्य वा।
स्थानं कायानपेक्षं यत्कायोत्सर्गः स कीर्तितः॥ १३३॥

कायिक—शारीरिक ममत्व का त्याग करके, दोनों भुजाओं को नीचे लटकाकर शरीर और मन से स्थिर होना 'कायोत्सर्गासन' है। यह आसन खड़े होकर, बैठकर और शारीरिक कमजोरी की अवस्था में लेट कर भी किया जा सकता है। इस आसन की विशेषता यह है कि इसमें मन, वचन और काय-योग को स्थिर करना पड़ता है। केवल परिचय के लिए उक्त आसनों का स्वरूप बतलाया गया है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक आसन हैं, जिन्हें अन्यत्र देखना चाहिए।

आसनों का विधान

जायते येन येनेह विहितेन स्थिरं मनः।
तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यान-साधनम्॥ १३४॥

अमुक आसनों का ही प्रयोग किया जाए और अमुक का नहीं, ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। जिस-जिस आसन का प्रयोग करने से मन स्थिर होता हो, उसी आसन का ध्यान के साधन के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

ध्यान विधि

सुखासन-समासीनः सुश्लिष्टाधरपल्लवः।
नासाग्रन्यस्तदृग्द्वन्द्वो दन्तैर्दन्तान-संस्पृशन्॥ १३५॥
प्रसन्न-वदनः पूर्वाभिमुखो वाप्युदङ्मुखः।
अप्रमत्तः सुसंस्थानो ध्याता ध्यानोद्यतो भवेत्॥ १३६॥

ध्याता पुरुष जब ध्यान करने के लिए उद्यत हो, तब उसे इन बातों का ध्यान रखना चाहिए—

१. ऐसे आरामदेह आसन में बैठे कि जिससे लम्बे समय तक बैठने पर भी मन विचलित न हो।

२. दोनों ओष्ठ मिले हुए हों।

३. दोनों नेत्र नासिका के अग्रभाग पर स्थापित हों।

४. दांत इस प्रकार रखें कि ऊपर के दांतों के साथ नीचे के दांतों का स्पर्श न हो।

५. मुखमण्डल प्रसन्न हो।

६. पूर्व या उत्तर दिशा में मुख हो।

७. प्रमाद से रहित हो।

८. मेरुदण्ड को सीधा रखकर सुव्यवस्थित आकार में स्थित हो।

पंचम प्रकाश

प्राणायाम का स्वरूप

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, योग के यह आठ अंग माने गए हैं। इनमें से चौथा अंग 'प्राणायाम' है। आचार्य पतंजलि आदि ने मुक्ति-साधना के लिए प्राणायाम को उपयोगी माना है। परन्तु, मोक्ष के साधन रूप ध्यान में वह उपयोगी नहीं है। फिर भी शरीर की नीरोगता और कालज्ञान में उसकी उपयोगिता है। इस कारण यहाँ उसका वर्णन किया गया है।

प्राणायामस्ततः कैश्चिदाश्रितो ध्यान-सिद्धये।
शक्यो नेतरथा कर्त्तुं मनःपवन-निर्जयः ॥ १ ॥

मुख और नासिका के अन्दर संचार करने वाला वायु 'प्राण' कहलाता है। उसके संचार का निरोध करना 'प्राणायाम' है। आसनों का अभ्यास करने के पश्चात् किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने ध्यान की सिद्धि के लिए प्राणायाम को उपयोगी माना है, क्योंकि प्राणायाम के बिना मन और पवन जीता नहीं जा सकता।

प्राणायाम से मनोजय

मनो यत्र मरुत्तत्र मरुद्यत्र मनस्ततः।
अतस्तुल्य-क्रियावेतौ संवीतौ क्षीर-नीरवत् ॥ २ ॥

जहाँ मन है, वहाँ पवन है और जहाँ पवन है, वहाँ मन है। अतः

समान क्रिया वाले मन और पवन—क्षीर-नीर की भाँति आपस में मिले हुए हैं।

एकस्य नाशेऽन्यस्य स्यान्नाशो वृत्तौ च वर्तनम् ।
ध्वस्तयोरिन्द्रियमति ध्वंसान्मोक्षश्च जायते ॥ ३ ॥

मन और पवन में से एक का नाश होने पर दूसरे का नाश होता है और एक की प्रवृत्ति होने पर दूसरे की प्रवृत्ति होती है। जब इन दोनों का नाश हो जाता है, तब इन्द्रिय और बुद्धि के व्यापार का भी नाश हो जाता है और इनके व्यापार का नाश हो जाने से मोक्ष लाभ होता है।

टिप्पण—जब जीव शरीर का त्याग करके चला जाता है, तब मन और पवन का नाश हो जाता है और इन्द्रिय तथा विचार की प्रवृत्ति भी बन्द हो जाती है। परन्तु, यहाँ उस प्रवृत्ति के बन्द होने से प्रयोजन नहीं है, क्योंकि उससे मोक्ष नहीं होता। आत्मिक उपयोग की पूर्ण जागृति होने पर मन और पवन की प्रवृत्ति बन्द हो जाए और उसके फलस्वरूप इन्द्रिय तथा बुद्धि की प्रवृत्ति बन्द हो जाए, तब मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्राणायाम का लक्षण और भेद

प्राणायामो गतिच्छेदः श्वासप्रश्वासयोर्मतः ।
रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकश्चेति स त्रिधा ॥ ४ ॥

श्वास और उच्छ्‌वास की गति का निरोध करना 'प्राणायाम' कहलाता है। वह रेचक, पूरक और कुंभक के भेद से तीन प्रकार का है।

अन्य आचार्यों का मत

प्रत्याहारस्तथा शान्त उत्तरश्चाधरस्तथा ।
एभिर्भेदैश्चतुर्भिस्तु सप्तधा कीर्त्यते परैः ॥ ५ ॥

दूसरे आचार्यों की ऐसी मान्यता है कि पूर्वोक्त रेचक, पूरक और कुंभक के साथ प्रत्याहार, शान्त, उत्तर और अधर, यह चार भेद मिलाने से प्राणायाम सात प्रकार का होता है।

१. रेचक-प्राणायाम

> यः कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुराननैः ।
> बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥ ६ ॥

अत्यन्त प्रयत्न करके नासिका, ब्रह्मरन्ध्र और मुख के द्वारा कोष्ठ अर्थात् उदर में से वायु को बाहर निकालना 'रेचक-प्राणायाम' कहलाता है।

२-३. पूरक और कुंभक प्राणायाम

> समाकृष्य यदापानात् पूरणं स तु पूरकः ।
> नाभिपद्मे स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः ॥ ७ ॥

बाहर के पवन को खींचकर उसे अपान—गुदा द्वार पर्यन्त कोष्ठ में भर लेना 'पूरक-प्राणायाम' है और नाभि-कमल में स्थिर करके उसे रोक लेना 'कुंभक-प्राणायाम' कहलाता है।

४-५. प्रत्याहार और शान्त प्राणायाम

> स्थानात्स्थानान्तरोत्कर्षः प्रत्याहारः प्रकी[illegible] ।
> तालुनासाननद्वारैर्निरोधः शान्त [illegible] ॥

पवन को खींचकर एक स्थान से दूसरे स्थान [illegible] कहलाता है। तालु, नासिका और मुख के [illegible] देना 'शान्त' नामक प्राणायाम है।

टिप्पण—वायु को नाभि में से [illegible] खींच कर नाभि में, इस प्रकार [illegible] 'प्रत्याहार-प्राणायाम' है। [illegible]

और शान्त-प्राणायाम में वायु को नासिका आदि पवन निकलने के द्वारों से रोका जाता है। यही दोनों में अन्तर प्रतीत होता है।

६-७. उत्तर और अधर प्राणायाम

आपीयोर्ध्वं यदुत्कृष्य हृदयादिषु धारणम्।
उत्तरः स समाख्यातो विपरीतस्ततोऽधरः ॥ ९ ॥

बाहर के वायु का पान करके और उसे ऊपर खींच कर हृदय आदि में स्थापित कर रखना 'उत्तर-प्राणायाम' कहलाता है। इससे विपरीत ऊपर से नीचे की ओर ले जाकर उसे धारण करना 'अधर-प्राणायाम' कहलाता है।

प्राणायाम का फल

रेचनादुदरव्याधेः कफस्य च परिक्षयः।
पुष्टिः पूरक-योगेन व्याधि-घातश्च जायते ॥ १० ॥
विकसत्याशु हृत्पद्मं ग्रन्थिरन्तर्विभिद्यते।
बलस्थैर्य-विवृद्धिश्च कुम्भकाद् भवति स्फुटम् ॥ ११ ॥
प्रत्याहाराद्बलं कान्तिर्दोषशान्तिश्च शान्ततः।
उत्तराधरसेवातः स्थिरता कुम्भकस्य तु ॥ १२ ॥

रेचक-प्राणायाम से उदर की व्याधि का और कफ का विनाश होता है। पूरक-प्राणायाम से शरीर पुष्ट होता है और व्याधि नष्ट होती है।

कुंभक-प्राणायाम करने से हृदय-कमल तत्काल विकसित हो जाता है, अन्दर की ग्रन्थि का भेदन होता है, बल की वृद्धि होती है और वायु की स्थिरता होती है।

प्रत्याहार करने से शरीर में बल और तेज बढ़ता है। शान्त नामक प्राणायाम से दोषों—वात, पित्त, कफ या सन्निपात की शान्ति होती है। उत्तर और अधर नामक प्राणायाम कुम्भक को स्थिर बनाते हैं।

प्राणमपानसमानावुदानं व्यानमेव च ।
प्राणायामैर्जयेत् स्थान-वर्ण-क्रियार्थ-बीजवित्॥ १३ ॥

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, यह पाँच प्रकार का पवन है। कौन पवन शरीर के किस प्रदेश में रहता है ? किसका कैसा वर्ण—रंग है ? कैसी क्रिया है ? कैसा अर्थ है ? और कैसा बीज है ? इन बातों को जान कर योगी प्राणायाम के द्वारा इन पर विजय प्राप्त करे।

टिप्पण—उक्त पाँच प्रकार के पवन—वायु का संक्षेप में निम्न स्वरूप है—

१. प्राण—उच्छ्वास-निश्वास का व्यापार 'प्राण-वायु' है।
२. अपान—मल, मूत्र और गर्भादि को बाहर लाने वाला वायु।
३. समान—भोजन-पानी से बने रस को शरीर के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में पहुँचाने वाला वायु।
४. उदान—रस आदि को ऊपर ले जाने वाला वायु।
५. व्यान—सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहा हुआ वायु।

१. प्राण-वायु

प्राणो नासाग्रहृन्नाभिपादांगुष्ठान्तगो हरित् ।
गमागम-प्रयोगेण तज्जयो धारणेन च ॥ १४ ॥

प्राण-वायु नासिका के अग्रभाग में, हृदय में, नाभि में और पैर के अंगूष्ठ पर्यन्त फैलने वाला है। उसका वर्ण हरा है। गमागम के प्रयोग और धारण के द्वारा उसे जीतना चाहिए।

टिप्पण—प्रस्तुत में 'गम' का अर्थ 'रेचक-क्रिया', 'आगम' का अर्थ 'पूरकक्रिया' और धारणा का अर्थ 'कुम्भक-क्रिया' है। इन तीनों क्रियाओं से एक प्राणायाम होता है। जिस वायु का जो स्थान है, उस स्थान पर रेचक, पूरक और कुम्भक करने से उस वायु पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

तेरहवें श्लोक में बतलाए हुए वायु के स्थान आदि पाँच-पाँच भेदों में से यहाँ प्राण-वायु के स्थान, वर्ण और क्रिया—प्रयोग का प्रतिपादन किया गया है। अर्थ और बीज का वर्णन बाद में किया जाएगा।

प्रयोग और धारण

नासादि-स्थान-योगेन पूरणाद्रेचनान्मुहुः।
गमागमप्रयोगः स्याद्धारणं कुम्भनात् पुनः ॥ १५ ॥

नासिका आदि स्थानों में बार-बार वायु का पूरण और रेचन करने से गमागम प्रयोग होता है और उसका अवरोध—कुम्भक करने से धारण प्रयोग होता है।

२. अपान-वायु

अपानः कृष्णरुग्मन्यापृष्ठपृष्ठान्तपार्ष्णिगः।
जेयः स्वस्थान-योगेन रेचनात्पूरणान्मुहुः ॥ १६ ॥

अपान-वायु का रंग काला है। गर्दन के पीछे की नाड़ी, पीठ, गुदा और एड़ी में उसका स्थान है। इन स्थानों में बार-बार रेचक, पूरक करके इसे जीतना चाहिए।

३. समान-वायु

शुक्लः समानो हृन्नाभिसर्वसन्धिष्ववस्थितः।
जेयः स्वस्थान - योगेनासकृद्रेचनपूरणात् ॥ १७ ॥

समान-वायु का वर्ण श्वेत है। हृदय, नाभि और सब संधियों में उसका निवास स्थान है। इन स्थानों में बार-बार रेचक और पूरक करके उसे जीतना चाहिए।

४. उदान-वायु

रक्तो हृत्कण्ठ-तालु-भ्रू-मध्यमूर्धनि च संस्थितः।
उदानो वश्यतां नेयो गत्यागति - नियोगतः ॥ १८ ॥

उदान वायु का वर्ण लाल है। हृदय, कंठ, तालु, भ्रकुटि का मध्य-भाग और मस्तक उसका स्थान है। उसे भी गमागम के प्रयोग से वश में करना—जीतना चाहिए।

प्रयोग की विधि

नासाकर्षण-योगेन स्थापयेत्तं हृदादिषु।
बलादुत्कृष्यमाणं च रुध्वा रुध्वा वशं नयेत्॥ १९॥

नासिका के द्वारा बाहर से वायु को खींच कर उसे हृदय में स्थापित करना चाहिए। यदि वह वायु जबरदस्ती दूसरे स्थान में जाता हो, तो उसे बार-बार निरोध करके वश में करना चाहिए।

टिप्पण—वायु को जीतने का यह उपाय प्रत्येक वायु के लिए लागू होता है। वायु के जो-जो निवास स्थान बतलाए हैं, वहाँ-वहाँ पहले पूरक-प्राणायाम करना चाहिए अर्थात् नासिका द्वारा बाहर के वायु को अन्दर खींचकर उसे उस-उस स्थान पर रोकना चाहिए। ऐसा करने से खींचने और छोड़ने की दोनों क्रियाएँ बन्द हो जाएँगी और वह वायु उस स्थान पर नियत समय तक स्थिर रहेगा। यदि कभी वह वायु जोर मार कर दूसरे स्थान पर चला जाए, तो उसे बार-बार रोक कर और कुछ समय तक कुम्भक-प्राणायाम करके नासिका के एक छिद्र द्वारा उसे धीरे-धीरे बाहर निकाल देना चाहिए। फिर उसी छिद्र द्वारा उसे भीतर खींच कर कुम्भक-प्राणायाम करना चाहिए। ऐसा करने से वायु वशीभूत हो जाता है।

५. व्यान-वायु

सर्वत्वग्वृत्तिको व्यानः शक्रकार्मुकसन्निभः।
जेतव्यः कुम्भकाभ्यासात् संकोचप्रसृतिक्रमात्॥ २०॥

व्यान-वायु का इन्द्रधनुष-सा वर्ण है। त्वचा के सर्व भागों में उसका निवास है। संकोच और प्रसार अर्थात् पूरक और रेचक-

प्राणायाम के क्रम से तथा कुम्भक-प्राणायाम के अभ्यास से उसे जीतना चाहिए।

पाँचों वायु के बीज

प्राणापानसमानोदान-व्यानेष्वेषु च वायुषु ।
यैं पैं वैं रौं लौं बीजानि ध्यातव्यानि यथाक्रमम् ॥ २१ ॥

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान वायु को वश में करते समय या इन्हें जीतने के लिए प्राणायाम करते समय क्रमशः 'यैं' आदि बीजाक्षरों का ध्यान करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि प्राण वायु को जीतते समय 'यैं' का, अपान को जीतते समय 'पैं' का, समान को जीतते समय 'वैं' का, उदान विजय के समय 'रौं' का और व्यान-विजय के समय 'लौं' बीजाक्षर का ध्यान करना चाहिए।

वायु-विजय से लाभ

प्राबल्यं जाठरस्याग्नेर्दीर्घश्वासमरुज्जयौ ।
लाघवं च शरीरस्य प्राणस्य विजये भवेत् ॥ २२ ॥

रोहणं क्षतभंगादेरुदराग्नेः प्रदीपनम् ।
वर्चोऽल्पत्वं व्याधिघातः समानापानयोर्जये ॥ २३ ॥

उत्क्रान्तिर्वारि-पङ्काद्यैश्चाबाधोदान-निर्जये ।
जये व्यानस्य शीतोष्णासंगः कान्तिररोगिता ॥ २४ ॥

प्राण-वायु को जीतने से जठराग्नि प्रबल होती है, अविच्छिन्न रूप से श्वास की प्रवृत्ति होती है और शेष वायु भी वश में हो जाती हैं, क्योंकि प्राण-वायु पर सभी वायु आश्रित हैं। इससे शरीर में लघुता आ जाती है।

यदि शरीर में घाव हो जाए तो समान-वायु और अपान-वायु को जीतने से घाव जल्दी भर जाता है, टूटी हुई हड्डी जुड़ जाती है, जठराग्नि

तेज हो जाती है, मल-मूत्र कम हो जाता है और व्याधियों का नाश हो जाता है।

उदान-वायु पर विजय प्राप्त करने से मनुष्य में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि वह चाहे तो मृत्यु के समय अर्चिमार्ग दशम द्वार से प्राण त्याग कर सकता है, पानी और कीचड़ से शरीर को बाधा नहीं होती और कण्टक आदि का कष्ट भी नहीं होता। व्यान-वायु के विजय से शरीर पर सर्दी-गर्मी का असर नहीं होता, शरीर का तेज बढ़ता है और नीरोगता प्राप्त होती है।

यत्र-यत्र भवेत्स्थाने जन्तो रोगः प्रपीडकः।
तच्छान्त्यै धारयेत्तत्र प्राणादि मरुतः सदा ॥ २५ ॥

प्राणी को पीड़ा उत्पन्न करने वाला रोग जिस-जिस स्थान पर उत्पन्न हुआ हो, उसकी शान्ति के लिए उसी-उसी स्थान पर प्राणादि वायु को रोक रखना चाहिए।

टिप्पण—शरीर के प्रत्येक भाग में, पाँच प्रकार की वायु में से कोई न कोई वायु अवश्य रहती है। जब शरीर के किसी भाग में रोग की उत्पत्ति हो, तो पहले पूरक-प्राणायाम करके उस भाग में कुम्भक-प्राणायाम करना चाहिए। ऐसा करने से रोग का नाश हो जाता है।

एवं प्राणादि विजये कृताभ्यासः प्रतिक्षणम्।
धारणादिकमभ्यस्येन्मनःस्थैर्यकृते सदा ॥ २६ ॥

इस प्रकार प्राणादि वायु को जीतने का अभ्यास करके, मन की स्थिरता के लिए निरन्तर धारण, ध्यान एवं समाधि का अभ्यास करना चाहिए।

धारण की विधि

उक्तासनसमासीनो रेचयित्वाऽनिलं शनैः।
आपादांगुष्ठपर्यन्तं वाममार्गेण पूरयेत् ॥ २७ ॥

पादांगुष्ठे मनः पूर्वं रुध्द्वा पादतले ततः ।
पार्ष्णौ गुल्फे च जंघायां जानुन्यूरौ गुदे ततः ॥ २८ ॥
लिंगे नाभौ च तुन्दे च हृत्कण्ठरसनेऽपि च ।
तालुनासाग्रनेत्रे च भ्रुवोर्भाले शिरस्यथ ॥ २९ ॥
एवं रश्मि-क्रमेणैव धारयन्मरुता सह ।
स्थानात्स्थानान्तरं नीत्वा यावद् ब्रह्मपुरं नयेत् ॥ ३० ॥
ततः क्रमेण तेनैव पादांगुष्ठान्तमानयेत् ।
नाभिपद्मान्तरं नीत्वा ततो वायुं विरेचयेत् ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्त आसनों में से किसी एक आसन से स्थित होकर, धीरे-धीरे पवन का रेचन करके—बाहर निकाल कर उसे नासिका के बांएँ छिद्र से अन्दर खींचे और पैर के अंगूठे तक ले जाए और मन का भी पैर के अंगुष्ठ में निरोध करे। फिर अनुक्रम से वायु के साथ मन को पैर के तल भाग में, एड़ी में, गुल्फ में, जांघ में, जानु में, ऊरु में, गुदा में, लिंग में, नाभि में, पेट में, हृदय में, कंठ में, जीभ में, तालु में, नासिका के अग्रभाग में, नेत्र में, भ्रकुटि में, कपाल में और मस्तक में, धारण करे और अन्त में उन्हें ब्रह्म-रन्ध्र पर्यन्त ले जाना चाहिए। तदनन्तर पूर्वोक्त क्रम से पीछे लौटाते हुए अन्त में मन सहित पवन को पैर के अंगूठे में ले आना चाहिए और उन्हें वहाँ से नाभि-कमल में ले जाकर वायु का रेचक करना चाहिए।

धारणा का फल

पादांगुष्ठादौ जंघायां जानूरुगुदमेदने ।
धारितः क्रमशो वायुः शीघ्रगत्यै बलाय च ॥ ३२ ॥
नाभौ ज्वरादिघाताय जठरे काय-शुद्धये ।
ज्ञानाय हृदये कूर्मनाड्यां रोग-जराच्छिदे ॥ ३३ ॥
कण्ठे क्षुत्तर्पनाशाय जिह्वाग्रे रससंविदे ।
गन्धज्ञानाय नासाग्रे रूपज्ञानाय चक्षुषोः ॥ ३४ ॥

भाले तद्रोगनाशाय, क्रोधस्योपशमाय च।
ब्रह्म-रन्ध्रे च सिद्धानां साक्षाद्दर्शन-हेतवे ॥ ३५ ॥

पैर के अंगूठे में, एड़ी में और गुल्फ—टकने में, जंघा में, घुटने में, ऊरु में, गुदा में और लिंग में—अनुक्रम से वायु को धारण कर रखने से शीघ्र गति और बल की प्राप्ति होती है।

नाभि में वायु को धारण करने से ज्वर दूर हो जाता है, जठर में धारण करने से मलशुद्धि होने से शरीर शुद्ध होता है, हृदय में धारण करने से ज्ञान की वृद्धि होती है तथा कूर्म-नाड़ी में धारण करने से रोग और वृद्धावस्था का नाश होता है—वृद्धावस्था में भी शरीर में जवानों जैसी स्फूर्ति बनी रहती है।

कंठ में वायु को धारण करने से भूख-प्यास नहीं लगती और यदि क्षुधा-पिपासा लगी हो तो शान्त जाती है। जीभ के अग्रभाग पर वायु का निरोध करने से रस-ज्ञान की वृद्धि होती है। नासिका के अग्रभाग पर रोकने से गंध का ज्ञान होता है। चक्षु में धारण करने से रूप-ज्ञान की वृद्धि होती है।

कपाल-मस्तिष्क में वायु को धारण करने से कपाल-मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों का नाश होता है और क्रोध का उपशम होता है। ब्रह्मरन्ध्र में वायु को रोकने से साक्षात् सिद्धों के दर्शन होते हैं।

पवन की चेष्टा

अभ्यस्य धारणामेवं सिद्धीनां कारणं परम्।
चेष्टितं पवमानस्य जानीयाद् गतसंशयः ॥ ३६ ॥

धारणा सिद्धियों का परम कारण है। उसका इस प्रकार अभ्यास करके फिर निश्शंक होकर पवन की चेष्टा को जानने का प्रयत्न करे।

नाभेनिष्क्रामतश्चारं हृन्मध्ये नयतो गतिम्।
तिष्ठतो द्वादशान्ते तु विन्द्यात्स्थानं नभस्वतः ॥ ३७ ॥

पादांगुष्ठे मनः पूर्वं रुद्ध्वा पादतले ततः ।
पार्ष्णौ गुल्फे च जंघायां जानुन्यूरौ गुदे ततः ॥ २८ ॥
लिंगे नाभौ च तुन्दे च हृत्कण्ठरसनेऽपि च ।
तालुनासाग्रनेत्रे च भ्रुवोर्भाले शिरस्यथ ॥ २९ ॥
एवं रश्मि-क्रमेणैव धारयन्मरुता सह ।
स्थानात्स्थानान्तरं नीत्वा यावद् ब्रह्मपुरं नयेत् ॥ ३० ॥
ततः क्रमेण तेनैव पादांगुष्ठान्तमानयेत् ।
नाभिपद्मान्तरं नीत्वा ततो वायुं विरेचयेत् ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्त आसनों में से किसी एक आसन से स्थित होकर, धीरे-धीरे पवन का रेचन करके—बाहर निकाल कर उसे नासिका के बांएँ छिद्र से अन्दर खींचे और पैर के अंगूठे तक ले जाए और मन का भी पैर के अंगुष्ठ में निरोध करे। फिर अनुक्रम से वायु के साथ मन को पैर के तल भाग में, एड़ी में, गुल्फ में, जांघ में, जानु में, ऊरु में, गुदा में, लिंग में, नाभि में, पेट में, हृदय में, कंठ में, जीभ में, तालु में, नासिका के अग्रभाग में, नेत्र में, भ्रकुटि में, कपाल में और मस्तक में, धारण करे और अन्त में उन्हें ब्रह्म-रन्ध्र पर्यन्त ले जाना चाहिए। तदनन्तर पूर्वोक्त क्रम से पीछे लौटाते हुए अन्त में मन सहित पवन को पैर के अंगूठे में ले आना चाहिए और उन्हें वहाँ से नाभि-कमल में ले जाकर वायु का रेचक करना चाहिए।

धारण का फल

पादांगुष्ठादौ जंघायां जानूरुगुदमेदने ।
धारितः क्रमशो वायुः शीघ्रगत्यै बलाय च ॥ ३२ ॥
नाभौ ज्वरादिघाताय जठरे काय-शुद्धये ।
ज्ञानाय हृदये कूर्मनाड्यां रोग-जराच्छिदे ॥ ३३ ॥
कण्ठे क्षुत्तर्षनाशाय जिह्वाग्रे रससंविदे ।
गन्धज्ञानाय नासाग्रे रूपज्ञानाय चक्षुषोः ॥ ३४ ॥

भाले तद्रोगनाशाय, क्रोधस्योपशमाय च ।
ब्रह्म-रन्ध्रे च सिद्धानां साक्षाद्दर्शन-हेतवे ॥ ३५ ॥

पैर के अंगूठे में, एड़ी में और गुल्फ—टकने में, जंघा में, घुटने में, ऊरु में, गुदा में और लिंग में—अनुक्रम से वायु को धारण कर रखने से शीघ्र गति और बल की प्राप्ति होती है।

नाभि में वायु को धारण करने से ज्वर दूर हो जाता है, जठर में धारण करने से मलशुद्धि होने से शरीर शुद्ध होता है, हृदय में धारण करने से ज्ञान की वृद्धि होती है तथा कूर्म-नाड़ी में धारण करने से रोग और वृद्धावस्था का नाश होता है—वृद्धावस्था में भी शरीर में जवानों जैसी स्फूर्ति बनी रहती है।

कंठ में वायु को धारण करने से भूख-प्यास नहीं लगती और यदि क्षुधा-पिपासा लगी हो तो शान्त जाती है। जीभ के अग्रभाग पर वायु का निरोध करने से रस-ज्ञान की वृद्धि होती है। नासिका के अग्रभाग पर रोकने से गंध का ज्ञान होता है। चक्षु में धारण करने से रूप-ज्ञान की वृद्धि होती है।

कपाल-मस्तिष्क में वायु को धारण करने से कपाल-मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों का नाश होता है और क्रोध का उपशम होता है। ब्रह्मरन्ध्र में वायु को रोकने से साक्षात् सिद्धों के दर्शन होते हैं।

पवन की चेष्टा

अभ्यस्य धारणामेवं सिद्धीनां कारणं परम् ।
चेष्टितं पवमानस्य जानीयाद् गतसंशयः ॥ ३६ ॥

धारणा सिद्धियों का परम कारण है। उसका इस प्रकार अभ्यास करके फिर निश्शंक होकर पवन की चेष्टा को जानने का प्रयत्न करे।

नाभेर्निष्क्रामतश्चारं हृन्मध्ये नयतो गतिम् ।
तिष्ठतो द्वादशान्ते तु विन्द्यात्स्थानं नभस्वतः ॥ ३७ ॥

नाभि में से पवन का निकलना 'चार' कहलाता है, हृदय के मध्य में से जाना 'गति' है और ब्रह्मरन्ध्र में रहना वायु का 'स्थान' समझना चाहिए।

चार आदि ज्ञान का फल

तच्चार-गमन-स्थान-ज्ञानादभ्यासयोगतः।
जानीयात्कालमायुश्च शुभाशुभ-फलोदयम् ॥ ३८ ॥

वायु के चार, गमन और स्थान को अभ्यास करके जान लेने से काल—मरण, आयु—जीवन और शुभाशुभ फल के उदय को जाना जा सकता है।

ततः शनैः समाकृष्य पवनेन समं मनः।
योगी हृदय-पद्मान्तर्विनिवेश्य नियंत्रयेत् ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् योगी पवन के साथ मन को धीरे-धीरे खींच कर उसे हृदय-कमल के अन्दर प्रविष्ट करके उसका निरोध करते हैं।

ततोऽविद्या विलीयन्ते विषयेच्छा विनश्यति।
विकल्पा विनिवर्त्तन्ते ज्ञानमन्तर्विजृम्भते ॥ ४० ॥

हृदय-कमल में मन को रोकने से अविद्या—कुवासना या मिथ्यात्व विलीन हो जाता है, इन्द्रिय-विषयों की अभिलाषा नष्ट हो जाती है, विकल्पों का विनाश हो जाता है और अन्तर में ज्ञान प्रकट हो जाता है।

क्व मण्डले गतिर्वायोः संक्रमः क्व क्व विश्रमः
का च नाडीति जानीयात् तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥ ४१ ॥

हृदय-कमल में मन को स्थिर करने से यह जाना जा सकता है कि किस मंडल में वायु की गति है, उसका किस तत्त्व में प्रवेश होता है, वह कहाँ जाकर विश्राम पाती है और इस समय कौन-सी नाड़ी चल रही है।

मण्डलों का निर्देश

मण्डलानि च चत्वारि नासिका-विवरे विदुः ।
भौम-वारुण-वायव्याग्नेयाख्यानि यथोत्तरम् ॥ ४२ ॥

नासिका के विवर में चार मंडल होते हैं—१. भौम—पार्थिव मंडल, २. वारुण मंडल, ३. वायव्य मंडल, और ४. आग्नेय मंडल ।

१. भौम-मंडल

पृथिवी-बीज-सम्पूर्णं, वज्र-लाञ्छन-संयुतम् ।
चतुरस्रं द्रुतस्वर्णप्रभं स्याद् भौम-मण्डलम् ॥ ४३ ॥

पृथ्वी के बीज से परिपूर्ण, वज्र के चिह्न से युक्त, चौरस और तपाये हुए सोने के वर्ण—रंग वाला, 'पार्थिव मंडल' है ।

टिप्पण—पार्थिव-बीज 'अ' अक्षर है । कोई-कोई आचार्य 'ल' को पार्थिव-बीज मानते हैं । आचार्य हेमचन्द्र ने 'क्ष' को पार्थिव-वीज माना है ।

२. वारुण-मंडल

स्यादर्धचन्द्रसंस्थानं वारुणाक्षरलाञ्छितम् ।
चन्द्राभममृतस्यन्दसान्द्रं वारुण-मण्डलम् ॥ ४४ ॥

वारुण-मण्डल—अष्टमी के चन्द्र के समान आकार वाला, वारुण अक्षर 'व' के चिह्न से युक्त, चन्द्रमा के सदृश उज्ज्वल और अमृत के झरने से व्याप्त है ।

३. वायव्य-मंडल

स्निग्धाञ्जनघनच्छायं सुवृत्तं विन्दुसंकुलम् ।
दुर्लक्ष्यं पवनाक्रान्तं चञ्चलं वायु-मण्डलम् ॥ ४५ ॥

वायव्य-मण्डल—स्निग्ध अंजन और मेघ के समान श्याम कान्ति वाला, गोलाकार, मध्य में विन्दु के चिह्न से व्याप्त, मुश्किल से मालूम

होने वाला, चारों ओर पवन से वेष्टित—पवन-बीज 'य' अक्षर से घिरा हुआ और चंचल है।

४. आग्नेय-मंडल

ऊर्ध्वज्वालाञ्चितं भीमं त्रिकोणं स्वस्तिकान्वितम्।
स्फुलिंगपिंगं तद्बीजं ज्ञेयमाग्नेय-मण्डलम् ॥४६॥

ऊपर की ओर फैलती हुई ज्वालाओं से युक्त, भय उत्पन्न करने वाला, त्रिकोण, स्वस्तिक के चिह्न से युक्त, अग्नि के स्फुलिंग के समान वर्ण वाला और अग्नि-बीज रेफ 'ँ' से युक्त आग्नेय-मंडल कहा गया है।

अभ्यासेन स्वसंवेद्यं स्यान्मण्डल-चतुष्टयम्।
क्रमेण संचरन्नत्र वायुर्ज्ञेयश्चतुर्विधः ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्त चारों मंडल स्वयं जाने जा सकते हैं, परन्तु उन्हें जानने के लिए अभ्यास करना चाहिए। यकायक उनका ज्ञान नहीं हो सकता। इन चार मंडलों में संचार करने वाली वायु को भी चार प्रकार का जानना चाहिए।

चार प्रकार का वायु

१. पुरन्दर-वायु

नासिका-रन्ध्रमापूर्य पीतवर्णः शनैर्वहन्।
कवोष्णोऽष्टांगुलः स्वच्छो भवेद्वायुः पुरन्दरः ॥ ४८ ॥

पुरन्दर वायु—पृथ्वी तत्त्व का वर्ण पीला है, स्पर्श कुछ-कुछ उष्ण है और वह स्वच्छ होता है। वह नासिका के छिद्र को पूर कर धीरे-धीरे आठ अंगुल बाहर तक वहता है।

२. वरुण-वायु

धवलः शीतलोऽधस्तात्त्वरितत्वरितं वहन्।
द्वादशांगुलमानश्च वायुर्वरुण उच्यते ॥ ४९ ॥

जिसका श्वेत वर्ण है, शीतल स्पर्श है और जो नीचे की ओर बारह अंगुल तक शीघ्रता से बहने वाला है, उसे 'वरुण वायु'–जल-तत्त्व कहते हैं।

३. पवन-वायु

उष्णः शीतश्च कृष्णश्च वहन्तिर्यगनारतम्।
षडंगुल-प्रमाणश्च वायुः पवन-संज्ञितः ॥ ५० ॥

पवन—वायु-तत्त्व कहीं उष्ण और कहीं शीत होता है। उसका वर्ण काला है। वह निरन्तर छह अंगुल प्रमाण बहता रहता है।

४. दहन-वायु

बालादित्य-सम-ज्योतिरत्युष्णश्चतुरंगुलः।
आवर्त्तवान् वहन्नूर्ध्वं पवनः दहनः स्मृतः ॥ ५१ ॥

दहन-वायु—अग्नि-तत्त्व उदीयमान सूर्य के समान लाल वर्ण वाला है, अति उष्ण स्पर्श वाला है और ववंडर की तरह चार अंगुल ऊँचा बहता है।

इन्द्रं स्तम्भादिकार्येषु वरुणं शस्तकर्मसु।
वायुं मलिन-लोलेषु वश्यादौ वह्निमादिशेत् ॥ ५२ ॥

जब पुरन्दर-वायु बहता हो तब स्तंभन आदि कार्य करने चाहिए। वरुण-वायु के बहते समय प्रशस्त कार्य, पवन-वायु के बहते समय मलिन और चपल कार्य और दहन-वायु के बहते समय वशीकरण आदि कार्य करने चाहिए।

शुभाशुभ निर्णय

छत्र-चामर-हस्त्यश्वारामराज्यादिसम्पदम्।[१]
मनीषितं फलं वायुः समाचष्टे पुरन्दरः ॥ ५३ ॥
रामाराज्यादिसम्पूर्णैः पुत्र-स्वजन-बन्धुभिः।
सारेण वस्तुना चापि योजयेद् वरुणः क्षणात् ॥ ५४ ॥

---

१ श्वरामा।

कृषिसेवादिकं सर्वमपि सिद्धं विनश्यति ।
मृत्यु-भीः कलहो वैरं त्रासश्च पवने भवेत् ॥ ५५ ॥
भयं शोकं रुजं दुःखं विघ्नव्यूह-परम्पराम् ।
संसूचयेद्विनाशञ्च, दहनो दहनात्मकः ॥ ५६ ॥

जिस समय पुरन्दर-वायु वह रहा हो उस समय छत्र, चामर, हाथी, अश्व, स्त्री एवं राज्य आदि सम्पत्ति के विषय में कोई प्रश्न करे या इनके निमित्त कोई कार्य प्रारम्भ करे, तो इच्छित अर्थ की प्राप्ति होती है।

प्रश्न करते समय या कार्य आरम्भ करते समय यदि वरुण-वायु बहता हो, तो उससे राज्यादि से परिपूर्ण पुत्र, स्वजन, बन्धु और उत्तम वस्तु की प्राप्ति होती है।

प्रश्न या कार्यारंभ के समय पवन नामक वायु बहता हो, तो खेती और सेवा—नौकरी सम्बन्धी सिद्ध हुआ कार्य भी नष्ट हो जाता है, बिगड़ जाता है और मृत्यु का भय, क्लेश, वैर तथा त्रास उत्पन्न होता है।

प्रश्न या कार्यारंभ के समय दहन स्वभाव वाला दहन-वायु बहता हो, तो वह भय, शोक, रोग, दुःख और विघ्नों के समूह की परम्परा एवं धन-धान्य के विनाश का संसूचक है।

शशाङ्क-रवि-मार्गेण वायवा मण्डलेष्वमी ।
विशन्तः शुभदाः सर्वे निष्क्रामन्तोऽन्यथा स्मृताः ॥ ५७ ॥

यह पुरन्दर आदि चारों प्रकार के वायु चन्द्रमार्ग या सूर्यमार्ग से—बांयी और दाहिनी नाड़ी में होकर प्रवेश करते हों, तो शुभ फलदायक होते हैं और निकल रहे हों, तो अशुभ फलदायक होते हैं।

शुभाशुभ होने का कारण

प्रवेश-समये वायुर्जीव मृत्युस्तु निर्गमे ।
उच्यते ज्ञानिभिस्तादृक् फलमप्यनयोस्ततः ॥ ५८ ॥

वायु जब मंडल में प्रवेश करता है, तब उसे 'जीव' कहते हैं और जब वह मंडल में से बाहर निकलता है, तब उसे 'मृत्यु' कहते हैं। इसी कारण ज्ञानियों ने प्रवेश करते समय का फल 'शुभ' और निकलते समय के फल को 'अशुभ' कहा है।

टिप्पण—इसका तात्पर्य यह है कि जिस समय पूरक के रूप में वायु का भीतर प्रवेश हो रहा हो, उस समय कोई कार्य प्रारम्भ करे अथवा किसी कार्य के सम्बन्ध में प्रश्न करे, तो वह कार्य सिद्ध होता है, क्योंकि वह वायु 'जीव' है। इसके विपरीत, जब वायु रेचक के रूप में बाहर निकल रहा हो, तब कोई कार्य प्रारम्भ किया जाए या किसी कार्य की सिद्धि-असिद्धि के विषय में प्रश्न किया जाए, तो वह कार्य सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वह वायु 'मृत्यु' है।

पथेन्दोरिन्द्र-वरुणौ विशन्तौ सर्वसिद्धिदौ।
रविमार्गेण निर्यान्तौ प्रविशन्तौ च मध्यमौ ॥ ५६ ॥
दक्षिणेन विनिर्यान्तौ विनाशायानिलानलौ।
निःसरन्तौ विशन्तौ च मध्यमावितरेण तु ॥ ६० ॥

चन्द्रमार्ग से अर्थात् बांयी नासिका से प्रवेश करता हुआ पुरन्दर और वरुण वायु समस्त सिद्धियां प्रदान करता है तथा सूर्य-मार्ग से बाहर निकलते हुए एवं प्रवेश करते हुए दोनों वायु मध्यम फलदायक होते हैं।

टिप्पण—बांयी ओर का नासिकारन्ध्र 'चन्द्र-नाड़ी' और 'इडा-नाड़ी' कहलाता है तथा दाहिनी ओर का 'सूर्य-नाड़ी' और 'पिंगला-नाड़ी' कहलाता है। जिस समय चन्द्र-नाड़ी में पुरन्दर या वरुण-वायु प्रवेश करता है, यदि उस समय कोई कार्य आरम्भ किया जाए या किसी कार्य के विषय में प्रश्न किया जाए, तो वह कार्य सिद्ध होता है। जब यही दोनों वायु सूर्य-नाड़ी से प्रवेश कर रहे या निकल रहे हों, तब कार्य प्रारम्भ किया जाए या कार्य सम्बन्धी प्रश्न किया जाए, तो उस व्यक्ति को मध्यम फल की प्राप्ति होती है।

इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा चेति नाडिकाः ।
शशि-सूर्य-शिव-स्थानं वाम-दक्षिण-मध्यगाः ॥ ६१ ॥
पीयूषमिव वर्षन्ती सर्वगात्रेषु सर्वदा ।
वामाऽमृतमयी नाडी सम्मताऽभीष्टसूचिका ॥ ६२ ॥
वहन्त्यनिष्ट-शंसित्री संहर्त्री दक्षिणा पुनः ।
सुषुम्णा तु भवेत्सिद्धि-निर्वाण-फलकारणम् ॥ ६३ ॥

बांयीं तरफ की नाड़ी इड़ा कहलाती है और उसमें चन्द्र का स्थान है । दाहिनी ओर की नाड़ी—पिंगला में सूर्य का स्थान है और दोनों के मध्य में स्थित नाड़ी में—जो सुषुम्णा कहलाती है, शिवस्थान—मोक्ष-स्थान है ।

शरीर के समस्त भागों में सदा अमृत-वर्षा करने वाली अमृतमय बांयीं नाड़ी समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाली मानी गई है ।

वहती हुई दाहिनी नाड़ी अनिष्ट को सूचित करने वाली और कार्य का विघात करने वाली होती है ।

सुषुम्णा नाड़ी अणिमा आदि आठ महासिद्धियों का तथा मोक्ष रूप फल का कारण होती है ।

टिप्पण—सुषुम्णा नाड़ी में मोक्ष का स्थान है और अणिमा आदि सिद्धियों का कारण है, इस विधान का आशय यह है कि इस नाड़ी में ध्यान करने से लम्बे समय तक ध्यान-सन्तति चालू रहती है और इस कारण थोड़े समय में भी अधिक कर्मों का क्षय किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, सुषुम्णा नाड़ी में वायु की गति बहुत मंद होती है, अतः मन सरलता से स्थिर हो जाता है । मन एवं पवन की स्थिरता होने पर संयम की साधना भी सरल हो जाती है। धारणा, ध्यान और समाधि को एक ही स्थल पर करना संयम है और यह संयम सिद्धियों का कारण है । इसी अभिप्राय से सुषुम्णा नाड़ी को मोक्ष एवं सिद्धियों का कारण बतलाया गया है ।

वामैवाभ्युदयादीष्ट-शस्तकार्येषु सम्मता।
दक्षिणा तु रताहार-युद्धादौ दीप्त-कर्मणि ॥ ६४ ॥

अभ्युदय आदि इष्ट और प्रशस्त कार्यों में वांयीं नाड़ी अच्छी मानी गई है और मैथुन, आहार तथा युद्ध आदि दीप्त कार्यों में दाहिनी नाड़ी उत्तम मानी गई है।

टिप्पण—यात्रा, दान, विवाह, नवीन वस्त्राभूषण धारण करते समय, ग्राम-नगर एवं घर में प्रवेश करते समय, स्वजन-मिलन, शान्ति-कर्म, पौष्टिक कर्म, योगाभ्यास, राज-दर्शन, चिकित्सा, मैत्री, वीज-वपन, इत्यादि कार्यों के प्रारम्भ में वांयीं नाड़ी शुभ होती है और भोजन, विग्रह, विषय-प्रसंग, युद्ध, मंत्र-साधन, व्यापार आदि कार्यों के प्रारम्भ में दाहिनी नाड़ी शुभ मानी गई है।

पक्ष और नाड़ी

वामा शस्तोदये पक्षे सिते कृष्णे तु दक्षिणा।
त्रीणि त्रीणि दिनानीन्दु-सूर्ययोरुदयः शुभः ॥ ६५ ॥

शुक्ल पक्ष में सूर्योदय के समय वांयीं नाड़ी का उदय शुभ माना गया है और कृष्ण पक्ष में सूर्योदय के समय दाहिनी नाड़ी का उदय शुभ माना गया है। यह बांयीं और दाहिनी नाड़ी का उदय तीन-तीन दिन तक शुभ माना जाता है।

शशांकेनोदयो वायोः सूर्येणास्तं शुभावहम्।
उदये रविणा त्वस्य शशिनास्तं शिवं मतम् ॥ ६६ ॥

सूर्योदय के समय वायु का उदय चन्द्र स्वर में हुआ हो, तो उस दिन सूर्य स्वर में अस्त होना शुभ और कल्याणकारी है। यदि सूर्य स्वर में उदय और चन्द्र स्वर में अस्त हो तब भी शुभ होता है।

नाड़ी-उदय का स्पष्टीकरण

सितपक्षे दिनारम्भे यत्नतः प्रतिपद्दिने।
वायोर्वीक्षेत सञ्चारं प्रशस्तमितरं तथा ॥ ६७ ॥

उदेति पवनः पूर्वं शशिन्येष त्र्यहं ततः।
संक्रामति त्र्यहं सूर्ये शशिन्येव पुनस्त्र्यहम् ॥ ६८ ॥
वहेद्यावद् बृहत्पर्व क्रमेणानेन मारुतः।
कृष्ण-पक्षे पुनः सूर्योदय-पूर्वमयं क्रमः ॥ ६९ ॥

शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा के दिन, सूर्योदय के प्रारम्भ के समय यत्न-पूर्वक प्रशस्त या अप्रशस्त वायु के संचार को देखना चाहिए। प्रथम तीन दिन तक चन्द्र-नाड़ी में पवन का बहना प्रारम्भ होगा अर्थात् प्रति-पदा, द्वितीया और तृतीया के दिन सूर्योदय के समय चन्द्र-नाड़ी में पवन बहेगा। तत्पश्चात् तीन दिन तक अर्थात् चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी के दिन सूर्योदय के समय सूर्य-नाड़ी में बहेगा। तदनन्तर फिर तीन दिन तक चन्द्र-नाड़ी में और फिर तीन दिन तक सूर्य-नाड़ी में, इस क्रम से पूर्णिमा तक पवन बहता रहेगा। कृष्ण पक्ष में पहले तीन दिन तक सूर्योदय के समय सूर्य-नाड़ी में, फिर तीन दिन चन्द्र-नाड़ी में, इसी क्रम से तीन-तीन दिन के क्रम से अमावस्या तक बहेगा।

टिप्पण—स्मरण रखना चाहिए कि यह नियम सारे दिन के लिए नहीं, सिर्फ सूर्योदय के समय के लिए है। उसके पश्चात् एक-एक घंटे में चन्द्र-नाड़ी और सूर्य-नाड़ी बदलती रहती है। इस नियम में उलट-फेर होना अशुभ फल का सूचक है।

क्रम-विपर्यय का फल

त्रीन् पक्षानन्यथात्वेऽस्य मासषट्केन पञ्चता।
पक्ष-द्वयं विपर्यासेऽभीष्टबन्धु-विपद् भवेत् ॥ ७० ॥
भवेत्तु दारुणो व्याधिरेकं पक्षं विपर्यये।
द्वि-त्र्याद्यहर्विपर्यासे कलहादिकमुद्दिशेत् ॥ ७१ ॥

पहले वायु के बहने का जो क्रम कहा गया है, यदि उसमें लगातार तीन पक्ष तक विपर्यास हो, अर्थात् चन्द्र-नाड़ी के बदले सूर्य-नाड़ी में

और सूर्य-नाड़ी के वदले चन्द्र-नाड़ी में पवन वहे, तो छह महीने में मृत्यु होती है। यदि दो पक्ष तक विपर्यास होता रहे, तो प्रिय बन्धु पर विपत्ति आती है। एक पक्ष तक विपरीत पवन वहे, तो भयंकर व्याधि उत्पन्न होती है और यदि दो-तीन दिन तक विपरीत पवन वहे, तो कलह आदि अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है।

एकं द्वि-त्रीण्यहोरात्राण्यर्क एव मरुद्वहन् ।
वर्षैस्त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेनान्तायेन्दौ रुजे पुनः ॥ ७२ ॥

यदि किसी व्यक्ति के एक अहो-रात्रि अर्थात् दिन रात सूर्यनाड़ी में ही पवन चलता रहे, तो उसकी तीन वर्ष में मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार दो अहो-रात्रि सूर्यनाड़ी में पवन चले तो दो वर्ष में और तीन अहो-रात्रि चलता रहे तो एक वर्ष में मृत्यु हो जाती है।

मासमेकं रवावेव वहन् वायुर्विनिर्दिशेत् ।
अहो-रात्रावधि मृत्युं शशांके तु धन-क्षयम् ॥ ७३ ॥

यदि किसी व्यक्ति के एक मास पर्यन्त लगातार सूर्य-नाड़ी में ही पवन चलता रहे, तो उसकी एक अहो-रात्रि में ही मृत्यु हो जाती है। यदि एक मास तक चन्द्र-नाड़ी में ही पवन चलता रहे, तो उसके धन का क्षय होता है।

वायुस्त्रिमार्गगः शंसेन्मध्याह्नात्परतो मृतिम् ।
दशाहं तु द्विमार्गस्थः संक्रान्तौ मरणं दिशेत् ॥ ७४ ॥

इडा, पिंगला और सुषुम्णा, इन तीनों नाड़ियों में साथ-साथ पवन चले तो मध्याह्न—दो प्रहर के पश्चात् मरण को सूचित करता है। इडा और पिंगला, दोनों नाड़ियों में साथ-साथ वायु वहे, तो दस दिन में, और अकेली सुषुम्णा में लम्वे समय तक वायु वहे तो शीघ्र मरण होगा, ऐसा कहना चाहिए।

दशाहं तु वहन्निन्दावेवोद्वेगरुजे मरुत् ।
इतश्चेतश्च यामार्धं वहन् लाभार्चनादिकृत् ॥ ७५ ॥

लगातार दस दिन तक चन्द्र-नाड़ी में ही पवन चलता रहे तो उद्वेग और रोग उत्पन्न होता है। यदि आधे-आधे प्रहर में वायु बदलता रहे अर्थात् आधा प्रहर सूर्य-नाड़ी में और आधा प्रहर चन्द्र-नाड़ी में, इस क्रम से चले तो लाभ और पूजा-प्रतिष्ठा आदि शुभ फल की प्राप्ति होती है।

विषुवत्समयप्राप्तौ स्पन्देते यस्य चक्षुषी ।
अहोरात्रेण जानीयात् तस्य नाशमसंशयम् ॥ ७६ ॥

जब दिन और रात समान—बारह-बारह घंटे के होते हैं, तब वह विषुवत् काल कहलाता है। विषुवत् काल में जिसकी आँखें फड़कती हैं, उसकी निश्चय ही मृत्यु होती है।

पञ्चातिक्रम्य संक्रान्तीर्मुखे वायुर्वहन् दिशेत् ।
मित्रार्थहानी निस्तेजोऽनर्थान् सर्वान्मृतिं विना ॥ ७७ ॥

एक नाड़ी में से दूसरी नाड़ी में पवन का जाना 'संक्रान्ति' कहलाता है। यदि दिन की पाँच संक्रान्तियाँ बीत जाने पर वायु मुख से बहे तो उससे मित्र हानि, धन हानि और मृत्यु को छोड़कर सभी अनर्थ होते हैं।

संक्रान्तीः समतिक्रम्य त्रयोदश समीरणः ।
प्रवहन् वामनासायां रोगोद्वेगादि सूचयेत् ॥ ७८ ॥

यदि तेरह संक्रान्तियाँ व्यतीत हो जाने पर वायु वाम नासिका से बहे, तो वह रोग और उद्वेग की उत्पत्ति को सूचित करता है।

मार्गशीर्षस्य संक्रान्ति-कालादारभ्य मारुतः ।
वहन् पञ्चाहमाचष्टे वत्सरेऽष्टादशे मृतिम् ॥ ७९ ॥

मार्गशीर्ष मास के प्रथम दिन से अर्थात् शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से लेकर लगातार पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चलता रहे, तो वह उस दिन से अठारहवें वर्ष में मृत्यु का होना सूचित करता है।

शरत्संक्रान्तिकालाच्च पञ्चाहं मारुतो वहन् ।
ततः पञ्च-दशाब्दानामन्ते मरणमादिशेत् ॥ ८० ॥

यदि शरद् ऋतु की संक्रान्ति से अर्थात् आसौज शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से लेकर पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चलता रहे, तो उसकी पन्द्रहवें वर्ष में मृत्यु होनी चाहिए ।

श्रावणादेः समारभ्य पञ्चाहमनिलो वहन् ।
अन्ते द्वादश-वर्षाणां मरणं परिसूचयेत् ॥ ८१ ॥

वहन् ज्येष्ठादिदिवसाद्दशाहानि समीरणः ।
दिशेन्नवम-वर्षस्य पर्यन्ते मरणं ध्रुवम् ॥ ८२ ॥

आरभ्य चैत्राद्यदिनात् पञ्चाहं पवनो वहन् ।
पर्यन्ते वर्षषट्कस्य मृत्युं नियतमादिशेत् ॥ ८३ ॥

आरभ्य माघमासादेः पञ्चाहानि मरुद्वहन् ।
संवत्सरत्रयस्यान्ते संसूचयति पञ्चताम् ॥ ८४ ॥

इसी प्रकार श्रावण मास[1] के प्रारंभ से पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चलता रहे, तो वह बारहवें वर्ष में मृत्यु का सूचक है ।

ज्येष्ठ महीने के प्रथम दिन से दस दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चलता रहे, तो नौ वर्ष के अन्त में निश्चय ही उसका मरण होगा ।

चैत्र मास के प्रथम दिन से पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चलता रहे, तो निश्चय से छह वर्ष के अन्त में मृत्यु होगी ।

माघ महीने के प्रथम दिन से पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में पवन का चलना तीन वर्ष के अन्त में मरण होने का सूचक है ।

सर्वत्र द्वि-त्रि-चतुरो वायुश्चेद्दिवसान् वहेत् ।
अब्दभागास्तु ते शोध्या यथावदनुपूर्वशः ॥ ८५ ॥

---

१ यहाँ मास का आरंभ शुक्ल पक्ष से समझना चाहिए ।

जिस महीने में पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चलने से जितने वर्षों में मरण बतलाया है, उस महीने में दो, तीन या चार दिन तक ही यदि एक नाड़ी में वायु चलता रहे, तो उस वर्ष के उतने ही विभाग करके कम दिनों के अनुसार वर्ष के उतने ही विभाग कम कर देने चाहिए। जैसे—मार्गशीर्ष मास के प्रारम्भ में पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चलने से अठारह वर्षों में मरण बताया गया है। यदि इस मास में पाँच के बदले चार दिन तक ही एक नाड़ी में वायु चलता रहे, तो अठारह वर्ष का एक पाँचवा भाग अर्थात् तीन वर्ष, सात मास और छह दिन कम करने पर चौदह वर्ष, चार मास और चौबीस दिन में मृत्यु होगी। इसका अभिप्राय यह निकला कि मार्गशीर्ष मास के आरम्भ में यदि चार दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चलता रहे, तो चौदह वर्ष, चार मास और चौबीस दिन में मृत्यु होगी।

अन्यत्र भी इसी तरह ही समझना चाहिए और ऋतु आदि के मास में भी यही नियम समझना चाहिए।

काल-निर्णय

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि, किञ्चित्कालस्य निर्णयम्।
सूर्य-मार्ग समाश्रित्य, स च पौष्णेऽत्रगम्यते ॥ ८६ ॥

अब मैं काल-ज्ञान का निर्णय कहूँगा। काल-ज्ञान सूर्यमार्ग को आश्रित करके पौष्ण-काल में जाना जाता है।

पौष्ण-काल

जन्मऋक्षगते चन्द्रे, समसप्तगते रवौ।
पौष्णनामा भवेत्कालो, मृत्युनिर्णयकारणम् ॥ ८७ ॥

चन्द्रमा जन्म नक्षत्र में हो और सूर्य अपनी राशि से सातवीं राशि में हो तथा चन्द्रमा ने जितनी जन्म-राशि भोगी हो, उतनी ही सूर्य ने

सातवीं राशि भोगी हो, तब 'पौष्ण' नामक काल होता है। इस पौष्ण-काल में मृत्यु का निर्णय किया जा सकता है।

दिनार्धं दिनमेकं च, यदा सूर्ये मरुद्वहन्।
चतुर्दशे द्वादशेऽब्दे मृत्यवे भवति क्रमात् ॥ ८८ ॥

पौष्ण काल में यदि आधे दिन तक सूर्य-नाड़ी में पवन चलता रहे, तो चौदहवें वर्ष में मृत्यु होती है। यदि पूरे दिन सूर्य-नाड़ी में पवन चलता रहे, तो बारहवें वर्ष में मृत्यु होती है।

तथैव च वहन् वायुरहो-रात्रं द्वयहं त्र्यहम्।
दशमाष्टमषष्ठाब्देष्वन्ताय भवति क्रमात् ॥ ८९ ॥

पौष्ण काल में एक अहो-रात्र, दो दिन या तीन दिन तक सूर्य-नाड़ी में पवन चलता रहे तो क्रम से दसवें वर्ष, आठवें वर्ष और छठे वर्ष मृत्यु होती है।

वहन् दिनानि चत्वारि तुर्येऽब्दे मृत्यवे मरुत्।
साशीत्यहः सहस्रे तु पञ्चाहानि वहन् पुनः ॥ ९० ॥

पूर्वोक्त प्रकार से चार दिन तक वायु चलता रहे, तो चौथे वर्ष में और पांच दिन तक चलता रहे तो तीन वर्ष—एक हजार और अस्सी दिन में मृत्यु होती है।

एक-द्वि-त्रि-चतुःपञ्च चतुर्विंशत्यहः क्षयात्।
षडादीन् दिवसान् पञ्च शोधयेदिह तद्यथा ॥ ९१ ॥
षट्कं दिनानामध्यर्कं वहमाने समीरणे।
जीवत्यह्नां सहस्रं षट् पञ्चाशद्दिवसाधिकम् ॥ ९२ ॥
सहस्रं साष्टकं जीवेद्वायौ सप्ताह-वाहिनि।
सषट्त्रिंशन्नवशतीं जीवेदष्टाह-वाहिनि ॥ ९३ ॥
एकत्रैव नवाहानि तथा वहति मारुते।
अह्नामष्टशतीं जीवेच्चत्वारिंशद्दिनाधिकाम् ॥ ९४ ॥

तथैव वायौ प्रवहत्येकत्र दश वासरान् ।
विंशत्यभ्यधिकामह्नां जीवेत्सप्तशतीं ध्रुवम् ।। ६५ ।।

ऊपर कहा जा चुका है कि जिस व्यक्ति की सूर्य-नाड़ी में लगातार पाँच दिन वायु चलता रहे, तो वह १०८० दिन जीवित रहता है। यहाँ छह, सात, आठ, नौ या दस दिन तक उसी एक नाड़ी में वायु चलने का फल दिखलाया गया है। वह इस प्रकार है—

यदि एक ही सूर्य नाड़ी में छह, सात, आठ, नौ या दस दिन पर्यन्त वायु वहता रहे, तो क्रमशः १, २, ३, ४, ५ चौवीसी दिन १०८० दिनों में से कम करके जीवित रहने के दिनों की संख्या जान लेना चाहिए। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

यदि छह दिन तक सूर्यनाड़ी में वायु चले तो १०८०—२४=१०५६ दिन तक जीवित रहता है।

यदि सात दिन तक एक सूर्यनाड़ी में ही वायु चलता रहे तो १०५६ दिनों में से दो चौबीसी अर्थात् २४×२=४८ दिन कम करने से १०५६—४८ = १००८ दिन जीवित रहता है।

यदि आठ दिन तक उसी प्रकार वायु चलता रहे तो १००८ दिनों में से तीन चौबीसी अर्थात् २४× ३=७२ दिन कम करने से १००८-७२ =९३६ दिन जीवित रहता है।

यदि एक ही नाड़ी में नौ दिन पर्यन्त वायु चलता रहे तो ९३६ में से चार चौबीसी अर्थात् २४×४=९६ दिन कम करने से ९३६-९६= ८४० दिन जीवित रहता है।

यदि पूर्वोक्त पौष्ण-काल में लगातार दस दिन तक सूर्य-नाड़ी में वायु चलता रहे, तो पूर्वोक्त ८४० दिनों में से पाँच चौबीसी अर्थात् २४×५=१२० दिन कम करने से ८४०—१२०=७२० दिन तक ही जीवित रहता है।

एक-द्वि-त्रि-चतुः पञ्च-चतुर्विंशत्यहः क्षयात् ।
एकादशादिपञ्चाहान्यत्र शोध्यानि तद्यथा ॥ ९६ ॥

ग्यारह से लेकर पन्द्रह दिन तक एक ही सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे, तो पूर्वकथित सात सौ वीस दिन में से पूर्वोक्त प्रकार से अनुक्रम से दो, तीन, चार, पाँच चौवीसी दिन कम कर लेने चाहिए। ग्रन्थकार स्वयं इसका विवरण दे रहे हैं।

एकादश-दिनान्यर्क-नाड्यां वहति मारुते ।
षण्णवत्यधिकाह्नानां षट् शतान्येव जीवति ॥ ९७ ॥

यदि पौष्ण-काल में सूर्यनाड़ी में ग्यारह दिनों तक वायु चलता रहे, तो मनुष्य ६९६ दिन जीवित रहता है।

तथैव द्वादशाहानि वायौ वहति जीवति ।
दिनानां षट्शतीमष्टचत्वारिंशत् समन्विताम् ॥ ९८ ॥

यदि पूर्वोक्त रूप से बारह दिन पर्यन्त वायु एक ही नाड़ी में चलता रहे, तो मनुष्य ६४८ दिवस जीवित रहता है।

त्रयोदश-दिनान्यर्क-नाडिचारिणि मारुते ।
जीवेत्पञ्चशतीमह्नां षट्सप्तति-दिनाधिकाम् ॥ ९९ ॥

यदि तेरह दिन तक सूर्य-नाड़ी में पवन चलता रहे, तो व्यक्ति ५७६ दिन तक ही जीवित रहता है।

चतुर्दश-दिनान्येवं प्रवाहिनि समीरणे ।
अशीत्यभ्यधिकां जीवेदह्नां शत चतुष्टयम् ॥ १०० ॥

यदि चौदह दिवस तक सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे, तो मनुष्य ४८० दिन तक ही जीवित रहता है।

तथा पञ्चदशाहानि यावत् वहति मारुते ।
जीवेत्षष्ठिदिनोपेतं दिवसानां शतत्रयम् ॥ १०१ ॥

यदि पन्द्रह दिन तक लगातार सूर्य-नाड़ी में पवन चलता रहे, तो मनुष्य ३६० दिन तक ही जीवित रहता है।

एक-द्वि-त्रि-चतुः पञ्च-द्वादशाह्-क्रम-क्षयात्।
षोडशाद्यानि पञ्चाहान्यत्र शोध्यानि तद्यथा ॥ १०२ ॥

सोलह, सत्तरह, अठारह, उन्नीस और बीस दिन पर्यन्त एक सूर्य-नाड़ी में वायु चलता रहे, तो पूर्वोक्त ३६० दिनों में से क्रमशः एक बारह—१२, दो बारह—२४, तीन बारह—३६, चार बारह—४८ और पाँच बारह—६० दिन कम कर करके जीवित रहता है, ऐसा कहना चाहिए। इसका आगे स्पष्टीकरण किया गया है।

प्रवहत्येकनाक्षायां षोडशाहानि मारुते।
जीवेत्सहाष्टचत्वारिंशतं दिनशतत्रयीम् ॥ १०३ ॥
वहमाने तथा सप्तदशाहानि समीरणे।
अह्लां शतत्रये मृत्युश्चतुर्विंशति-संयुते ॥ १०४ ॥
पवने विचरत्यष्टादशाहानि तथैव च।
नाशोऽष्टाशीति-संयुक्ते गते दिन शतद्वये ॥ १०५ ॥
विचरत्यनिले तद्वद्दिनान्येकोनविंशतिम्।
चत्वारिंशद्युते याते मृत्युर्दिन-शतद्वये ॥ १०६ ॥
विंशति - दिवसानेकनासाचारिणि मारुते।
साशीतौ वासरशते गते मृत्युर्न संशयः ॥ १०७ ॥

यदि किसी व्यक्ति के सोलह दिन तक एक ही नासिका में वायु चलता रहे, तो वह तीन सौ अड़तालीस—३४८ दिन तक जीवित रहता है।

यदि लगातार सत्तरह दिन तक एक ही नासिका में वायु चलता रहे, तो तीन सौ चौबीस दिन में मृत्यु होती है।

इसी प्रकार अठारह दिन तक वायु चले तो दो सौ अठासी दिन में, उन्नीस दिन लगातार पवन चलता रहे, तो दो सौ चालीस दिन में और

यदि बीस दिन तक एक ही सूर्य नासिका में पवन चलता रहे, तो एक सौ अस्सी दिन में निश्चित रूप से मृत्यु होती है।

एक-द्वि-त्रि-चतुःपञ्च-दिनषट्क-क्रम-क्षयात् ।
एकविंशादि पञ्चाहान्यत्र शोध्यानि तद्यथा ।। १०८ ।।

यदि इक्कीस, बाईस, तेईस, चौबीस, पच्चीस दिन तक एक सूर्य-नाड़ी में ही पवन वहता रहे, तो पूर्वोक्त १८० दिनों में से क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पाँच पट्क कम करते रहना चाहिए। इसका स्पष्टी-करण आगे किया गया है।

एकविंशत्यहं त्वर्क-नाडीवाहिनि मारुते ।
चतुःसप्तति-संयुक्ते मृत्युर्दिनशते भवेत् ।। १०९ ।।

यदि पौष्ण-काल में इक्कीस दिवस पर्यन्त सूर्य-नाड़ी में पवन वहता रहे, तो पूर्वोक्त १८० दिन में से एक पट्क कम करने पर, अर्थात् १८०—६=१७४ दिन में उसकी मृत्यु होती है।

द्वाविंशति-दिनान्येवं स द्वि-पष्टावहः शते ।
षड्दिनोनैः पञ्चमासैस्त्रयोविंशत्यहानुगे ।। ११० ।।

पूर्वोक्त प्रकार से वाईस दिन तक पवन चलता रहे, तो १७४ दिनों में से दो पट्क अर्थात् वारह दिन कम करने से १७४-१२=१६२ दिन तक जीवित रहेगा। यदि तेईस दिन तक उसी प्रकार पवन चलता रहे, तो १६२ दिनों में से तीन पट्क अर्थात् अठारह दिन कम करने से छह दिन कम पाँच महीने में अर्थात् १६२-१८=१४४ दिनों में मृत्यु होती है।

तथैव वायौ वहति चतुर्विंशतिवासरीम् ।
विंशत्यभ्यधिके मृत्युर्भवेद्दिनशते गते ।। १११ ।।

पूर्वोक्त प्रकार से चौबीस दिन तक वायु चलता रहे, तो एक सौ बीस दिन बीतने पर मृत्यु हो जाती है।

पञ्चविंशत्यहं चैवं वायौ मासत्रये मृतिः ।
मासद्वये पुनर्मृत्युः षड्विंशतिदिनानुगे ॥ ११२ ॥

इसी प्रकार पच्चीस दिन तक वायु चलता रहे, तो तीन महीने में और छब्बीस दिन तक चलता रहे, तो दो महीने में मृत्यु होती है ।

सप्तविंशत्यहवहे नाशो मासेन जायते ।
मासार्धेन पुनर्मृत्युरष्टाविंशत्यहानुगे ॥ ११३ ॥

इसी तरह सत्ताईस दिन तक वायु चलता रहे, तो एक महीने में और अट्ठाईस दिन तक चलता रहे, तो पन्द्रह दिन में ही मृत्यु होती है ।

एकोनत्रिंशदहगे मृतिः स्याद्दशमेऽहनि ।
त्रिंशद्दिनीचरे तु स्यात्पञ्चत्वं पञ्चमे दिने ॥ ११४ ॥

इसी तरह उनतीस दिन तक एक ही सूर्य-नाड़ी में वायु चलता रहे, तो दसवें दिन और तीस दिन तक चलता रहे, तो पाँचवें दिन मृत्यु होती है ।

एकत्रिंशदहचरे वायौ मृत्युर्दिनत्रये ।
द्वितीयदिवसे नाशो द्वात्रिंशदहवाहिनि ॥ ११५ ॥

इसी प्रकार इकत्तीस दिन तक वायु चलता रहे, तो तीन दिन में और बत्तीस दिन तक चलता रहे, तो दूसरे दिन ही मृत्यु होती है ।

त्रयस्त्रिंश - दहचरे त्वेकाहेनापि पञ्चता ।
एवं यदीन्दुनाड्यां स्यात्तदा व्याध्यादिकं दिशेत् ॥ ११६ ॥

इस तरह तेतीस दिन तक लगातार सूर्य नाड़ी में ही पवन बहता रहे, तो एक ही दिन में मृत्यु हो जाती है ।

जिस प्रकार लगातार सूर्य नाड़ी के चलने का फल मरण बतलाया है, उसी प्रकार यदि चन्द्रनाड़ी में पवन चलता रहे, तो उसका फल मृत्यु नहीं, किन्तु उतने ही काल में व्याधि, मित्रनाश, महान् भय की प्राप्ति, देश-त्याग, धन-नाश, पुत्र-नाश, दुर्भिक्ष आदि समझना चाहिए ।

उपसंहार

अध्यात्मं वायुमाश्रित्य प्रत्येकं सूर्य-सोमयोः ।
एवमभ्यास-योगेन जानीयात् कालनिर्णयम् ॥ ११७ ॥

इस प्रकार शरीर के भीतर रहे हुए वायु सम्बन्धी सूर्य एवं चन्द्र-नाड़ी का अभ्यास करके काल का निर्णय जानना चाहिए ।

मृत्यु के बाह्य लक्षण

अध्यात्मिकविपर्यासः संभवेद् व्याधितोऽपि हि ।
तन्निश्चयाय बध्नामि बाह्यं कालस्य लक्षणम् ॥ ११८ ॥

शरीर के अन्तर्गत वायु के आधार पर उक्त काल-निर्णय बताया गया है, परन्तु वायु का विपर्यास—उलट-फेर व्याधि के कारण भी हो सकता है । व्याधिकृत विपर्यास की स्थिति में वायु के द्वारा काल का निर्णय सही नहीं होगा । अतः काल का स्पष्ट और सही निर्णय करने के लिए काल के बाह्य लक्षणों का वर्णन किया जाता है ।

नेत्र-श्रोत्र-शिरोभेदात् स च त्रिविधलक्षणः ।
निरीक्ष्यः सूर्यमाश्रित्य यथेष्टमपरः पुनः ॥ ११९ ॥

सूर्य की अपेक्षा से काल का बाह्य लक्षण—नेत्र, श्रोत्र और शिर के भेद से तीन प्रकार का माना गया है । इसके अतिरिक्त अन्य बाह्य लक्षण स्वेच्छा से ही देखे जाते हैं । उनके लिए सूर्य का अवलंबन लेने की भी आवश्यकता नहीं है ।

नेत्र से कालज्ञान

वामे तत्रेक्षणे पद्मं षोडशच्छदमैन्दवम् ।
जानीयाद् भानवीयं तु दक्षिणे द्वादशच्छदम् ॥ १२० ॥

बाएँ नेत्र में सोलह पांखुड़ी वाला चन्द्र सम्बन्धी कमल है और दाहिने नेत्र में बारह पांखुड़ी वाला सूर्य सम्बन्धी कमल है, सर्वप्रथम इन दोनों कमलों का परिज्ञान कर लेना चाहिए ।

खद्योतद्युतिवर्णानि चत्वारिच्छदनानि तु ।
प्रत्येकं तत्र दृश्यानि स्वांगुलीविनिपीडनात् ॥ १२१ ॥

गुरु के उपदेश के अनुसार अपनी उंगली से आँख के विशिष्ट भाग को दबाने से प्रत्येक कमल की चार पांखुड़ियाँ जुगनू की तरह चमकती हुई दिखाई देती हैं, इन्हें देखना चाहिए ।

सोमाधो भ्रूलतापाङ्गघ्राणान्तिकदलेषु तु ।
दले नष्टे क्रमान्मृत्युः षट्त्रियुग्मैकमासतः ॥ १२२ ॥

चन्द्र सम्बन्धी कमल में, चार पांखुड़ियों में से यदि नीचे की पंखुड़ी दिखाई न दे तो छह महीने में मृत्यु होती है, भ्रकुटी के समीप की पंखुड़ी परिलक्षित न हो तो तीन मास में, आँख के कोने की पंखुड़ी दिखाई न दे तो दो मास में, और नाक के पास की पंखुड़ी दिखाई न पड़े तो एक मास में मृत्यु होती है ।

अयमेव क्रमः पद्मे भानवीये यदा भवेत् ।
दश-पञ्च-त्रि-द्विदिनैः क्रमान्मृत्युस्तदा भवेत् ॥ १२३ ॥

सूर्य सम्बन्धी कमल में इसी क्रम से पांखुड़ियाँ दिखाई न देने पर क्रमशः दस, पाँच, तीन और दो दिन में मृत्यु होती है । अर्थात् दाहिनी आँख को गुरु-उपदेशानुसार दबाने से सूर्य सम्बन्धी कमल की भी चार पांखुड़ियाँ दिखाई देती हैं । उनमें से नीचे की दिखाई न दे तो दस दिन में, ऊपर की दिखाई न दे तो पाँच दिन में, आँख के कोने की तरफ की दिखाई न दे तो तीन दिन में और नाक की तरफ की दिखाई न दे तो दो दिन में मृत्यु होती है ।

एतान्यपीड्यमानानि द्वयोरपि हि पद्मयोः ।
दलानि यदि वीक्ष्येत् मृत्युर्दिनशतात्तदा ॥ १२४ ॥

यदि आंख को अंगुली से दबाये बिना दोनों कमलों की पांखुड़ियाँ दिखाई न दें तो सौ दिन में मृत्यु होती है ।

कर्ण से कालज्ञान

ध्यात्वा हृद्यष्टपत्राब्जं श्रोत्रे हस्ताग्र-पीडिते।
न श्रूयेताग्नि-निर्घोषो यदि स्वः पञ्च-वासरान् ॥१२५॥
दश वा पञ्चदश वा विंशतिं पञ्चविंशतिम्।
तदा पञ्च-चतुस्त्रिद्व्येक-वर्षैर्मरणं क्रमात् ॥१२६॥

हृदय में आठ पंखुड़ी के कमल का ध्यान करके दोनों हाथों की तर्जनी अंगुलियां को दोनों कानों में डालने पर यदि पाँच, दस, पन्द्रह, वीस या पचीस दिन तक अपना अग्नि-निर्घोष—तीव्रता से जलती हुई अग्नि का धक-धकाहट का शब्द सुनाई न दे, तो क्रमशः पाँच वर्ष, चार वर्ष, तीन वर्ष, दो वर्ष और एक वर्ष में मृत्यु होती है।

एक-द्वि-त्रि-चतुः पञ्च-चतुर्विंशत्यहः क्षयात्।
षडादि-षोडश-दिनान्यान्तराण्यपि शोधयेत् ॥ १२७ ॥

ऊपर बतलाया गया है कि पांच दिन तक अग्नि-निर्घोष सुनाई न दे तो पांच वर्ष में मृत्यु होती है, किन्तु यदि छठे दिन भी सुनाई न दे या सातवें आदि दिन भी सुनाई न दे तो क्या फल होता है? इस प्रश्न का उत्तर इस श्लोक में निम्न प्रकार से दिया गया है :—

यदि छह दिन से लेकर सोलह दिन तक अंगुली से दबाने पर भी कान में शब्द सुनाई न दे, तो पांच वर्ष के दिनों में से क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पाँच आदि सोलह चौवीसियां कम करते हुए मृत्यु के दिनों की संख्या का निश्चय करना चाहिए। यथा—छह दिन शब्द सुनाई न देने पर २४ दिन कम पांच वर्ष अर्थात् १७७६ दिन में मृत्यु होती है। सात दिन सुनाई न देने पर १७७६ दिनों में से दो चौवीसी अर्थात् ४८ दिन कम करने से १७७६ – ४८ = १७२८ दिन में मृत्यु होती है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व संख्या में से उपर्युक्त चौवीसियां कम करके मरणकाल का निश्चय करना चाहिए।

मस्तक से काल-ज्ञान

ब्रह्मद्वारे प्रसर्पन्तीं पञ्चाहं धूममालिकाम् ।
न चेत्पश्येत्तदा ज्ञेयो मृत्युः संवत्सरैस्त्रिभिः ॥ १२८ ॥

ब्रह्म द्वार—दसवें द्वार में फैलती हुई धूम की श्रेणी यदि पाँच दिन तक दृष्टिगोचर न हो तो समझना चाहिए कि तीन वर्ष में मृत्यु होगी।

धूम की श्रेणी का ब्रह्मद्वार में प्रविष्ट होने का ज्ञान प्राप्त करने के लिए निष्णात गुरु की सहायता लेनी चाहिए।

प्रकारान्तर से काल-ज्ञान

प्रतिपद्दिवसे कालचक्र-ज्ञानाय शौचवान् ।
आत्मनो दक्षिणं पाणिं शुक्लं पक्षं प्रकल्पयेत् ॥ १२९ ॥

अधोमध्योर्ध्वपर्वाणि कनिष्ठांगुलिकानि तु ।
क्रमेण प्रतिपत् षष्ठयेकादशीः कल्पयेत्तिथीः ॥ १३० ॥

अवशेषांगुली - पर्वाण्यवशेष - तिथीस्तथा ।
पञ्चमी-दशमी-राकाः पर्वाण्यंगुष्ठगानि तु ॥ १३१ ॥

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन पवित्र होकर कालचक्र को जानने के लिए अपने दाहिने हाथ को शुक्ल पक्ष के रूप में कल्पित करना चाहिए।

अपनी कनिष्ठा अंगुलि के निम्न, मध्यम और ऊपर के पर्व में अनुक्रम से प्रतिपदा, षष्ठी और एकादशी तिथि की कल्पना करनी चाहिए।

अंगूठे के निचले, मध्य के और ऊपर के पर्व में पंचमी, दशमी और पूर्णिमा की कल्पना करनी चाहिए तथा शेष अंगुलियों के पर्वों में शेष तिथियों की कल्पना करनी चाहिए। अर्थात् अनामिका अंगुलि के तीन पर्वों में दूज, तीज और चौथ की, मध्यमा के तीन पर्वों में सप्तमी,

अष्टमी और नवमी की तथा तर्जनी के तीन पर्वों में द्वादशी, त्रयोदशी और चतुर्दशी की कल्पना करनी चाहिए।

वामपाणि कृष्णपक्षं तिथीस्तद्वच्च कल्पयेत्।
ततश्च निर्जने देशे बद्ध-पद्मासनः सुधीः ॥ १३२ ॥
प्रसन्नः सितसंव्यानः कोशीकृत्य करद्वयम्।
ततस्तदन्तः शून्यं तु कृष्णां वर्णं विचिन्तयेत् ॥ १३३ ॥

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन बांएँ हाथ में कृष्ण पक्ष की कल्पना करे तथा पाँचों उंगलियों में शुक्ल पक्ष के हाथ की तरह तिथियों की कल्पना करे। तत्पश्चात् एकान्त निर्जन प्रदेश में जाकर, पद्मासन लगाकर, मन की प्रसन्नता के साथ उज्ज्वल ध्यान करके, दोनों हाथों को कमल के कोश के आकार में जोड़ ले और हाथ में काले वर्ण के एक बिन्दु का चिन्तन करे।

उद्घाटित - कराम्भोजस्ततो यत्रांगुलीतिथौ।
वीक्ष्याते कालबिन्दुः[1] स काल इत्यत्र कीर्त्यते ॥ १३४ ॥

तत्पश्चात् हाथ खोलने पर जिस अंगुली के अन्दर कल्पित अंधेरी या उजेली तिथि में काला बिन्दु दिखाई दे, उसी अंधेरी या उजेली तिथि के दिन मृत्यु होगी, ऐसा समझ लेना चाहिए।

काल-निर्णय के अन्य उपाय

क्षुत-विण्मेद-मूत्राणि भवन्ति युगपद्यदि।
मासे तत्र तिथौ तत्र वर्षान्ते मरणं तदा ॥ १३५ ॥

जिस मनुष्य को छींक, विष्ठा, वीर्यस्राव और पेशाब, ये चारों एक साथ हों, उसकी एक वर्ष के अन्त में उसी मास और उसी तिथि को मृत्यु होगी।

---

१ वीक्षते कालबिन्दुं।

रोहिणीं शशभृल्लक्ष्म महापथयरुन्धतीम् ।
ध्रुवं च न यदा पश्येद्वर्षेण स्यात्तदा मृतिः[1] ॥ १३६ ॥

यदि दृष्टि निर्मल—साफ होने पर भी १. रोहिणी नक्षत्र, २. चन्द्रमा का चिह्न, ३. छाया-पथ—छायापुरुष, ४. अरुन्धती तारा—सप्तर्षि के समीप दिखाई देने वाला एक छोटा-सा तारा और ५. ध्रुव अर्थात् भ्रकुटि, यह पाँच या इनमें से एक भी दिखाई न दें, तो उसकी एक वर्ष में मृत्यु होती है।

स्वप्ने स्वं भक्ष्यमाणं श्वगृध्रकाकनिशाचरैः ।
उह्यमानं खरोष्ट्राद्यैर्यदा पश्येत्तदा मृतिः ॥ १३७ ॥

यदि कोई व्यक्ति स्वप्न में कुत्ता, गीध, काक या अन्य निशाचर प्राणियों द्वारा अपने शरीर को भक्षण करते देखे, अथवा गधा, ऊँट, शूकर, कुत्ते आदि पर सवारी करे या इनके द्वारा अपने को घसीटकर ले जाता हुआ देखे तो उसकी एक वर्ष में मृत्यु होती है।

---

१. इस विषय में ग्रन्थकार ने स्वोपज्ञ टीका में अन्य आचार्यों का मत प्रदर्शित करते हुए दो श्लोक उद्धृत किये हैं, वे इस प्रकार हैं—

अरुन्धतीं ध्रुवं चैव, विष्णोस्त्रीणि पदानि च ।
क्षीणायुषो न पश्यन्ति, चतुर्थं मातृमण्डलम् ॥१॥
अरुन्धती भवेज्जिह्वा, ध्रुवं नासाग्रमुच्यते ।
तारा विष्णुपदं प्रोक्तं भ्रुवः स्यान्मातृमण्डलम् ॥२॥

जिनकी आयु क्षीण हो चुकी होती है, वे अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुपद और मातृमण्डल को नहीं देख सकते हैं।

यहाँ अरुन्धती का अर्थ जिह्वा, ध्रुव का अर्थ नासिका का अग्रभाग, विष्णुपद का अर्थ दूसरे के नेत्र की पुतली देखने पर दिखाई देने वाली अपनी पुतली और मातृमण्डल का अर्थ भ्रकुटी समझना चाहिए।

रश्मि-निर्मुक्तमादित्यं रश्मियुक्तं हविर्भुजम् ।
यदा पश्येद्विपद्येत तदैकादश-मासतः ॥ १३८ ॥

यदि कोई व्यक्ति सहस्ररश्मि—सूर्यमण्डल को किरण-विहीन देखे और अग्नि को किरण-युक्त देखे, तो वह मनुष्य ग्यारह मास में मृत्यु को प्राप्त होता है ।

वृक्षाग्रे कुत्रचित्पश्येत् गन्धर्व-नगरं यदि ।
पश्येत्प्रेतान् पिशाचान् वा दशमे मासि तन्मृतिः ॥ १३९ ॥

यदि किसी व्यक्ति को किसी जगह गंधर्वनगर—वास्तविक नगर का प्रतिबिम्ब वृक्ष के ऊपर दिखाई दे अथवा प्रेत या पिशाच प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर हो, तो उसकी दसवें महीने में मृत्यु होती है ।

छर्दि-मूत्र-पुरीषं वा सुवर्ण-रजतानि वा ।
स्वप्ने पश्येद्यदि तदा मासान्नवैव जीवति ॥ १४० ॥

यदि कोई व्यक्ति स्वप्न में उलटी, मूत्र, विष्ठा, सोना और चांदी देखता है, तो वह नौ महीने तक जीवित रहता है ।[1]

स्थूलोऽकस्मात् कृशोऽकस्मादकस्मादतिकोपनः ।
अकस्मादतिभीरुर्वा मासानष्टैव जीवति ॥ १४१ ॥

जो मनुष्य अकस्मात् अर्थात् बिना कारण ही मोटा हो जाए या अकस्मात् ही कृश—दुबला हो जाए या अकस्मात् ही क्रोधी हो जाए या अकस्मात् ही भीरु—कायर हो जाए, तो वह आठ महीने तक ही जीवित रहता है ।

समग्रमपि चिन्वन्तं पांशौ वा कर्दमेऽपि वा ।
स्याच्चेत्खण्डं पदं सप्तमास्यन्ते म्रियते तदा ॥ १४२ ॥

---

१. श्री केसर विजयजी महाराज के विचार से यह फल रोगी मनुष्य की अपेक्षा से होना चाहिए ।

यदि कभी धूल पर या कीचड़ में पूरा पैर जमाने पर भी वह अधूरा पड़ा हुआ दिखाई दे, तो उसकी सात महीने के अन्त में मृत्यु होती है।

तारां श्यामां यदा पश्येच्छुष्येदधरतालु च।
न स्वांगुलि-त्रयं मायाद्राजदन्तद्वयान्तरे ॥१४३॥
गृध्रः काकः कपोतो वा क्रव्यादोऽन्योऽपि वा खगः।
निलीयेत यदा मूर्ध्नि षण्मास्यन्ते मृतिस्तदा ॥१४४॥

यदि किसी व्यक्ति को अपनी आँख की पुतली एकदम काली दिखाई दे, बिना किसी बीमारी के ओष्ठ और तालु सूखने लगें, मुँह चौड़ा करने पर ऊपर और नीचे के मध्यवर्ती दांतों के बीच में अपनी तीन अंगुलियाँ समाविष्ट न हों तथा गिद्ध, काक, कबूतर या कोई भी मांसभक्षी पक्षी मस्तक पर बैठ जाए, तो उसकी छह माह के अन्त में मृत्यु होती है।

प्रत्यहं पश्यतानभ्रेऽह्न्यापूर्य जलैर्मुखम्।
विहिते फूत्कृते शक्रधन्वा तु तत्र दृश्यते ॥ १४५ ॥
यदा न दृश्यते तत्तु मासैः षड्भिर्मृतिस्तदा।
पर-नेत्रे स्वदेहं चेन्न पश्येन्मरणं तदा ॥ १४६ ॥

यदि दिन के समय मुख में पानी भरकर बादलों से रहित आकाश में फूत्कार के साथ ऊपर उछालने पर और कुछ दिन तक ऐसा करने पर उस पानी में इन्द्रधनुष-सा वर्ण दिखाई देता है। किन्तु, जब वह इन्द्रधनुष दिखाई न दे तो उस व्यक्ति की छह मास में मृत्यु होती है। इसके अतिरिक्त यदि दूसरे की आँखों की पुतली में अपना शरीर दिखाई न दे, तब भी छह महीने में मृत्यु होती है, ऐसा समझ लेना चाहिए।

कूर्परौ न्यस्य जान्वोर्मूर्ध्न्येकीकृत्य करौ सदा।
रम्भाकोशनिभां छायां लक्षयेदन्तरोद्‌भवाम् ॥ १४७ ॥
विकासि च दलं तत्र यदैकं परिलक्ष्यते।
तस्यामेव तिथौ मृत्युः षण्मास्यन्ते भवेत्तदा ॥ १४८ ॥

दोनों जानुओं पर दोनों हाथों की कोहनियाँ को स्थापित करके अपने हाथ के दोनों पंजे मस्तक पर स्थापित किए जाएँ और ऐसा करने पर यदि बादल न होने पर भी दोनों हाथों के बीच में डोडे के सदृश छाया उत्पन्न होती है तो उसे निरन्तर देखते रहना चाहिए। यदि उस छाया में एक पत्र विकसित होता हुआ दिखाई दे, तो समझ लेना चाहिए कि उसकी छह महीने के अन्त में उसी दिन मृत्यु होगी।

इन्द्रनीलसमच्छाया वक्रीभूता सहस्रशः।
मुक्ताफलालङ्करणाः पन्नगाः सूक्ष्ममूर्त्तयः ॥ १४९ ॥
दिवा सम्मुखमायान्तो दृश्यन्ते व्योम्नि सन्निधौ।
न दृश्यन्ते यदा ते तु षण्मास्यन्ते मृतिस्तदा ॥ १५० ॥

जब आकाश मेघमालाओं—बादलों से रहित होता है, उस समय मनुष्य धूप में स्थित हो तो उसे इन्द्रनील-मणि के सदृश कान्ति वाले, टेढ़े-मेढ़े, हजारों मुक्ताओं के अलंकार वाले तथा सूक्ष्म आकृति के सर्प सन्मुख आते हुए दिखाई देते हैं। किन्तु, जब वह सर्प दिखाई न दें तो उसे समझना चाहिए कि उसकी छह महीने में मृत्यु होगी।

स्वप्ने मुण्डितमभ्यक्तं रक्त-गन्ध-स्रगम्बरम्।
पश्येद् याम्यां खरे यान्तं स्वं योऽब्दार्ध स जीवति ॥१५१॥

जो मनुष्य स्वप्न में यह देखता है कि "मेरा मस्तक मुंडा हुआ है, तेल की मालिश की हुई है, लाल रंग का पदार्थ शरीर पर लेपन किया हुआ है, गले में लाल रंग की माला पहनी हुई है, और लाल रंग के वस्त्र पहन कर, गधे पर चढ़कर दक्षिण दिशा की ओर जा रहा हूं" तो उसकी छह महीने में मृत्यु होती है।

घण्टानादो रतान्ते चेदकस्मादनुभूयते।
पञ्चता पञ्चमास्यन्ते तदा भवति निश्चितम् ॥ १५२ ॥

यदि विषय-सेवन करने के पश्चात् अकस्मात् ही शरीर में घंटे के

नाद-स्वर सुनाई दे, तो उसकी पाँच मास के अन्त में मृत्यु होती है, इसमें सन्देह नहीं है ।

शिरो वेगात् समारुह्य कृकलासो व्रजन् यदि ।
दध्याद्वर्ण-त्रयं पञ्च-मास्यन्ते मरणं तदा ॥ १५३ ॥

यदि कभी कोई गिरगिट वेग के साथ मस्तक पर चढ़ जाए और जाते-जाते तीन बार रंग बदले, तो उस व्यक्ति की पांच मास के अन्त में मृत्यु होती है ।

वक्री भवति नासा चेद्वर्तुली भवतो दृशौ ।
स्वस्थानाद् भ्रश्यतः कर्णौ चतुर्मास्यां तदा मृतिः ॥ १५४॥

यदि किसी व्यक्ति की नाक टेढ़ी हो जाए, आँखें गोल हो जाए और अन्य अंग अपने-अपने स्थान से ढीले पड़ जाएँ तो उसकी चार मास में मृत्यु होती है ।

कृष्णं कृष्ण-परीवारं लोह-दण्डधरं नरम् ।
यदा स्वप्ने निरीक्ष्येत मृत्युर्मासैस्त्रिभिस्तदा ॥ १५५ ॥

यदि किसी व्यक्ति को स्वप्न में काले वर्ण का, काले परिवार का और लोहे के दण्ड को धारण करने वाला मनुष्य दिखाई दे, तो उसकी तीन महीने में मृत्यु होती है ।

इन्दुमुष्णं रविं शीतं छिद्रं भूमौ रवावपि ।
जिह्वां श्यामां मुखं कोकनदाभं च यदेक्षते ॥ १५६ ॥
तालुकम्पो मनं शोको वर्णोऽङ्गे नैकधा यदा ।
नाभेश्चाकस्मिकी हिक्का मृत्युर्मासद्वयात्तदा ॥ १५७ ॥

यदि किसी व्यक्ति को चन्द्रमा उष्ण, सूर्य ठंडा, जमीन और सूर्य-मण्डल में छिद्र, अपनी जीभ काली, मुख लाल कमल के समान दिखाई दे और तालु में कम्पन हो, निष्कारण मन में शोक हो, शरीर में अनेक

प्रकार का वर्ण उत्पन्न होता रहे और नाभि से अकस्मात् हिक्का—हीक उठे, तो उसकी दो मास में मृत्यु होती है, ऐसा समझना चाहिए।

जिह्वा नास्वादमादत्ते मुहुः स्खलति भाषणे।
श्रोत्रे न शृणुतः शब्दं गन्धं वेत्ति न नासिका ॥ १५८ ॥

स्पन्देते नयने नित्यं दृष्ट-वस्तुन्यपि भ्रमः।
नक्तमिन्द्रधनुः पश्येत् तथोल्कापतनं दिवा ॥ १५९ ॥

न च्छायात्मनः पश्येद्दर्पणे सलिलेऽपि वा।
अनब्दां विद्युतं पश्येच्छिरोऽकस्मादपि ज्वलेत् ॥ १६० ॥

हंस-काक-मयूराणां पश्येच्च क्वापि संहतिम्।
शीतोष्णखर-मृद्वादेरपि स्पर्शं न वेत्ति च ॥ १६१ ॥

अमीषां लक्ष्मणां मध्याद्यदेकमपि दृश्यते।
जन्तोर्भवति मासेन तदा मृत्युर्न संशय ॥ १६२ ॥

यदि कोई व्यक्ति अपनी जिह्वा के स्वाद को जानने में असमर्थ हो जाए और बोलते समय लड़खड़ा जाए, कानों से शब्द सुनाई न दे और नासिका गंध को ग्रहण करना बन्द कर दे, और उसके नेत्र निरन्तर फड़कते रहें, देखी हुई वस्तु में भी भ्रम उत्पन्न होने लगे, रात्रि में इन्द्रधनुष दृष्टिगोचर होता हो, दिन में उल्कापात दिखाई दे। इसके अतिरिक्त यदि उसे दर्पण में अथवा पानी में अपनी आकृति दिखाई न दे, बादल न होने पर भी बिजली दिखाई दे और अकस्मात् ही मस्तक में जलन उत्पन्न हो जाए। और उस व्यक्ति को हंस, काक और मयूरों का किसी जगह झुंड दिखाई दे[1] और शीत, उष्ण, कठोर तथा कोमल स्पर्श का ज्ञान लुप्त हो जाए।

---

१. श्री केसर विजय महाराज ने ऐसा अर्थ किया है कि हंस, काक और मयूर को मैथुन करते हुए देखे।

इन लक्षणों में से कोई भी एक लक्षण दिखाई दे, तो उस मनुष्य की निस्सन्देह एक मास में मृत्यु होती है।

शीते हकारे फुत्कारे चोष्णे स्मृति-गति-क्षये।
अङ्गपञ्चकशैत्ये च स्याद्दशाहेन पञ्चता ॥ १९३ ॥

यदि किसी व्यक्ति को अपना मुख फाड़कर 'ह' अक्षर का उच्चारण करते समय श्वास ठण्डा निकले, फूत्कार के साथ श्वास बाहर निकालते समय गर्म प्रतीत हो, स्मरण-शक्ति लुप्त हो जाए, चलने-फिरने की शक्ति क्षीण हो जाए और शरीर के पांचों अंग ठण्डे पड़ जाएँ, तो उसकी दस दिन में मृत्यु होती है।

अर्धोष्णमर्ध-शीतं च, शरीरं जायते यदा।
ज्वालाकस्माज्ज्वलेद्वांगे सप्ताहेन तदा मृतिः ॥ १९४ ॥

यदि किसी व्यक्ति का आधा शरीर उष्ण और आधा ठंडा हो जाए अथवा अकस्मात् ही शरीर में ज्वालाएँ जलने लगें, तो उसकी एक सप्ताह में मृत्यु हो जाती है।

स्नातमात्रस्य हृत्पादं तत्क्षणाद्यदि शुष्यति।
दिवसे जायते षष्ठे तदा मृत्युरसंशयम् ॥ १९५ ॥

यदि स्नान करने के पश्चात् तत्काल ही किसी व्यक्ति की छाती और पैर सूख जाएँ तो उसकी निश्चय ही छठे दिन मृत्यु हो जाती है।

जायते दन्तघर्षश्चेच्छवगन्धश्च दुःसहः।
विकृता भवतिच्छाया त्र्यहेण म्रियते तदा ॥ १९६ ॥

जो मनुष्य दाँतों से कटा-कट करता रहे, जिसके शरीर में से मुर्दे के समान दुर्गन्ध निकलती रहे या जिसके शरीर के वर्ण में विकृति आ जाए, तो वह तीन दिन में मृत्यु को प्राप्त होता है।

न स्वनासां स्वजिह्वां न न ग्रहानामल दिशः ।
नापि सप्तऋषीन् यर्हि[1] पश्यति म्रियते तदा ॥ १६७ ॥

जो मनुष्य अपनी नाक को, अपनी जीभ को, ग्रहों को, निर्मल दिशाओं को या आकाश में स्थित सप्त-ऋषि ताराओं को नहीं देख सकता, उसका दो दिन में मरण हो जाता है।

प्रभाते यदि वा सायं ज्योत्स्नावत्यामथो निशि ।
प्रवितत्य निजौ बाहू निजच्छायां विलोक्य च ॥ १६८ ॥

शनैरुत्क्षिप्य नेत्रे स्वच्छायां पश्येत्ततोऽम्बरे ।
न शिरो दृश्यते तस्यां यदा स्यान्मरणं तदा ॥ १६९ ॥

नेक्ष्यते वामबाहुश्चेत् पुत्र-दार-क्षयस्तदा ।
यदि दक्षिणबाहुर्नेक्ष्यते भ्रातृ-क्षयस्तदा ॥ १७० ॥

अदृष्टे हृदये मृत्युरुदरे च धन-क्षयः ।
गुह्ये पितृ-विनाश व्याधिरूरुयुगे भवेत् ॥ १७१ ॥

अदर्शने पादयोश्च विदेशगमनं भवेत् ।
अदृश्यमाने सर्वाङ्गे सद्यो मरणमादिशेत् ॥ १७२ ॥

कोई व्यक्ति प्रातःकाल, सायंकाल या शुक्ल पक्ष की रात्रि में प्रकाश में खड़ा होकर, दोनों हाथ नीचे लटका कर कुछ देर तक अपनी छाया देखता रहे। तत्पश्चात् नेत्रों को धीरे-धीरे छाया से हटाकर ऊपर आकाश में देखने पर उसे पुरुष की आकृति दिखाई देगी। यदि उस आकृति में उसे अपना मस्तक दिखाई न दे, तो समझना चाहिए कि मेरी मृत्यु होने वाली है। यदि उसे बांया हाथ दिखाई न दे, तो पुत्र या स्त्री की मृत्यु होती है और यदि दाहिना हाथ दिखाई न दे, तो भाई की मृत्यु होती है। यदि उसे अपना हृदय दिखाई न दे, तो उसकी अपनी

---

१. व्योम्नि ।

तत्पश्चात् वह दर्पण आदि, जिसमें विद्या का अवतरण किया गया है, एक कुमारी कन्या को दिखलाना चाहिए। जब कन्या को उसमें देवता का रूप दिखलाई दे, तब उससे आयु के विषय में प्रश्न करना चाहिए। उस प्रश्न का जो उत्तर मिलेगा, उस निर्णय को कन्या अभिव्यक्त कर देगी।

श्रेष्ठ साधक की योग या तप-साधना से आकृष्ट देवता की आकृति स्वयं ही—असंदिग्ध रूप से, उसे अनागत, आगत और वर्तमान काल सम्बन्धी आयु का निर्णय बता देती है।

शकुन द्वारा काल-ज्ञान

> अथवा शकुनाद्विद्यात्सज्जो वा यदि वाऽऽतुरः।
> स्वतो वा परतो वाऽपि गृहे वा यदि वा बहिः ॥ १७७ ॥

कोई पुरुष नीरोग हो या रोगी हो, अपने आप से और दूसरे से, घर के भीतर हो या घर के बाहर, शकुन के द्वारा काल—मृत्यु के समय का निर्णय कर सकता है।

> अहि-वृश्चिक-कृम्याखु-गृहगोधा-पिपीलिकाः।
> यूका-मत्कुणलूताश्च वल्मीकोऽथोपदेहिकाः ॥१७८॥
> कीटिका घृतवर्णाश्च भ्रमर्यश्च यदाधिकाः।
> उद्वेग-कलह-व्याधि-मरणानि तदा दिशेत् ॥१७९॥

यदि सर्प, बिच्छू, कीड़े, चूहे, छिपकली, चिंटियाँ, जूं, खटमल, मकड़ी, बांबी, उदेही—घृतवर्ण की चीटियें और भ्रमर आदि बहुत अधिक परिमाण में दृष्टिगोचर हों तो उद्वेग, क्लेश, व्याधि अथवा मरण होता है।

> उपानद्वाहनच्छत्र-शस्त्रच्छायाङ्ग - कुन्तलान्।
> चञ्च्वा चुम्बेद्यदा काकस्तदाऽऽसन्नैव पंचता ॥१८०॥
> अश्रुपूर्णदृशो गावो गाढं पादैर्वसुन्धराम्।
> खनन्ति चेत्तदानीं स्याद्रोगो मृत्युश्च तत्प्रभोः ॥१८१॥

तत्पश्चात् वह दर्पण आदि, जिसमें विद्या का अवतरण किया गया है, एक कुमारी कन्या को दिखलाना चाहिए। जब कन्या को उसमें देवता का रूप दिखलाई दे, तब उससे आयु के विषय में प्रश्न करना चाहिए। उस प्रश्न का जो उत्तर मिलेगा, उस निर्णय को कन्या अभिव्यक्त कर देगी।

श्रेष्ठ साधक की योग या तप-साधना से आकृष्ट देवता की आकृति स्वयं ही—असंदिग्ध रूप से, उसे अनागत, आगत और वर्तमान काल सम्बन्धी आयु का निर्णय बता देती है।

शकुन द्वारा काल-ज्ञान

अथवा शकुनाद्विद्यात्सज्जो वा यदि वाऽऽतुरः।
स्वतो वा परतो वाऽपि गृहे वा यदि वा वहिः॥ १७७॥

कोई पुरुष नीरोग हो या रोगी हो, अपने आप से और दूसरे से, घर के भीतर हो या घर के बाहर, शकुन के द्वारा काल—मृत्यु के समय का निर्णय कर सकता है।

अहि-वृश्चिक-कृम्या-खु-गृहगोधा-पिपीलिकाः।
यूका-मत्कुणलूताश्च वल्मीकोऽथोपदेहिकाः॥१७८॥
कीटिका घृतवर्णाश्च भ्रमर्यश्च यदाधिकाः।
उद्वेग-कलह-व्याधि-मरणानि तदा दिशेत्॥१७९॥

यदि सर्प, बिच्छू, कीड़े, चूहे, छिपकली, चिंटियाँ, जूँ, खटमल, मकड़ी, बांबी, उदेही—घृतवर्ण की चीटियें और भ्रमर आदि बहुत अधिक परिमाण में दृष्टिगोचर हों तो उद्वेग, क्लेश, व्याधि अथवा मरण होता है।

उपानद्वाहनच्छत्र-शस्त्रच्छायाङ्ग-कुन्तलान्।
चञ्च्वा चुम्बेद्यदा काकस्तदाऽऽसन्नैव पंचता॥१८०॥
अश्रुपूर्णदृशो गावो गाढं पादैर्वसुन्धराम्।
खनन्ति चेत्तदानीं स्याद्रोगो मृत्युश्च तत्प्रभोः॥१८१॥

मृत्यु होती है और उदर—पेट दिखाई न दे, तो उसके धन का नाश होता है। यदि उसे अपना गुह्य स्थान दिखाई न दे, तो उसके पिता आदि किसी पूज्य जन की मृत्यु होती है और यदि दोनों जांघें दिखाई नहीं दें, तो उसके शरीर में व्याधि उत्पन्न होती है। यदि उसे अपने पैर न दीखें, तो उसे विदेश यात्रा करनी पड़ती है और यदि उसे अपना समग्र शरीर ही दिखाई न दे, तो उसकी शीघ्र ही मृत्यु होती है।

कालज्ञान के अन्य उपाय

विद्यया दर्पणाङ्गुष्ठ-कुड्यासिष्वतारिता[1]।
विधिना देवता पृष्टा ब्रूते कालस्य निर्णयम् ॥ १७३ ॥

सूर्येन्दुग्रहणे विद्यां[2] नरवीरे-ठठेत्यसौ[3]।
साध्या दशसहस्याष्टोत्तरया[4] जपकर्मतः ॥ १७४ ॥

अष्टोत्तरसहस्रस्य जापात् कार्यक्षणे पुनः।
देवता लीयतेऽस्यादौ, ततः कन्याऽऽह निर्णयम् ॥ १७५ ॥

सत्साधक-गुणाकृष्टा स्वयमेवाथ देवता।
त्रिकाल-विषयं ब्रूते निर्णयं गतसंशयम् ॥ १७६ ॥

दर्पण, अंगूठे, दीवार या तलवार आदि पर विद्या के द्वारा विधिपूर्वक अवतरित की हुई देवता आदि की आकृति प्रश्न करने पर काल-मृत्यु का निर्णय बता देती है।

सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण के समय 'ॐ नरवीरे ठः ठः स्वाहा' का दस हजार आठ बार जाप करके विद्या की साधना करनी चाहिए।

जब उस विद्या से कार्य लेना हो तो एक हजार आठ बार जाप करने से वह दर्पण, तलवार आदि पर अवतरित हो जाती है।

---

१. कुड्यादिष्वतारिता। २. विद्या। ३. नरवीरठवेत्यसौ।
४. दश सहस्राष्टोत्तरया।

तत्पश्चात् वह दर्पण आदि, जिसमें विद्या का अवतरण किया गया है, एक कुमारी कन्या को दिखलाना चाहिए। जब कन्या को उसमें देवता का रूप दिखलाई दे, तब उससे आयु के विषय में प्रश्न करना चाहिए। उस प्रश्न का जो उत्तर मिलेगा, उस निर्णय को कन्या अभिव्यक्त कर देगी।

श्रेष्ठ साधक की योग या तप-साधना से आकृष्ट देवता की आकृति स्वयं ही—असंदिग्ध रूप से, उसे अनागत, आगत और वर्तमान काल सम्बन्धी आयु का निर्णय बता देती है।

शकुन द्वारा काल-ज्ञान

अथवा शकुनाद्विद्यात्सज्जो वा यदि वाऽऽतुरः।
स्वतो वा परतो वाऽपि गृहे वा यदि वा वहिः॥ १७७॥

कोई पुरुष नीरोग हो या रोगी हो, अपने आप से और दूसरे से, घर के भीतर हो या घर के बाहर, शकुन के द्वारा काल—मृत्यु के समय का निर्णय कर सकता है।

अहि-वृश्चिक-कृम्या-खु-गृहगोधा-पिपीलिकाः।
यूका-मत्कुणलूताश्च वल्मीकोऽथोपदेहिकाः॥१७८॥
कीटिका घृतवर्णाश्च भ्रमर्यश्च यदाधिकाः।
उद्वेग-कलह-व्याधि-मरणानि तदा दिशेत्॥१७९॥

यदि सर्प, बिच्छू, कीड़े, चूहे, छिपकली, चिंटियाँ, जूँ, खटमल, मकड़ी, बांबी, उदेही—घृतवर्ण की चीटियें और भ्रमर आदि बहुत अधिक परिमाण में दृष्टिगोचर हों तो उद्वेग, क्लेश, व्याधि अथवा मरण होता है।

उपानद्वाहनच्छत्र-शस्त्रच्छायाङ्ग - कुन्तलान्।
चञ्च्वा चुम्बेद्यदा काकस्तदाऽऽसन्नैव पंचता॥१८०॥
अश्रुपूर्णदृशो गावो गाढं पादैर्वसुन्धराम्।
खनन्ति चेत्तदानीं स्याद्रोगो मृत्युश्च तत्प्रभोः॥१८१॥

यदि काक जूते को, हाथी-अश्व आदि किसी वाहन को अथवा छत्र, शस्त्र, छाया—परछाईं, शरीर या केश को चुम्बन—स्पर्श करले तो समझना चाहिए कि मृत्यु सन्निकट है।

यदि आंखों से आंसू बहाती हुई गाय अपने पैरों के द्वारा जोर से पृथ्वी को खोदे, तो उसके स्वामी को रोग और मृत्यु का शिकार होना पड़ता है।

अनातुरकृते ह्येतत् शकुनं परिकीर्तितम्।
अधुनाऽऽतुरमुद्दिश्य शकुनं परिकीर्त्यते ॥ १८२ ॥

ऊपर कहे गये शकुन नीरोग पुरुष के काल-निर्णय के लिए हैं। अब बीमार व्यक्ति को लक्ष्य करके शकुन का विचार करते हैं।

रोगी के काल का निर्णय

दक्षिणस्यां वलित्वा चेत् श्वा गुदं लेढ्युरोऽथवा।
लांगूलं वा तदा मृत्युरेक द्वि-त्रिदिनैः क्रमात् ॥ १८३ ॥
शेते निमित्तकाले चेत् श्वा संकोच्याखिलं वपुः।
धूत्वा कर्णौ वलित्वाङ्गं धुनोत्यथ ततो मृतिः ॥ १८४ ॥
यदि व्यात्तमुखोलालां मुञ्चन् संकोचितेक्षणः।
अंगं संकोच्य शेते श्वा तदा मृत्युर्न संशयः ॥ १८५ ॥

जब रोगी मनुष्य अपनी आयु के विषय में शकुन देख रहा हो, उस समय यदि कोई कुत्ता या कुत्ती दक्षिण दिशा में जाकर अपनी गुदा को चाटे तो उसकी एक दिन में, हृदय को चाटे तो दो दिन में और पूंछ को चाटे तो तीन दिन में मृत्यु होती है।

जब कभी रोगी निमित्त देख रहा हो, उस समय यदि कुत्ता अपने सम्पूर्ण शरीर को सिकोड़ कर सोता हो अथवा कानों को फड़फड़ा रहा हो या शरीर को मोड़कर हिला रहा हो तो रोगी की मृत्यु होती है।

यदि कुत्ता मुँह फाड़कर लार टपकाता हुआ, आँख मींच कर और शरीर को सिकोड़ कर सोता हुआ दिखाई दे, तो रोगी की निश्चय ही मृत्यु होती है।

काक का शकुन

यद्यातुर-गृहस्योर्ध्वं काकपक्षिगणो मिलन् ।
त्रिसन्ध्यं दृश्यते नूनं तदा मृत्युरुपस्थितः ॥ १८६ ॥
महानसे तथा शय्यागारे काकाः क्षिपन्ति चेत् ।
चर्मास्थि-रज्जु केशान् वा तदासन्नैव पंचता ॥ १८७ ॥

यदि रोगी मनुष्य के घर के ऊपर प्रभात, मध्याह्न और संध्या के समय अर्थात् तीनों संध्याओं के काल में कौओं का समूह मिल कर कोलाहल करे, तो समझ लेना चाहिए कि रोगी की मृत्यु निकट है।

रोगी की भोजनशाला या शयनगृह के ऊपर कौए चमड़ा, हड्डी, रस्सी या केश लाकर डाल दें, तो समझना चाहिए कि रोगी की मृत्यु समीप ही है।

उपश्रुति से काल-निर्णय

अथवोपश्रुतेर्विन्द्याद्विद्वान् कालस्य निर्णयम् ।
प्रशस्ते दिवसे स्वप्नकाले शस्तां दिशं श्रितः ॥ १८८ ॥
पूत्वा पंचनमस्कृत्याचार्यमन्त्रेण वा श्रुती ।
गेहाच्छन्न - श्रुतिर्गच्छेच्छिल्पि-चत्वर-भूमिषु ॥ १८९ ॥
चन्द्रनेनार्चयित्वा क्ष्मां क्षिप्त्वा गंधाक्षतादि च ।
सावधानस्ततस्तत्रोपश्रुतेः शृणुयाद् ध्वनिम् ॥ १९० ॥
अर्थान्तरापदेश्यश्च सरूपश्चेति स द्विधा ।
विमर्श-गम्यस्तत्राद्यः स्फुटोक्तार्थोऽपरः पुनः ॥ १९१ ॥
यथैष भवनस्तम्भः पञ्चषड्भिरयं[1] दिनैः ।
पक्षैर्मासैरथो वर्षैर्भंक्ष्यते यदि वा न वा ॥ १९२ ॥

---

१. तथेयद्भिरयं ।

मनोहरतरश्चासीत् किन्त्वयं लघु भंक्ष्यते ।
अर्थान्तरापदेश्यः स्यादेवमादिरुप श्रुतिः ॥ १६३ ॥
एषा स्त्री पुरुषो वाऽसौ स्थानादस्मान्न यास्यति ।
दास्यामो न वयं गन्तुं गन्तुकामो न चाप्ययम् ॥ १६४ ॥
विद्यते गन्तु-कामोऽयमहं च प्रेषणोत्सुकः ।
तेन यास्यत्यसौ शीघ्रं स्यात्सरूपेत्युपश्रुतिः ॥ १६५ ॥
कर्णोद्घाटन - संजातोपश्रुत्यन्तरमात्मनः ।
कुशलाः कालमासन्नमनासन्नं च जानते ॥ १६६ ॥

विद्वान् पुरुष को उपश्रुति से काल का निर्णय करना चाहिए। उसके निर्णय की विधि इस प्रकार है—

जब भद्रा आदि अपयोग न हो—ऐसे प्रशस्त दिन में सोने के समय अर्थात् एक प्रहर रात्रि व्यतीत हो जाने पर वह प्रबुद्ध-पुरुष पूर्व, उत्तर या पश्चिम दिशा में जाए। वह जाते समय पाँच नमस्कार मंत्र का जाप करके अपने दोनों कानों को पवित्र कर ले। फिर कानों को इस प्रकार वन्द कर ले कि उसे किसी व्यक्ति का शब्द सुनाई न पड़े और शिल्पियों—कारीगरों के घर की ओर अथवा बाजार की ओर पूर्वोक्त दिशाओं में गमन करे। वह वहाँ जाकर भूमि को चन्दन से चर्चित करके गंध-अक्षत डाल कर, सावधान होकर, कान खोल कर लोगों के शब्दों को सुने। वे शब्द दो प्रकार के होंगे—१. अर्थान्तरापदेश्य और २. स्वरूप-उपश्रुति। अर्थान्तरापदेश्य शब्द या उपश्रुति वह है जो प्रत्यक्ष रूप से अभीष्ट अर्थ को प्रकट न करे, बल्कि सोच-विचार करने पर अभीष्ट अर्थ को प्रकट करे। और स्वरूप उपश्रुति वह कहलाती है, जो जिस रूप में सुनाई दे उसी रूप में अभीष्ट अर्थ को प्रकट करे :

१. **अर्थान्तरापदेश्य उपश्रुति**—इस प्रकार समझना चाहिए—'इस घर का स्तंभ पाँच-छह दिनों में, पाँच-छह पखवाड़ों में, पाँच-छह महीनों में या पाँच-छह वर्षों में टूट जायगा, अथवा यह नहीं टूटेगा।'

'यह स्तम्भ बहुत बढ़िया था, परन्तु जल्दी ही नष्ट हो जायगा।' इत्यादि प्रकार की उपश्रुति 'अर्थान्तरापदेश्य' कहलाती है। इस उपश्रुति से अपनी आयु का अनुमान लगा लेना चाहिए। जितने दिनों में स्तम्भ टूटने की ध्वनि सुनाई दे, उतने ही दिनों में आयु की समाप्ति समझनी चाहिए।

२. स्वरूप-उपश्रुति–इस प्रकार होती है—'यह स्त्री इस स्थान से नहीं जाएगी। यह पुरुष यहाँ से जाने वाला नहीं है। हम उसे जाने नहीं देंगे और वह जाना भी नहीं चाहता है' या 'अमुक यहाँ से जाना चाहता है, मैं उसे भेज देने के लिए उत्सुक हूँ, अतः अब वह शीघ्र ही चला जाएगा।' इस उपश्रुति से भी आयु का निर्णय होता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि जाने की बात सुनाई देती है, तो समझना चाहिए कि आयु का अन्त निकट है और यदि न जाने या न जाने देने की ध्वनि सुनाई देती है, तो समझना चाहिए कि आयु का अन्त सन्निकट नहीं है।

इस प्रकार कान खोल कर स्वयं सुनी हुई उपश्रुति के अनुसार कुशल पुरुष निर्णय कर सकता है कि उसकी आयु का अन्त सन्निकट है या दूर है।

शनैश्चर के आकार से काल-निर्णय

शनिः स्याद्यत्र नक्षत्रे तद्दातव्यं मुखे ततः।
चत्वारि दक्षिणे पाणौ त्रीणि त्रीणि च पादयोः॥ १९७॥

चत्वारि वामहस्ते तु क्रमशः पंच वक्षसि।
त्रीणि शीर्षे दृशोर्द्वे द्वे गुह्य एकं शनौ नरे॥ १९८॥

निमित्त-समये तत्र पतितं स्थापना क्रमात्।
जन्मर्क्ष नामऋक्षं वा गुह्यदेशे भवेद्यदि॥ १९९॥

दृष्टं श्लिष्टं ग्रहैर्दुष्टैः सौम्यैरप्रेक्षितायुतम्।
सज्जस्यापि तदा मृत्युः का कथा रोगिणः पुनः॥२००॥

शनि-देव की पुरुष के समान आकृति बना लेना चाहिए। फिर निमित्त देखते समय जिस नक्षत्र में शनि हो, उसके मुख में वह नक्षत्र स्थापित करना चाहिए। तत्पश्चात् क्रम से आने वाले चार नक्षत्र दाहिने हाथ में, तीन-तीन दोनों पैरों में, चार बांएं हाथ में, पाँच वक्षस्थल में, तीन मस्तक में, दो-दो दोनों नेत्रों में और एक गुह्य भाग में स्थापित करना चाहिए।

निमित्त देखते समय, स्थापना के अनुक्रम से जन्म-नक्षत्र अथवा नाम-नक्षत्र यदि गुह्य भाग में आया हो और उस पर दुष्ट ग्रहों की दृष्टि पड़ती हो या दुष्ट ग्रहों के साथ मिलाप होता हो और सौम्य ग्रहों की दृष्टि न पड़ती हो या उनसे मिलाप न होता हो, तो निरोगी होने पर भी उस मनुष्य की मृत्यु होती है। रोगी की तो बात ही क्या ?

लग्न के अनुसार कालज्ञान

पृच्छायामथ लग्नास्ते चतुर्थदशमस्थिताः।
ग्रहाः क्रूराः शशी षष्ठाष्टमश्चेत् स्यात्तदा मृतिः ॥२०१॥

आयु सम्बन्धी प्रश्न पूछते समय जो लग्न चल रहा हो वह उसी समय अस्त हो जाए और क्रूर ग्रह चौथे, सातवें या दसवें रहे हुए हों और चन्द्रमा छठा या आठवाँ हो, तो उस पुरुष की मृत्यु होती है।

पृच्छायाः समये लग्नाधिपतिर्भवति ग्रहः।
यदि वाऽस्तमितो मृत्युः सज्जस्यापि तदा भवेत् ॥२०२॥

आयु सम्बन्धी प्रश्न पूछते समय यदि लग्नाधिपति मेषादि राशि में गुरु, मंगल, और शुक्रादि हो अथवा चालू लग्न का अधिपति ग्रह अस्त हो गया हो, तो नीरोग मनुष्य की भी मृत्यु होती है।

लग्नस्थश्चेच्छशी सौरिर्द्वादशो नवमः कुजः।
अष्टमोऽर्कस्तदा मृत्युः स्याच्चेन्न बलवान् गुरुः ॥ २०३ ॥

यदि प्रश्न करते समय लग्न में चन्द्रमा स्थित हो, बारहवें शनैश्चर

हो, नौवें मंगल हो, आठवें सूर्य हो और गुरु यदि बलवान् न हो, तो उसकी मृत्यु होती है।

रविः षष्ठस्तृतीयो वा शशी च दशमस्थितः।
यदा भवति मृत्युः स्यात्तृतीये दिवसे तदा ॥ २०४ ॥

यदि आयु सम्बन्धी प्रश्न करते समय सूर्य तीसरे या छठे हो और चन्द्रमा दसवें हो तो उसकी तीसरे दिन मृत्यु समझनी चाहिए।

पापग्रहाश्चेदुदयात्तुर्ये वा द्वादशेऽथवा।
दिशन्ति तद्विदो मृत्युं तृतीये दिवसे तदा ॥ २०५ ॥

यदि प्रश्न करते समय पापग्रह लग्न से चौथे या बारहवें हों तो कालज्ञान के ज्ञाता पुरुष तीसरे दिन मृत्यु होना बतलाते हैं।

उदये पंचमे वापि यदि पापग्रहो भवेत्।
अष्टभिर्दशभिर्वा स्याद्दिवसैः पंचता ततः ॥ २०६ ॥

यदि प्रश्न करते समय चलते लग्न में अथवा पाँचवें स्थान में पाप-ग्रह हो तो आठ या दस दिन में मृत्यु होती है।

धनुर्मिथुनयोः सप्तमयोर्यद्यशुभ - ग्रहाः।
तदा व्याधिर्मृतिर्वा स्याज्ज्योतिषामिति निर्णयः॥२०७॥

यदि प्रश्न करते समय सातवें धनुष-राशि और मिथुन-राशि में अशुभ ग्रह आये हों तो व्याधि या मृत्यु होती है, यह ज्योतिष-शास्त्र के वेत्ताओं का निर्णय है।

यंत्र के द्वारा कालज्ञान

अन्तस्थाधिकृत-प्राणिनाम - प्रणव - गर्भितम्।
कोणस्थ - रेफमाग्नेयपुरं ज्वालाशता - कुलम् ॥ २०८ ॥
सानुस्वारैरकाराद्यैः षट्स्वरैः पार्श्वतो वृतम्।
स्वस्तिकांकबहिःकोणं स्वाक्षरान्तः प्रतिष्ठितम् ॥ २०९ ॥

चतुः पार्श्वस्थ-गुरुयं यन्त्रं वायुपुरा-वृतम् ।
कल्पयित्वा परिन्यस्येत् पादहृच्छीर्षसन्धिषु ॥ २१० ॥

सूर्योदयक्षणे सूर्यं पृष्ठे कृत्वा ततः सुधीः ।
स्व-परायुर्विनिश्चेतुं निजच्छायां विलोकयेत् ॥ २११ ॥

पूर्णां छायां यदीक्षेत तदा वर्षं न पंचता ।
कर्णाभावे तु पंचत्वं वर्षैर्द्वादशभिर्भवेत् ॥ २१२ ॥

हस्तांगुली-स्कन्ध-केश-पार्श्व-नासाक्षये क्रमात् ।
दशाष्ट - सप्त - पंच - त्र्येक - वर्षैर्मरणं दिशेत् ॥ २१३ ॥

षण्मास्या म्रियते नाशे शिरसश्चिबुकस्य वा ।
ग्रीवानाशे तु मासेनैकादशाहेन दृक्क्षये ॥ २१४ ॥

सच्छिद्रे हृदये मृत्युर्दिवसैः सप्तभिर्भवेत् ।
यदि च्छायाद्वयं पश्येद्यमपार्श्वं तदा व्रजेत् ॥ २१५ ॥

यंत्र पर सर्वप्रथम ॐ लिखना चाहिए और उसके साथ जिसकी आयु का निर्णय करना है, उसका नाम भी लिखना चाहिए। एक षट्कोण यन्त्र में ॐकार होना चाहिए। यंत्र के चारों कोणों में मानो अग्नि की सैंकड़ों ज्वालाओं से व्याप्त अग्निबीज अक्षर 'र' लिखना चाहिए। अनुस्वार सहित अकार आदि 'अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं'—छह स्वरों से कोणों के बाह्य भागों को घेर लेना चाहिए अर्थात् छहों कोणों में छह स्वर लिखने चाहिए। फिर छहों कोणों के बाहरी भाग में छह स्वस्तिक बना लेने चाहिए। स्वस्तिकों और स्वरों के बीच में छह 'स्वा' अक्षर लिखने चाहिए। फिर चारों ओर विसर्ग सहित यकार 'यः' लिखना चाहिए और उस यकार के चारों तरफ वायु के पूर से आवृत—संलग्न चार रेखाएँ खींचनी चाहिए।

इस प्रकार का यन्त्र बनाकर उसके पैर, हृदय, मस्तक और सन्धियों में स्थापित करना चाहिए। तत्पश्चात् सूर्योदय के समय सूर्य की ओर

पीठ करके और पश्चिम में मुख करके बैठना चाहिए और अपनी या दूसरे की आयु का निर्णय करने के लिए अपनी छाया को देखना चाहिए।

यदि छाया पूर्ण दिखाई दे तो समझना चाहिए कि एक वर्ष तक मृत्यु नहीं होगी और नीरोगता के साथ सुखपूर्वक वर्ष व्यतीत होगा। यदि अपना कान दिखाई न दे तो बारह वर्ष में मृत्यु होगी। हाथ न दीखे तो दस वर्ष में मरण होगा। अंगुलियाँ न दीखें तो आठ वर्ष में, कंधा न दीखे तो सात वर्ष में, केश न दीखें तो पाँच वर्ष में, पार्श्व भाग न दीखें तो तीन वर्ष में, नाक न दीखे तो एक वर्ष में, मस्तक या ठोड़ी न दीखे तो छह महीने में, ग्रीवा न दीखे तो एक महीने में, नेत्र न दीखें तो ग्यारह दिन में और हृदय में छिद्र दिखाई दें, तो सात दिन में मृत्यु होगी। और यदि दो छायाएँ दिखाई दें, तो समझना चाहिए कि मृत्यु पास ही आ पहुँची है।

विद्या-प्रयोग से काल-निर्णय

इति यन्त्र प्रयोगेण जानीयात्कालनिर्णयम्।
यदि वा विद्यया विद्याद्वक्ष्यमाणप्रकारया ॥ २१६ ॥

पूर्वोक्त रीति से यन्त्र का प्रयोग करके आयु का निर्णय करना चाहिए अथवा आगे कही जाने वाली विद्या से काल का निर्णय कर लेना चाहिए।

प्रथमं न्यस्य चूडायां स्वाशब्दमों च मस्तके।
क्षि नेत्र-हृदये पञ्च नाभ्यब्जे हाऽक्षरं ततः ॥ २१७ ॥

सर्वप्रथम चोटी में 'स्वा' शब्द, मस्तक पर 'ॐ' शब्द, नेत्र में 'क्ष' शब्द, हृदय में 'प' शब्द और नाभि-कमल में 'हा' शब्द स्थापित करना चाहिए।

अनया विद्ययाऽष्टाग्र - शतवारं विलोचने।
स्वच्छायां चाभिमन्त्र्यार्कं पृष्ठे कृत्वाऽरुणोदये ॥ २१८ ॥

परच्छायां परकृते स्वच्छायां स्वकृते पुनः ।
सम्यक् तत्कृतपूजः सन्नुपयुक्तो विलोकयेत् ॥ २१९ ॥

'ॐ' जुसः ॐ मृत्युञ्जयाय ॐ वज्रपाणिने शूलपाणिने हर-हर दह-दह स्वरूपं दर्शय-दर्शय हुँ फट्-फट् ।' इस विद्या से अपने नेत्रों को और अपनी छाया को १०८ बार मन्त्रित करके, सूर्योदय के समय, सूर्य की तरफ पीठ करके, सम्यक् प्रकार से विद्या की पूजा करके, चित्त स्थिर करके, दूसरे के लिए दूसरे की छाया और अपने लिए अपनी छाया देखनी चाहिए।

सम्पूर्णं यदि पश्येत्तामावर्ष न मृतिस्तदा ।
क्रमजंघा-जान्वभावे त्रि-द्वयेकाब्दैर्मृतिः पुनः ॥ २२० ॥
ऊरोरभावे दशभिर्मासैर्नश्येत्कटेः पुनः ।
अष्टाभिर्नवभिर्वापि तुन्दाभावे तु पंचषैः ॥ २२१ ॥

यदि छाया सम्पूर्ण दिखाई दे तो एक वर्ष पर्यन्त मृत्यु नहीं होगी। और पैर, जंघा और घुटना दिखाई न देने पर अनुक्रम से तीन, दो और एक वर्ष में मृत्यु होती है। ऊरु—पिंडली दिखाई न देने पर दस महीने में, कमर दिखाई न देने पर आठ-नौ महीने में और पेट दिखाई न देने पर पाँच मास में मृत्यु होती है।

ग्रीवाऽभावे चतुस्त्रि-द्वयेकमासैर्म्रियते पुनः ।
कक्षाभावे तु पक्षेण दशाहेन भुजक्षये ॥ २२२ ॥
दिनैः स्कंधक्षयेऽष्टाभिश्चतुर्याम्या तु हृत्क्षये ।
शीर्षाभावे तु यामाभ्यां सर्वाभावे तु तत्क्षणात् ॥ २२३ ॥

यदि गर्दन न दिखाई दे तो चार, तीन, दो या एक मास में मृत्यु होती है। यदि बगल दिखाई न दे, तो पन्द्रह दिन में और भुजा दिखाई न दे, तो दस दिन में मृत्यु होती है।

यदि स्कंध दृष्टिगोचर न हो तो आठ दिन में, हृदय दिखाई न दे तो चार प्रहर में, मस्तक दिखाई न दे तो दो प्रहर में और पूरा का पूरा शरीर दिखाई न दे तो तत्काल ही मृत्यु होती है।

उपसंहार

एवमाध्यात्मिकं कालं विनिश्चेतुं प्रसंगतः।
बाह्यस्यापि हि कालस्य निर्णयः परिभाषितः॥ २२४॥

इस प्रकार प्राणायाम—पवन के अभ्यास से शारीरिक कालज्ञान का निर्णय करते हुए प्रसंगवश बाह्य निमित्तों से भी काल का निर्णय बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य-नाड़ी आदि की गति से भी मृत्यु के समय का ज्ञान किया जा सकता है और बाह्य निमित्तों एवं शकुन आदि को देखकर भी मृत्यु के समय को जाना जा सकता है।

जय-पराजय निर्णय

को जेष्यति द्वयोर्युद्धे इति पृच्छत्यवस्थितः।
जयः पूर्वस्य पूर्णे स्याद्रिक्ते स्यादितरस्य तु॥ २२५॥

दो विरोधी व्यक्तियों के युद्ध में किसकी विजय होगी? इस प्रकार का प्रश्न करने पर, प्रश्न के समम यदि पूर्ण नाड़ी हो अर्थात् स्वाभाविक रूप से पूरक हो रहा हो—श्वास भीतर की ओर खिंच रहा हो तो जिसका नाम पहले लिया गया है, उसकी विजय होती है और यदि नाड़ी रिक्त हो अर्थात् वायु बाहर निकल रहा हो तो दूसरे की विजय होती है।

रिक्त-पूर्ण का लक्षण

यत्त्यजेत् संचरन् वायुस्तद्रिक्तमभिधीयते।
संक्रमेद्यत्र तु स्थाने तत्पूर्णं कथितं बुधैः॥ २२६॥

चलते हुए वायु का बाहर निकालना 'रिक्त' कहलाता है और नासिका के स्थान में पवन भीतर प्रवेश करता हो तो उसे विद्वान् 'पूर्ण'

कहते हैं। वायु का बाहर निकलना 'रिक्त' और नासिका के द्वारा भीतर प्रविष्ट होना 'पूर्ण' कहलाता है।

स्वरोदय से शुभाशुभ-निर्णय

प्रश्नाऽऽदौ नाम चेद् ज्ञातुर्गृह्णात्यन्वातुरस्य तु।
स्यादिष्टस्य तदा सिद्धिर्विपर्यासे विपर्ययः ॥२२७॥

यदि प्रश्नकर्त्ता प्रश्न करते समय पहले जानने वाले का अर्थात् जिससे प्रश्न किया जा रहा है, उसका नाम ले तो इष्ट सिद्धि होती है। इसके विपरीत, पहले रोगी का और फिर जानने वाले का नाम ले तो परिणाम भी विपरीत ही होता है।

टिप्पण—इस प्रकार का प्रश्न अनजान में पूछा जाए तभी उसका सही फल मालूम हो सकता है। यदि कोई प्रश्नकर्त्ता उपर्युक्त नियम को जानकर यदि जानकार का नाम पहले लेकर प्रश्न पूछे तो यह नहीं कहा जा सकता कि रोगी ज़ीवित रहेगा ही। उसकी परीक्षा दूसरे उपायों से की जानी चाहिए।

वाम-बाहुस्थिते दूते समनामाक्षरो जयेत्।
दक्षिण-बाहुगे त्वाजौ विषमाक्षर-नामकः ॥ २२८ ॥

युद्ध में किस पक्ष की जय होगी? इस प्रकार प्रश्न करने वाला दूत यदि बांयीं ओर खड़ा हो और युद्ध करने वाले का नाम—दो, चार, छह आदि सम अक्षर का हो, तो उसकी विजय होगी और यदि प्रश्नकर्त्ता दाहिनी ओर खड़ा हो, तो विषम अक्षरों के नाम वाले की विजय होगी।

भूतादिभिर्गृहीतानां दष्टानां वा भुजङ्गमैः।
विधिः पूर्वोक्त एवासौ विज्ञेयः खलु मान्त्रिकैः ॥ २२९ ॥

जो भूत आदि से आविष्ट हों अथवा जो सर्प आदि से डँस लिये गये हों, ऐसे मनुष्यों के सम्बन्ध में भी मंत्रवेत्ताओं को उनके ठीक होने या न होने का निर्णय करने के लिए पूर्वोक्त विधि ही समझनी चाहिए।

पूर्णा संजायते वामा नाडी हि[1] वरुणेन चेत् ।
कार्याण्यारभ्यमाणानि तदा सिध्यन्त्यसंशयम् ॥ २३० ॥

पहले कहे हुए चार मंडलों में से दूसरे वारुण मंडल से यदि वाम नाड़ी पूर्ण वह रही हो तो उस समय प्रारम्भ किए गए कार्य अवश्य ही सफल होते हैं ।

जय-जीवित-लाभादि-कार्याणि निखिलान्यपि ।
निष्फलान्येव जायन्ते पवने दक्षिणास्थिते ॥ २३१ ॥

यदि वारुण मंडल के उदय के समय पवन दाहिनी नासिका में चल रहा हो तो जय, जीवन एवं लाभ आदि सम्बन्धी सर्व कार्य निष्फल ही होते हैं ।

ज्ञानी बुध्ध्वाऽनिलं सम्यक् पुष्पं हस्तात्प्रपातयेत् ।
मृत-जीवित-विज्ञाने ततः कुर्वीत निश्चयम् ॥२३२॥

जीवन और मरण सम्वन्धी विज्ञान को प्राप्त करने के लिए ज्ञानी पुरुष वायु को भली-भाँति जानकर और अपने हाथ से पुष्प नीचे गिराकर उसके द्वारा भी निश्चय कर सकते हैं ।

त्वरितो वरुणे लाभश्चिरेण तु पुरन्दरे ।
जायते पवने स्वल्प-सिद्धोऽप्यग्नौ विनश्यति ॥ २३३ ॥

यदि प्रश्न करते समय उत्तरदाता को वरुण-मंडल का उदय हो तो उसका तत्काल लाभ होता है, ऐसा समझना चाहिए । पुरन्दर मंडल का उदय होने पर देर से लाभ होता है, पवन मंडल का उदय हो तो साधारण लाभ होता है और अग्नि मंडल का उदय हो तो सिद्ध कार्य का भी नाश हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए ।

आयाति वरुणे यातः, तत्रैवास्ते सुखं क्षितौ ।
प्रयाति पवनेऽन्यत्र, मृत इत्यनले वदेत् ॥ २३४ ॥

यदि किसी गाँव या देश गए हुए मनुष्य के सम्वन्ध में वरुण मंडल

---

१. विशता ।

के उदय के समय प्रश्न किया जाए तो वह जल्दी ही लौट कर आने वाला है, पृथ्वी मंडल में प्रश्न किया जाए तो वह जहाँ गया है वहाँ सुखपूर्वक है, पवन मंडल में प्रश्न किया जाए तो वह वहाँ से अन्यत्र चला गया है, अग्निमंडल में प्रश्न किया जाए तो उसकी मृत्यु हो गई है, ऐसा फल समझना चाहिए।

दहने युद्ध-पृच्छायां युद्धभंगश्च दारुणः।
मृत्युः सैन्य-विनाशो वा पवने जायते पुनः ॥ २३५ ॥

यदि अग्नि मंडल में युद्ध सम्बन्धी प्रश्न किया जाए तो महायुद्ध होगा और उसमें शत्रु की ओर से पराजय प्राप्त होगी, पवन मंडल में प्रश्न किया जाए तो जिसके विषय में प्रश्न किया गया हो, उसकी मृत्यु होगी और सेना का विनाश होगा।

महेन्द्रे विजयो युद्धे वारुणे वाञ्छिताधिकः।
रिपु-भंगेन सन्धिर्वा स्वसिद्धि-परिसूचकः ॥ २३६ ॥

यदि पृथ्वी मंडल में प्रश्न करे तो युद्ध में विजय प्राप्त होगी, वरुण-मंडल में प्रश्न करे तो अभीष्ट से भी अधिक फल की प्राप्ति होगी अथवा शत्रु का मान भंग होकर अपनी सिद्धि को सूचित करने वाली संधि होगी।

भौमे वर्षति पर्जन्यो वरुणे तु मनोमतम्।
पवने दुर्दिनाम्भोदा वह्नौ वृष्टिः कियत्यपि ॥ २३७ ॥

यदि पृथ्वी मंडल में वर्षा सम्बन्धी प्रश्न किया जाए तो वर्षा होगी, वरुण मंडल में किया जाए तो मनचाही वर्षा होगी, पवन मंडल में किया जाए तो बादल होंगे, पर वर्षा नहीं होगी और यदि अग्नि मंडल में किया जाए तो मामूली वर्षा होगी, ऐसा फल समझना चाहिए।

वरुणे शस्य-निष्पत्तिरतिश्लाघ्या पुरन्दरे।
मध्यस्था पवने च स्यान्न स्वल्पाऽपि हुताशने ॥२३८॥

यदि धान्य उत्पन्न होने के सम्बन्ध में वरुण-मंडल में प्रश्न किया जाए तो धान्य की उत्पत्ति होगी, पुरन्दर—पृथ्वी-मंडल में प्रश्न किया जाए तो बहुत बढ़िया धान्योत्पत्ति होगी, पवन-मंडल में प्रश्न किया जाए तो मध्यम रूप से उत्पत्ति होगी—कहीं होगी और कहीं नहीं होगी, और यदि अग्नि-मंडल में प्रश्न किया जाए, तो धान्य की बिल्कुल उत्पत्ति नहीं होगी।

महेन्द्र-वरुणौ शस्तौ गर्भप्रश्ने सुतप्रदौ ।
समीर-दहनौ स्त्रीदौ शून्यं गर्भस्य नाशकम् ॥ २३९ ॥

गर्भ सम्बन्धी प्रश्न करते समय पार्थिव और वारुण-मंडल प्रशस्त माने गए हैं। इनमें प्रश्न करने पर पुत्र की प्राप्ति होती है। वायु और अग्नि-मंडल में प्रश्न करने पर पुत्री का जन्म होता है और सुषुम्णा नाड़ी चलते समय प्रश्न करे तो गर्भ का नाश होता है, ऐसा समझना चाहिए।

गृहे राजकुलादौ च प्रवेशे निर्गमेऽथवा ।
पूर्णांगपादं पुरतः कुर्वतः स्यादभीप्सितम् ॥ २४० ॥

यदि गृह में या राजकुल आदि में प्रवेश करते समय या उनमें से बाहर निकलते समय पूर्णांग वाले पैर को, अर्थात् नाक के जिस तरफ के छिद्र से वायु निकलती हो, उस तरफ के पैर को पहले आगे रखकर चलने से इष्ट कार्य की सिद्धि होती है।

कार्य-सिद्धि का उपाय

गुरु-बन्धु-नृपामात्या अन्येऽपीप्सितदायिनः ।
पूर्णांगे खलु कर्त्तव्याः कार्यसिद्धिमभीप्सता ॥ २४१ ॥

जो मनुष्य अपने कार्य की सिद्धि चाहता है, उसे गुरु, बंधु, राजा, अमात्य—मंत्री या अन्य लोगों को, जिनसे कोई अभीष्ट वस्तु प्राप्त करनी है, अपने पूर्णांग की तरफ रखना चाहिए, अर्थात् नासिका के जिस छिद्र में से पवन बहता हो, उस ओर उन्हें रखकर स्वयं बैठना चाहिए।

यदि एक मंडल से दूसरे मंडल में जाता हुआ पुरन्दरादि वायु जब भली-भाँति ज्ञात न हो—तब पीले, श्वेत, लाल, और काले बिन्दुओं से उसका निश्चय करना चाहिए।

बिन्दु देखने की विधि

अंगुष्ठाभ्यां श्रुती मध्यांगुलीभ्यां नासिकापुटे।
अन्त्योपान्त्यांगुलीभिश्च पिधाय वदनाम्बुजम् ॥ २४९॥

कोणावक्ष्णोर्निपीड्याद्यांगुलीभ्यां श्वासरोधतः।
यथावर्णं निरीक्षेत बिन्दुमव्यग्र-मानसः ॥ २५०॥

दोनों अंगूठों से कान के दोनों छिद्र, मध्य अंगुलियों से नासिका के दोनों छिद्र, अनामिका और कनिष्ठा अंगुलियों से मुख और तर्जनी अंगुलियों से आँख के कोने दबाकर, श्वासोच्छ्वास को रोक कर, शान्त चित्त से भ्रकुटि में जिस वर्ण के बिन्दु दिखाई दें, उन्हें देखना चाहिए।

बिन्दु-ज्ञान से पवन-निर्णय

पीतेन बिन्दुना भौमं सितेन वरुणं पुनः।
कृष्णेन पवनं विन्द्यादरुणेन हुताशनम् ॥ २५१॥

पीला बिन्दु दिखाई दे तो पुरन्दर वायु, श्वेत दिखाई दे तो वरुण वायु, कृष्ण बिन्दु परिलक्षित हो तो पवन नामक वायु और लाल बिन्दु दृष्टिगोचर हो तो अग्नि वायु समझनी चाहिए।

नाड़ी की गति को रोकना

निरुरुत्सेद् वहन्तीं यां वामां वा दक्षिणामथ।
तदंगं पीडयेत्सद्यो यथा नाडीतरा वहेत् ॥ २५२॥

चलती हुई बांयीं या दाहिनी नाड़ी को रोकने की इच्छा हो तो उस ओर के पार्श्व भाग को दबाना चाहिए। ऐसा करने से दूसरी नाड़ी चालू हो जाएगी और चालू नाड़ी बन्द हो जाएगी। इस तरह की क्रिया करने से नाड़ी की गति में परिवर्तन आ जाएगा।

चन्द्र-क्षेत्र सूर्य-क्षेत्र

अग्रे वाम-विभागे हि शशिक्षेत्रं प्रचक्षते ।
पृष्ठे दक्षिण-भागे तु रविक्षेत्रं मनीषिणः ॥ २५३ ॥

विद्वान् पुरुषों का कथन है कि शरीर के वाम भाग में आगे की ओर चन्द्र का क्षेत्र है और दाहिने भाग में पीछे की ओर सूर्य का क्षेत्र है।

वायुज्ञान का महत्त्व

लाभालाभौ सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ।
विदन्ति विरलाः सम्यग् वायुसंचारवेदिनः ॥ २५४ ॥

वायु के संचार को जानने वाले पुरुष सम्यक् रूप से लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण को जानते हैं, परन्तु ऐसे वायु-संचार वेत्ता विरले पुरुष ही होते हैं।

नाड़ी-शुद्धि

अखिलं वायुजन्मेदं सामर्थ्यं तस्य जायते ।
कर्तुं नाडि-विशुद्धिं यः सम्यग् जानात्यमूढधीः ॥ २५५ ॥

जो प्रबुद्ध पुरुष भली-भाँति नाड़ी की विशुद्धि करना जानता है, उसे वायु से उत्पन्न होने वाले सर्व सामर्थ्य प्राप्त हो जाते हैं। वह व्यक्ति सर्वशक्ति-संपन्न हो जाता है।

नाड़ी-शुद्धि की विधि

नाभ्यब्ज-कर्णिकारूढं कलाबिन्दु-पवित्रितम् ।
रेफाक्रान्तं स्फुरद्भासं हकारं परिचिन्तयेत् ॥ २५६ ॥
तं ततश्च तडिद्वेगं स्फुलिंगार्चिशताञ्चितम् ।
रेचयेत्सूर्यमार्गेण प्रापयेच्च नभस्तलम् ॥ २५७ ॥
अमृतैः प्लावयन्तं तमवतार्य शनैस्ततः ।
चन्द्राभं चन्द्रमार्गेण नाभिपद्मे निवेशयेत् ॥ २५८ ॥

दृढाभ्यासस्ततः कुर्याद् वेधं वरुण-वायुना ।
कर्पूरा-गुरु-कुष्ठादि-गन्ध-द्रव्येषु सर्वतः ॥ २६८ ॥
एतेषु लब्धलक्षोऽथ[1] वायुसंयोजने पटुः ।
पक्षि-कायेषु सूक्ष्मेषु विदध्याद्वेधमुद्यतः ॥ २६९ ॥
पतङ्ग-भृङ्ग-कायेषु जाताभ्यासो मृगेष्वपि ।
अनन्यमानसो धीरः सञ्चरेद्विजितेन्द्रियः ॥ २७० ॥
नराश्व-करिकायेषु प्रविशन्निस्सरन्निति ।
कुर्वीत संक्रमं पुस्तोपलरूपेष्वपि क्रमात् ॥ २७१ ॥

पूरक क्रिया के द्वारा जब वायु अन्दर ग्रहण की जाती है, तब हृदय-कमल अधोमुख और संकुचित हो जाता है। वही हृदम-कमल कुम्भक करने से विकसित और ऊर्ध्वमुख हो जाता है। अतः पहले कुम्भक करना चाहिए और फिर हृदय-कमल की वायु को रेचक क्रिया द्वारा हिलाकर हृदय-कमल में से वायु को ऊपर खींचना चाहिए। यह रेचक क्रिया वायु को बाहर निकालने के लिए नहीं, किन्तु अन्दर ही कुम्भक के बन्धन से वायु को मुक्त करने के लिए की जाती है। उक्त क्रिया करने के पश्चात् उस वायु को ऊपर की ओर प्रेरित करके, बीच की दुर्भेद्य ग्रन्थि को भेद कर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाना चाहिए। यहाँ योगी को समाधि प्राप्त हो सकती है।

यदि योगी को कौतुक—चमत्कार करने या देखने की इच्छा हो तो उस पवन को ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकाल कर, समाधि के साथ आक की रुई में धीरे-धीरे वेध करना चाहिए अर्थात् पवन को उस रुई पर छोड़ना चाहिए।

आक की रुई पर बार-बार अभ्यास करने से, अर्थात् पवन को बार-बार ब्रह्मरन्ध्र पर और बार-बार रुई पर लाने से जब अभ्यास परिपक्व हो जाए, तब योगी को स्थिरता के साथ मालती आदि के पुष्पों को लक्ष्य बनाकर सावधानी से पवन को उन पर छोड़ देना चाहिए।

---

१. लक्ष्योऽथ।

जब यह अभ्यास दृढ़ हो जाए और वरुण वायु चल रहा हो, तो कपूर, अगर और कुष्ट आदि सुगंधित द्रव्यों में पवन को वेध करना—छोड़ना शुरू कर दे।

इन सब में वेध करने में जब सफलता प्राप्त हो जाए और साधक जब वायु के संयोजन में कुशल हो जाए, तब छोटे-छोटे पक्षियों के मृत शरीर में वेध करने का प्रयत्न करे। पतंग और भ्रमर आदि के मृत शरीर में वेध करने का अभ्यास करने के पश्चात् मृग आदि के विषय में भी अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। तत्पश्चात् एकाग्रचित्त, धीर एवं जितेन्द्रिय होकर योगी को मनुष्य, घोड़ा, हाथी आदि के मृत शरीरों में पवन को वेध करना चाहिए। उनमें प्रवेश और निर्गम करते-करते अनुक्रम से पाषाण की पुतली, देवप्रतिमा आदि में प्रवेश करना चाहिए।

एवं परासुदेहेषु प्रविशेद्वाम-नासया ।
जीवद्देहप्रवेशस्तु नोच्यते पाप-शङ्कया ॥ २७२ ॥

इस प्रकार मृत जीवों के शरीर में बायीं नासिका से प्रवेश करना चाहिए। पाप की शंका से जीवित देह में प्रवेश करने का कथन नहीं किया गया है।[1]

---

१. योग-साधना की प्रक्रिया से साधक किसी जीवित व्यक्ति के शरीर में भी प्रवेश कर सकता है। परन्तु, दूसरे के प्राणों का नाश किए बिना उसके शरीर में प्रवेश नहीं किया जा सकता है; अतः परकीय जीवित शरीर में प्रवेश करने का उपदेश वस्तुतः हिंसा का उपदेश है। तथापि ग्रंथ को अपूर्ण न रखने के अभिप्राय से आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ की टीका में उसका दिग्दर्शन मात्र कराया है।

ब्रह्मरन्ध्रेण निर्गत्य प्रविश्यापानवर्त्मना ।
श्रित्वा नाभ्यम्बुजं यायात् हृदम्भोजं सुषुम्णया ॥ १ ॥

पर-काय प्रवेश का फल

क्रमेणैवं परपुर-प्रवेशाभ्यास-शक्तितः ।
विभ्रक्त इव निर्लेपः स्वेच्छया संचरेत्सुधीः ॥२७३॥

इस क्रम से दूसरे के शरीर में प्रविष्ट होने की शक्ति उत्पन्न होने के कारण बुद्धिमान योगी मुक्त पुरुष की तरह निर्लेप होकर अपनी इच्छानुसार विचरण कर सकता है ।

तत्र तत्प्राणसंचारं निरुध्यान्निजवायुना ।
यावद्देहात्ततो देही गतचेष्टो विनिष्पतेत् ॥ २ ॥

तेन देहे विनिर्मुक्ते प्रादुर्भूतेन्द्रियक्रियः ।
वर्तेत सर्वकार्येषु स्वदेह इव योगवित् ॥ ३ ॥

दिनार्धं वा दिनं चेति क्रीडेत् परपुरे सुधीः ।
अनेन विधिना भूयः प्रविशेदात्मनः पुरम् ॥ ४॥

ब्रह्मरन्ध्र से निकल कर अपान—गुदा के मार्ग से परकीय शरीर में प्रवेश करना चाहिए । प्रवेश करने के पश्चात् नाभि-कमल का आश्रय लेकर, सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा हृदय-कमल में जाना चाहिए । वहाँ जाकर अपनी वायु के द्वारा उसके प्राण संचार को रोक देना चाहिए और तब तक रोके रखना चाहिए, जब तक वह निश्चेष्ट होकर गिर न पड़े । थोड़ी देर में वह आत्मा देह से मुक्त हो जाएगा । तब अपनी ओर से इन्द्रियों की क्रिया प्रकट होने पर योगी उस शरीर से, अपने शरीर की तरह काम लेने लगेगा । आधा दिन या एक दिन तक परकीय शरीर में क्रीड़ा करके प्रबुद्ध पुरुष इसी विधि से पुनः अपने शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं ।

षष्ठ प्रकाश

परकाय-प्रवेश : अपारमार्थिक

इह चायं पर पुरप्रवेशश्चित्रमात्रकृत् ।
सिध्येन्न वा प्रयासेन कालेन महताऽपिहि ॥१॥

पञ्चम-प्रकाश में दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की विधि का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह केवल कुतूहलजनक ही है, उसमें परमार्थ का अंशमात्र भी नहीं है। इसके अतिरिक्त बहुत लम्बे समय तक महान् प्रयास करना पड़ता है और इतना कठिन अभ्यास करने पर भी कभी उसकी सिद्धि हो जाती है और कभी नहीं भी होती। इसका तात्पर्य यह है कि यह प्रक्रिया केवल चमत्कारिक है। इससे साध्य की सिद्धि नहीं होती।

जित्वाऽपि पवनं नानाकरणैः क्लेश-कारणैः ।
नाड़ीप्रचारमायत्तं विधायापि वपुर्गतम् ॥२॥
अश्रद्धेयं परपुरे साधयित्वाऽपि संक्रमम् ।
विज्ञानैकप्रसक्तस्य मोक्षमार्गो न सिध्यति ॥३॥

कष्टप्रद विभिन्न आसनों की साधना से पवन को जीतकर भी, शरीर के अन्तर्गत नाड़ी के संचार को अपने अधीन करके भी और जिस पर दूसरे श्रद्धा भी नहीं कर सकते, उस परकाय-प्रवेश में सिद्धि प्राप्त करके भी, जो पुरुष इस विज्ञान में आसक्त रहता है, वह अपवर्ग-मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता है।

प्राणायाम की अनावश्यकता

> तन्नाप्नोति मनःस्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम् ।
> प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्त-विप्लवः ॥४॥
> पूरणे कुम्भने चैव रेचने च परिश्रमः ।
> चित्त-संक्लेश-करणान्मुक्तेः प्रत्यूह-कारणम् ॥५॥

प्राणायाम के द्वारा पीड़ित मन स्वस्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि, प्राण का निग्रह करने से शरीर में पीड़ा उत्पन्न होती है और शरीर में पीड़ा होने से मन में चपलता उत्पन्न होती है।

पूरक, कुंभक और रेचक करने में परिश्रम करना पड़ता है। परिश्रम करने से मन में संक्लेश उत्पन्न होता है और मन की संक्लेशमय स्थिति मोक्ष में बाधक है।

टिप्पण—प्राणायाम की प्रक्रिया से मन कुछ देर के लिए कार्य करना बन्द कर देता है, परन्तु इससे स्थिर नहीं हो पाता। अतः प्राणायाम का बन्धन शिथिल होते ही वह तेजी से दौड़ता है और साधना से बहुत दूर निकल जाता है। अतः मन को स्थिर करने के लिए उसका प्राणायाम के द्वारा निरोध न करके उसे किसी पदार्थ एवं द्रव्य के चिन्तन में लगाकर स्थिर करना चाहिए।

प्रत्याहार

> इन्द्रियैः सममाकृष्य विषयेभ्यःप्रशान्तधीः ।
> धर्मध्यानकृते तस्मान्मनः कुर्वीत निश्चलम् ॥६॥

प्रशान्त बुद्धि वाला साधक इन्द्रियों के साथ मन को भी शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पाँचों विषयों से हटाकर, उसे धर्मध्यान के चिन्तन में लगाने का प्रयत्न करे।

टिप्पण—अभिप्राय यह है कि जब तक इन्द्रियाँ और मन विषयों से विरत नहीं हो जाते, तब तक मन में शान्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता।

अतः मन को प्रशान्त बनाने के लिए उसे विषयों की ओर से हटाना आवश्यक है। प्रशान्त मन ही निश्चल हो सकता है और धर्मध्यान के लिए मन का निश्चल होना अनिवार्य है। अतः मन को बाह्य एवं अभ्यन्तर इन्द्रियों से पृथक् कर लेना ही 'प्रत्याहार' कहलाता है।

धारणा

नाभी-हृदय-नासाग्र-भाल-भ्रू-तालु-दृष्टयः।
मुखं कर्णौ शिरश्चेति ध्यानस्थानान्यकीर्त्तयन् ॥७॥

नाभि, हृदय, नासिका का अग्रभाग, कपाल, भ्रकुटि, तालु, नेत्र, मुख, कान और मस्तक, यह ध्यान करने के लिए धारणा के स्थान हैं। अर्थात् इन स्थानों में से किसी भी एक स्थान पर चित्त को स्थिर करना चाहिए। चित्त को स्थिर करना ही 'धारणा' है।

टिप्पण—ध्यान के लिए वचन और काय के साथ मन को एकाग्र करना आवश्यक है। अतः ध्यान—आत्म-चिन्तन करते समय यह आवश्यक है कि मन को एक पदार्थ के चिन्तन में स्थिर किया जाए। वस्तुतः ध्यान मन को एक स्थान पर एकाग्र करने—स्थिर रखने की साधना है।

धारणा का फल

एषामेकत्र कुत्रापि स्थाने स्थापयतो मनः।
उत्पद्यन्ते स्वसंवित्तेर्वहवः प्रत्ययाः किल ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त स्थानों में से किसी भी एक स्थान पर लम्बे समय तक मन को स्थापित करने से निश्चय ही स्वसंवेदन के अनेक प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

टिप्पण—इन्द्रियों को और मन को विषयों से खींच लेने के पश्चात् धारणा होती है। विषयों से विमुख बने हुए मन को नासिकाग्र आदि स्थानों पर स्थापित कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया से कुछ ऐसा

साक्षात्कार होने लगता है, जो पहले कभी अनुभव में न आया हो। कभी-कभी दिव्य-गंध, दिव्य-रूप, दिव्य-रस, दिव्य-स्पर्श और दिव्य-नाद की अनुभूति होती है। किन्तु, उन्हें भी इन्द्रियों के सूक्ष्म विषय मानकर मन से बाहर धकेल देना चाहिए। ऐसा करने पर मन में अपूर्व शान्ति का अनुभव होगा। इस प्रकार बाह्य और आन्तरिक विषयों से विरक्त मन में ही धारणा की योग्यता आती है। धारणा की योग्यता प्राप्त हो जाने पर ही यथार्थ ध्यान हो सकता है।

सप्तम प्रकाश

ध्यान

ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं तथा फलम् ।
सिध्यन्ति न हि सामग्रीं विना कार्याणि कर्हिचित् ।। १ ।

ध्यान करने की इच्छा रखने वाले साधक को तीन बातें जान लेनी चाहिए—१. ध्याता—ध्यान करने वाले में कैसी योग्यता होनी चाहिए ? २. ध्येय—जिसका ध्यान करना है, वह वस्तु कैसी होनी चाहिए ? ३. ध्यान के कारणों की समग्रता, अर्थात् सामग्री कैसी हो ? क्योंकि सामग्री के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है ।

ध्याता की योग्यता

अमुञ्चन प्राणनाशेऽपि संयमैकधुरीणताम् ।
परमप्यात्मवत् पश्यन् स्वस्वरूपापरिच्युतः ।। २ ।।
उपतापमसंप्राप्तः शीत - वातातपादिभिः ।
पिपासुरमरीकारि योगामृत-रसायनम् ।। ३ ।।
रागादिभिरनाक्रान्तं क्रोधादिभिरदूषितम् ।
आत्मारामं मनः कुर्वन्निर्लेपः सर्वकर्मसु ।। ४ ।।
विरतः कामभोगेभ्यः स्वशरीरेऽपि निस्पृहः ।
संवेग ह्रदनिर्मग्नः सर्वत्र समतां श्रयन् ।। ५ ।।
नरेन्द्रे वा दरिद्रे वा तुल्य-कल्याण-कामना ।
अमात्र करुणा-पात्रं भव-सौख्य-परांमुखः ।। ६ ।।

सुमेरुरिव निष्कम्पः शशीवानन्द-दायकः ।
समीर इव निःसंगः सुधीर्ध्याता प्रशस्यते ॥ ७ ॥

जो प्राणों के नाश होने का अवसर आ जाने पर भी संयम-निष्ठा का परित्याग नहीं करता है, अन्य प्राणियों को आत्मवत् देखता है, अपने ध्येय—लक्ष्य से च्युत नहीं होता है, जो सर्दी, गर्मी और वायु से खिन्न नहीं होता, जो अजर-अमर बनाने वाले योग रूपी अमृत-रसायन को पान करने का इच्छुक है, रागादि दोषों से आक्रान्त नहीं है, क्रोध आदि कषायों से दूषित नहीं है, मन को आत्माराम में रमण कराने वाला है, समस्त कर्मों में अलिप्त रहने वाला है, काम-भोगों से पूर्णतया विरक्त है, अपने शरीर पर भी ममत्व-भाव नहीं रखता है, संवेग के सरोवर में पूरी तरह मग्न रहने वाला है, शत्रु-मित्र, स्वर्ण-पाषाण, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि में समभाव रखने वाला है, समान रूप से प्राणीमात्र के कल्याण की कामना करने वाला है, प्राणीमात्र पर करुणा-भाव रखने वाला है, सांसारिक सुखों से विमुख है, परीषह और उपसर्ग आने पर भी सुमेरु की तरह अचल-अटल रहता है, चन्द्रमा की भाँति आनन्ददायक और वायु के समान निःसंग—अप्रतिबन्ध विहारी है, वही प्रशस्त बुद्धि वाला प्रबुद्ध-साधक प्रशंसनीय और श्रेष्ठ ध्याता हो सकता है ।

ध्येय का स्वरूप

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः ॥ ८ ॥

ज्ञानी पुरुषों ने ध्यान के आलम्बन रूप—ध्येय को चार प्रकार का माना है—१. पिण्डस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ और ४. रूपातीत ।

पिण्डस्थ-ध्येय की धारणाएँ

पार्थिवी स्यादथाग्नेयी मारुती वारुणी तथा ।
तत्त्वभूः पञ्चमी चेति पिण्डस्थे पञ्च धारणाः ॥ ९ ॥

पिण्डस्थ-ध्येय में १. पार्थिवी, २. आग्नेयी, ३. मारुती, ४. वारुणी, और ५ तत्वभू—यह पाँच धारणाएँ होती हैं।

१. पार्थिवी-धारणा

तिर्यग्लोकसमं ध्यायेत् क्षीराब्धि तत्र चाम्बुजम्।
सहस्रपत्रं स्वर्णाभं जम्बूद्वीप-समं स्मरेत् ॥ १० ॥
तत्केसरततेरन्तः स्फुरत्पिङ्गप्रभाञ्चिताम्।
स्वर्णाचल-प्रमाणां च कर्णिकां परिचिन्तयेत् ॥ ११ ॥
श्वेत - सिंहासनासीनं कर्म - निर्मूलनोद्यतम्।
आत्मानं चिन्तयेत्तत्र पार्थिवी धारणेत्यसौ ॥ १२ ॥

हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं उसका नाम तिर्यक्-लोक अथवा मध्य-लोक है। मध्य-लोक एक रज्जु प्रमाण विस्तृत है। इस मध्य-लोक के बराबर लम्बे-चौड़े क्षीर-सागर का चिन्तन करना चाहिए। क्षीर-सागर में जम्बू-द्वीप के बराबर एक लाख योजन विस्तार वाले और एक हजार पंखुड़ियों वाले कमल का चिन्तन करना चाहिए। उस कमल के मध्य में केसराएँ हैं और उसके अन्दर देदीप्यमान पीली प्रभा से युक्त और मेरु पर्वत के बराबर एक लाख योजन ऊँची कर्णिका है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए। उस कर्णिका के ऊपर एक उज्ज्वल सिंहासन है। उस सिंहासन के ऊपर आसीन होकर कर्मों का समूल उन्मूलन करने में उद्यत अपने आपका चिन्तन करना चाहिए। चिन्तन की इस प्रक्रिया को 'पार्थिवी-धारणा' कहते हैं।

२. आग्नेयी-धारणा

विचिन्तयेत्तथा नाभौ कमलं षोडशच्छदम्।
कर्णिकायां महामन्त्रं प्रतिपत्रं स्वरावलिम् ॥ १३ ॥
रेफ-बिन्दु-कलाक्रान्तं महामन्त्रे यदक्षरम्।
तस्य रेफाद्विनिर्यान्तीं शनैर्धूमशिखां स्मरेत् ॥ १४ ॥

स्फुलिंग-सन्तति ध्यायेज्ज्वालामालामनन्तरम् ।
ततो ज्वाला-कलापेन दहेत्पद्मं हृदि स्थितम् ॥ १५ ॥

नाभि के भीतर सोलह पंखुड़ी वाले कमल का चिन्तन करना चाहिए। उस कमल की प्रत्येक कर्णिका पर महामंत्र 'अर्हं' स्थापित करना चाहिए और उसके प्रत्येक पत्ते पर अनुक्रम से 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः'—यह सोलह स्वर स्थापित करने चाहिए।

तदष्ट - कर्म - निर्माणमष्ट - पत्रमधो - मुखम् ।
दहत्येव महामंत्र - ध्यानोत्थः प्रबलानलः ॥ १६ ॥
ततो देहाद् बहिर्ध्यायेत्त्र्यस्रं वह्निपुरं ज्वलत् ।
लाञ्छितं स्वस्तिकेनान्ते वह्निबीजसमन्वितम् ॥ १७ ॥
देहं पद्मं च मंत्रार्चिरन्तर्वह्निपुरं बहिः ।
कृत्वाऽऽशु भस्मसाच्छाम्येत् स्यादाग्नेयीति धारणा ॥१८॥

ऐसा करने के पश्चात् हृदय में आठ पंखुड़ियों वाले कमल का चिन्तन करना चाहिए। उसकी प्रत्येक पंखुड़ी पर अनुक्रम से १. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, और ८ अन्तराय, यह आठ कर्म स्थापित करने चाहिए। यह कमल अधोमुख होना चाहिए।

इसके पश्चात् रेफ, बिन्दु और कला से युक्त, महामंत्र के 'हं' अक्षर के रेफ में से धीमी-धीमी निकलने वाली धूम की शिखा का चिन्तन करना चाहिए। फिर उसमें से अग्नि की चिनगारियों के निकलने का चिन्तन करना चाहिए और फिर निकलती हुई अनेक ज्वालाओं का चिन्तन करना चाहिए। इन ज्वालाओं से हृदय में स्थित पूर्वोक्त आठ दल वाले कमल को दग्ध करना चाहिए और सोचना चाहिए कि महामंत्र 'अर्हं' के ध्यान से उत्पन्न प्रवल अग्नि अवश्य ही कर्म से युक्त कमल को भस्म कर देती है।

तत्पश्चात् शरीर के बाहर तीन कोण वाले स्वस्तिक से युक्त और अग्निबीज 'रेफ' से युक्त जलते हुए वह्निपुर का चिन्तन करना चाहिए। तदनन्तर शरीर के अन्दर महामंत्र के ध्यान से उत्पन्न हुई शरीर की ज्वाला से तथा बाहर की वह्निपुर की ज्वाला से देह और आठ कर्मों से बने कमल को तत्काल भस्म करके अग्नि को शान्त कर देना चाहिए। इस तरह के चिन्तन को 'आग्नेयी-धारणा' कहते हैं।

३. वायवी-धारणा

ततस्त्रिभुवनाभोगं पूरयन्तं समीरणम्।
चालयन्तं गिरीनब्धीत् क्षोभयन्तं विचिन्तयेत् ॥ १९ ॥
तच्च भस्मरजस्तेन शीघ्रमुद्धूय वायुनां।
दृढाभ्यासः प्रक्षान्तिं तमानयेदिति मारुती ॥ २० ॥

आग्नेयी धारणा के पश्चात् समग्र तीन लोक को पूर देने वाले, पर्वतों को चलायमान करने वाले और समुद्र को क्षुब्ध करने वाले प्रचण्ड पवन का चिन्तन करना चाहिए।

पवन का चिन्तन करने के पश्चात् आग्नेयी धारणा में देह और आठ कर्मों को जलाने से जो राख बनी थी, उसे उड़ा देने का चिन्तन करना चाहिए, अर्थात् ऐसा विचार करना चाहिए कि प्रचण्ड पवन चल रहा है और देह तथा कर्मों की राख उड़कर बिखर रही है। इस प्रकार का दृढ़ अभ्यास करके उस पवन को शान्त कर देना चाहिए। चिन्तन एवं ध्यान की इस साधना को 'वायवी-धारणा' कहते हैं।

४. वारुणी-धारणा

स्मरेद्वर्षत्सुधासारैर्घनमालाकुलं नभः।
ततोऽर्धेन्दुसमाक्रान्तं मण्डलं वारुणांकितम् ॥ २१ ॥
नभस्तलं सुधाम्भोभिः प्लावयेत्तत्पुरं ततः।
तद्रजः कायसम्भूतं क्षालयेदिति वारुणी ॥ २२ ॥

वारुणी धारणा में अमृत-सी वर्षा बरसाने वाले और मेघ की मालाओं से व्याप्त आकाश का चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् अर्ध चन्द्राकार कला-बिन्दु से युक्त वरुण-बीज 'वँ' का चिन्तन करना चाहिए। फिर वरुण-बीज 'वँ' से उत्पन्न हुए अमृत के समान जल से आकाशतल भर गया है और पहले शरीर और कर्मों की जो भस्म उड़ा दी थी, वह इस जल से धुल कर साफ हो रही है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए। इसके बाद इस धारणा को समाप्त कर देना चाहिए। यह 'वारुणी-धारणा' हुई।

५. तत्त्वभू-धारणा

सप्तधातु-विनाभूतं पूर्णेन्दु-विशदद्युतिम्।
सर्वज्ञ-कल्पमात्मानं शुद्धबुद्धिः स्मरेत्ततः॥ २३॥

ततः सिंहासनारूढं सर्वातिशयभासुरम्।
विध्वस्ताशेषकर्माणं कल्याणमहिमान्वितम्॥ २४॥

स्वाङ्गगर्भे निराकारं[1] संस्मरेदिति तत्त्वभूः।
साभ्यास इति पिण्डस्थे योगी शिवसुखं भजेत्॥ २५॥

चार धारणाएँ करने के बाद शुद्ध बुद्धि वाले योगी को सात धातुओं—रस, रक्त आदि से रहित, पूर्ण चन्द्र के समान निर्मल एवं उज्ज्वल कान्ति वाले और सर्वज्ञ के सदृश शुद्ध-विशुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।

तदनन्तर सिंहासन पर आरूढ़, सर्व अतिशयों से सुशोभित, समस्त कर्मों का विध्वंस कर देने वाले, उत्तम महिमा से सम्पन्न, अपने शरीर में स्थित निराकार आत्मा का स्मरण-चिन्तन करना चाहिए।

यह तत्त्वभू नामक धारणा है। इस पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाला योगी मोक्ष के अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

---

१ नराकारं।

पिण्डस्थ-ध्यान का माहात्म्य

अश्रान्तमिति पिण्डस्थे कृताभ्यासस्य योगिनः ।
प्रभवन्ति न दुर्विद्या मन्त्र-मण्डल-शक्तयः ॥ २६ ॥

शाकिन्यः क्षुद्रयोगिन्यः पिशाचाः पिशिताशनाः ।
त्रस्यन्ति तत्क्षणादेव तस्य तेजोऽसहिष्णवः ॥ २७ ॥

दुष्टाः करटिनः सिंहाः शरभाः पन्नगा अपि ।
जिघांसवोऽपि तिष्ठन्ति स्तंभिता इव दूरतः ॥ २८ ॥

पिण्डस्थ ध्यान का निरन्तर अभ्यास करने वाले योगी का दुष्ट विद्याएँ—उच्चाटन, मारण, स्तंभन, विद्वेषण मंत्र, मंडल और शक्ति आदि कुछ भी विगाड़—नुकसान नहीं कर सकती हैं। शाकिनियाँ, क्षुद्र योगिनियाँ, पिशाच और मांस-भक्षी दुष्ट व्यक्ति उस योगी के तेज को सहन नहीं कर सकते। वे तुरन्त ही त्रास को प्राप्त होते हैं। दुष्ट हाथी, सिंह, शरभ और सर्प आदि हिंसक जन्तु घात करने की इच्छा रखते हुए भी दूर ही खड़े रहते हैं। मानो वे स्तंभित हो गये हों।

समस्त प्राणी जगत के लिए तीनों काल और त्रि-लोक में सम्यक्त्व के समान कोई श्रेय नहीं है और मिथ्यात्व के समान कोई अश्रेय नहीं है।

—आचार्य समन्तभद्र

कषायों के उपशान्त होने पर ही आत्मा में मोक्ष-मार्ग को जानने की अभिलाषा—भावना, इच्छा जागृत होती है।

—श्रीमद् रायचन्द्र

अकुशल—अप्रशस्त मनोवृत्तियों का निरोध करके कुशल—प्रशस्त, श्रेयस्कर और कल्याणकारी वृत्तियों का विकास करना ही समाधि-मार्ग है।

—तथागत बुद्ध

मोह और क्षोभ के अभाव को समभाव कहते हैं। और समभाव की साधना को जीवन में साकार रूप देना ही योग-साधना या मोक्ष-मार्ग है।

—मुनि समदर्शी

अष्टम प्रकाश

पदस्थ-ध्यान

यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते।
तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्त-पारगैः॥ १॥

पवित्र मंत्राक्षर आदि पदों का अवलंबन करके जो ध्यान किया जाता है, उसे सिद्धान्त के पारगामी पुरुष 'पदस्थ-ध्यान' कहते हैं।

तत्र षोडश-पत्राढ्ये नाभिकन्द-गतेऽम्बुजे।
स्वरमालां यथापत्रं भ्रमन्तीं परिचिन्तयेत्॥ २॥

चतुर्विंशतिपत्रञ्च हृदि पद्मं सकर्णिकम्।
वर्णान् यथाक्रमं तत्र चिन्तयेत् पञ्चविंशतिम्॥ ३॥

वक्त्राब्जेऽष्टदले वर्णाष्टकमन्यत्ततः स्मरेत्।
संस्मरन् मातृकामेवं स्यात् श्रुतज्ञानपारगः॥ ४॥

साधक को नाभिकन्द पर स्थित सोलह पंखुड़ियों वाले प्रथम कमल के प्रत्येक पत्र पर सोलह स्वरों 'अ, आ, इ, ई', आदि की भ्रमण करती हुई पंक्ति का चिन्तन करना चाहिए। और हृदय में स्थित चौबीस पंखुड़ियों वाले कर्णिका सहित कमल में अनुक्रम से 'क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म'—इन व्यंजनों का चिन्तन करना चाहिए। इनमें से चौबीस व्यंजनों को चौबीस पंखुड़ियों में और 'म' को कर्णिका में रखकर चिन्तन करना चाहिए।

तीसरे आठ पंखुड़ी वाले कमल की मुख में कल्पना करनी चाहिए। उसमें शेष आठ व्यंजनों—'य, र, ल, व, श, ष, स, ह'—का चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार इस मातृका का चिन्तन करने वाला योगी श्रुतज्ञान का पारगामी होता है।

मातृका-ध्यान का फल

ध्यायतोऽनादिसंसिद्धान् वर्णानेतान् यथाविधि।
नष्टादि-विषयं ज्ञानं ध्यातुरुत्पद्यते क्षणात्॥ ५॥

अनादिकाल से स्वतः सिद्ध इन वर्णों का विधिपूर्वक ध्यान करने वाले ध्याता को थोड़े ही समय में नष्ट होने वाले पदार्थों—'गया, आया, हुआ, हो रहा, होने वाला और जीवन एवं मरण' आदि, से सम्बन्धित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

प्रकारान्तर से पदस्थ ध्यान

अथवा नाभिकन्दाधः पद्ममष्टदलं स्मरेत्।
स्वरालिकेसरं रम्यं वर्गाष्टक-युतैर्दलैः॥ ६॥
दलसन्धिषु सर्वेषु सिद्धस्तुति-विराजिते।
दलाग्रेषु समग्रेषु मायाप्रणव-पावितम्॥ ७॥
तस्यान्तरन्तिमं वर्णमाद्य-वर्ण-पुरस्कृतम्।
रेफाक्रान्तं कलाबिन्दुरम्यं प्रालेयनिर्मलम्॥ ८॥
अर्हमित्यक्षरं प्राणप्रान्त-संस्पर्शि पावनम्।
ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं ततः परम्॥ ९॥
ग्रन्थीन् विदारयन्नाभिकन्द-हृद्घण्टिकादिकान्।
सुसूक्ष्मध्वनिना मध्यमार्गयायि स्मरेत्ततः॥ १०॥
अथ तस्यान्तरात्मानं प्लाव्यमानं विचिन्तयेत्।
बिन्दु - तप्तकलानिर्यत्क्षीर - गौरामृतोर्मिभिः॥ ११॥

ततः सुधा-सरः सूतषोडशाब्जदलोदरे ।
आत्मानं न्यस्य पत्रेषु विद्यादेवीश्च षोडश ॥ १२ ॥
स्फुट-स्फटिक-भृङ्गार-क्षरत्क्षीरसितामृतैः ।
आभिराप्लाव्यमानं स्वं चिरं चित्ते विचिन्तयेत् ॥ १३ ॥
अथास्य मन्त्रराजस्याभिधेयं परमेष्ठिनम् ।
अर्हन्तं मूर्धनि ध्यायेत् शुद्धस्फटिकनिर्मलम् ॥ १४ ॥
तद्ध्यानावेशतः सोऽहं सोऽहमित्यालपन् मुहुः ।
निःशङ्कमेकतां विद्यादात्मनः परमात्मना ॥ १५ ॥
ततो नीरागमद्वेषममोहं सर्वदर्शिनम् ।
सुरार्च्यं समवसृतौ कुर्वाणं धर्मदेशनाम् ॥ १६ ॥
ध्यायन्नात्मानमेवेत्थमभिन्नं परमात्मना ।
लभते परमात्म-तत्त्वं ध्यानी निर्धूतकल्मषः ॥ १७ ॥

पदस्थ ध्यान की दूसरी विधि इस प्रकार है—

नाभिकन्द के नीचे आठ पाँखुड़ी वाले एक कमल का चिन्तन करना चाहिए। उसकी अ, आ, आदि सोलह स्वरों से युक्त केसराओं की कल्पना करनी चाहिए।

कमल की आठ पंखुड़ियों में क्रमशः आठ वर्गों की स्थापना करनी चाहिए, जो इस प्रकार हैं :—

१. अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः।
२. क, ख, ग, घ, ङ ।
३. च, छ, ज, झ, ञ ।
४. ट, ठ, ड, ढ, ण ।
५. त, थ, द, ध, न ।
६. प, फ, ब, भ, म ।
७. य, र, ल, व ।
८. श, ष, स, ह ।

आठों पंखुड़ियों की सन्धियों में सिद्ध-स्तुति 'ह्रीं' को स्थापित करना चाहिए तथा पंखुड़ियों के अग्रभाग में 'ॐ ह्रीं' स्थापित करना चाहिए।

उस कमल में प्रथम वर्ण 'अ' और अन्तिम वर्ण 'ह' को वर्फ के समान उज्ज्वल रेफ, कला और विन्दु ' ˋ ˇ ' से युक्त, स्थापित करना चाहिए। अर्थात् 'अर्हं' की स्थापना करनी चाहिए। यह 'अर्हं' मन में स्मरण करने मात्र से आत्मा को पवित्र करने वाला है। अर्हं' शब्द का पहले मन में ह्रस्व नाद से उच्चारण करना चाहिए। फिर दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म और फिर अतिसूक्ष्म नाद से उच्चारण करना चाहिए। तत्पश्चात् वह नाद नाभि, हृदय, और कंठ की घंटिकादि की गांठों को विदारण करता हुआ उन सब के बीच में होकर आगे चला जा रहा है—ऐसा चिन्तन करना चाहिए।

तदनन्तर उस नाद के बिन्दु से तपी हुई कला में से निकलने वाले दूध के समान उज्ज्वल अमृत की तरंगों से अन्तरात्मा प्लावित—सराबोर हो रही है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए।

फिर अमृत के एक सरोवर की कल्पना करनी चाहिए। उस सरोवर से उत्पन्न हुए सोलह पांखुड़ी वाले कमल के अन्दर अपने आपको स्थापित करके, उन पंखुड़ियों में क्रम से सोलह विद्यादेवियों का चिन्तन करना चाहिए। फिर अपने आप को दीर्घकाल तक देदीप्यमान स्फटिक रत्न की झारी में से झरते हुए दूध के सदृश उज्ज्वल अमृत से सराबोर होते हुए चिन्तन करना चाहिए।

तत्पश्तात् इस मंत्रराज के अभिधेय—वाच्य और शुद्ध स्फटिक रत्न के समान निर्मल अर्हन्त परमेष्ठी का मस्तक में ध्यान करना चाहिए। यह ध्यान इतना प्रबल और प्रगाढ़ होना चाहिए कि इसके चिन्तन के कारण बार-बार 'सोऽहं, सोऽहं' अर्थात् इस प्रकार की अन्तर्ध्वनि करता हुआ ध्याता निःशंक भाव से आत्मा और परमात्मा की एक-

इसके पश्चात् वह वीतराग, वीतद्वेष, निर्मोह, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, देवों द्वारा पूज्य, समवसरण में स्थित होकर धर्मदेशना करते हुए तथा परमात्मा से अभिन्न आत्मा का ध्यान करता है। इस तरह का ध्यान करने वाला ध्याता समस्त कालुष्य से रहित होकर परमात्मत्व को प्राप्त कर लेता है।

यद्वा मन्त्राधिपं धीमानूर्ध्वाधोरेफ-संयुतम् ।
कलाविन्दु - समाक्रान्तमनाहतयुतं तथा ॥ १८ ॥
कनकाम्भोज-गर्भस्थं सान्द्रचन्द्रांशुनिर्मलम् ।
गगने संचरन्तं च व्याप्नुवन्तं दिशः स्मरेत् ॥ १९ ॥
ततो विशन्तं वक्त्राब्जे भ्रमन्तं भ्रू-लतान्तरे ।
स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु तिष्ठन्तं भालमण्डले ॥ २० ॥
निर्यान्तं तालुरन्ध्रेण स्रवन्तं च सुधारसम् ।
स्पर्धमानं शशांकेन स्फुरन्तं ज्योतिरन्तरे ॥ २१ ॥
सञ्चरन्तं नभोभागे योजयन्तं शिवश्रिया ।
सर्वावयव-सम्पूर्णं कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥ २२ ॥

प्रबुद्ध-योगी को ऊपर और नीचे 'रेफ' से युक्त, कला एवं विन्दु से आक्रान्त, अनाहत सहित, स्वर्ण-कमल के गर्भ में स्थित, चन्द्रमा की सघन किरणों के समान निर्मल, आकाश में संचरण करते हुए और समस्त दिशाओं को व्याप्त करते हुए मंत्रराज 'अर्हं' का चिन्तन करना चाहिए। तदनन्तर मुखकमल में प्रवेश करते हुए भ्रू-लता में भ्रमण करते हुए, नेत्र-पत्रों में स्फुरायमान होते हुए, भाल-मंडल में स्थित होते हुए, तालु के रंध्र से बाहर निकलते हुए, अमृत-रस को बरसाते हुए, उज्ज्वलता में चन्द्रमा के साथ स्पर्धा करते हुए, ज्योतिर्मण्डल में चमकते हुए, नभोभाग में संचार करते हुए और मोक्ष-लक्ष्मी के साथ मिलाप कराते हुए, सर्व अवयवों से परिपूर्ण मंत्राधिराज का कुंभक के द्वारा चिन्तन करना चाहिए।

ध्यान का फल

> महातत्त्वमिदं योगी यदैव ध्यायति स्थिरः ।
> तदैवानन्द-सम्पद् भूर्मुक्ति-श्रीरुपतिष्ठते ॥ २३ ॥

चित्त को निश्चल करके योगी जब इस महातत्त्व 'अर्हं' का ध्यान करता है, उसी समय आनन्द रूप संपत्ति की भूमि के समान मोक्ष-लक्ष्मी उसके समीप आकर खड़ी हो जाती है। इस ध्यान-साधना के द्वारा योगी समस्त कर्म-बन्धनों को क्षय करके निर्वाण-पद को प्राप्त कर लेता है।

ध्यान का अन्य प्रकार

> रेफ-बिन्दु-कलाहीनं शुभ्रं ध्यायेत्ततोऽक्षरम् ।
> ततोऽनक्षरतां प्राप्तमनुच्चार्यं विचिन्तयेत् ॥ २४ ॥

पहले रेफ, बिन्दु और कला से रहित उज्ज्वल 'ह' वर्ण का ध्यान करना चाहिए। फिर उसी 'ह' के ऐसे स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए, जो अनक्षरता को प्राप्त हो गया है और जिसका उच्चारण नहीं किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ध्यान-साधना में साधक को चिन्तन करते समय शब्दों का उच्चारण नहीं करना चाहिए।

> निशाकरकलाकारं सूक्ष्मं भास्करभास्वरम् ।
> अनाहताभिधं देवं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ॥ २५ ॥
>
> तदेव च क्रमात्सूक्ष्मं ध्यायेद्वालाग्र-सन्निभम् ।
> क्षणमव्यक्तमीक्षेत जगज्ज्योतिर्मयं ततः ॥ २६ ॥

पहले चन्द्रमा की कला के आकार वाले, सूक्ष्म एवं सूर्य के समान देदीप्यमान अनाहत देव को अनुच्चार्य मान और अनक्षर रूपता को प्राप्त 'ह' वर्ण को स्फुरायमान होते हुए चिन्तन करना चाहिए। फिर धीरे-धीरे उसी अनाहत 'ह' को बाल के अग्रभाग के समान सूक्ष्म रूप में चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् थोड़ी देर तक जगत् को अव्यक्त—निराकार और ज्योतिर्मय स्वरूप में देखना चाहिए।

प्रच्याव्य-मानसं-लक्ष्यादलक्ष्ये दधतः स्थिरम् ।
ज्योतिरक्षयमत्यक्षमन्तरुन्मीलति क्रमात् ॥ २७ ॥
इति लक्ष्यं समालम्ब्य लक्ष्याभावः प्रकाशितः ।
निषण्णमनस्तत्र सिध्यत्यभिमतं मुनेः ॥ २८ ॥

समग्र जगत् को अव्यक्त एवं ज्योतिर्मय देखने के पश्चात् मन को धीरे-धीरे लक्ष्य से हटाकर अलक्ष्य में स्थिर करने पर, अन्दर एक ऐसी ज्योति उत्पन्न होती है, जो अक्षय होती है और इन्द्रियों से अगोचर होती है।

इस प्रकार यहाँ पहले लक्ष्य का आलम्बन करके अनुक्रम से लक्ष्य का अभाव बताया गया है, अर्थात् लक्ष्य का अवलम्बन करके ध्यान को आरम्भ करना चाहिए और फिर धीरे-धीरे लक्ष्य का लोप कर देना चाहिए, यहाँ ऐसा विधान किया गया है। जिस मुनि या योगी का मन अलक्ष्य में स्थिर हो जाता है, उसे मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है।

प्रणव का ध्यान

तथा हृत्पद्ममध्यस्थं शब्दब्रह्मैककारणम् ।
स्वर-व्यञ्जन-संवीतं वाचकं परमेष्ठिनः ॥ २९ ॥
मूर्ध-संस्थित-शीतांशु-कलामृतरस-प्लुतम् ।
कुम्भकेन महामन्त्रं प्रणवं परिचिन्तयेत् ॥ ३० ॥

हृदय-कमल में स्थित शब्द-ब्रह्म—वचन-विलास की उत्पत्ति के अद्वितीय कारण, स्वर तथा व्यंजन से युक्त, पंच-परमेष्ठी के वाचक, मूर्धा में स्थित चन्द्रकला से झरने वाले अमृत के रस से सराबोर महामंत्र प्रणव —'ॐ' का — कुम्भक करके, ध्यान करना चाहिए।

प्रणव-ध्यान के भेद

पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये क्षोभणे विद्रुमप्रभम् ।
कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत् कर्मघाते शशिप्रभम् ॥ ३१ ॥

स्तंभन कार्य में पीत वर्ण के, वशीकरण में लाल वर्ण के, क्षोभण कार्य में मूंगे के वर्ण वाले, विद्वेषण कार्य में काले वर्ण के और कर्मों का नाश करने के लिए चन्द्रमा के समान उज्ज्वल श्वेत वर्ण के ओंकार का ध्यान करना चाहिए।

इस विधान से यह भी सूचित कर दिया गया है कि 'ओंकार' का ध्यान आश्चर्यजनक एवं लौकिक कार्यों के लिए भी उपयोगी होता है और कर्मक्षय में भी उपयोगी होता है।

पंच-परमेष्ठि-मंत्र का ध्यान

तथा पुण्यतमं मन्त्रं जगत्त्रितय-पावनम्।
योगी पञ्चपरमेष्ठि-नमस्कारं विचिन्तयेत्॥ ३२॥

योगी को पंचपरमेष्ठी नमस्कार मंत्र का विशेष रूप से ध्यान करना चाहिए। यह मंत्र अत्यंत पवित्र है और तीन जगत् को पवित्र करने वाला है।

अष्टपत्रे सिताम्भोजे कर्णिकायां कृतस्थितिम्।
आद्यं सप्ताक्षरं मन्त्रं पवित्रं चिन्तयेत्ततः॥ ३३॥

सिद्धादिक-चतुष्कं च दिक्पत्रेषु यथाक्रमम्।
चूलापाद-चतुष्कं च विदिक्पत्रेषु चिन्तयेत्॥ ३४॥

आठ पाँखुड़ी वाले सफेद कमल का चिन्तन करना चाहिए। उस कमल की कर्णिका में स्थित सात अक्षर वाले 'नमो अरिहंताणं' इस पवित्र मंत्र का चिन्तन करना चाहिए। फिर सिद्धादिक चार मंत्रों का दिशाओं के पत्रों में अनुक्रम से, अर्थात् पूर्व दिशा में 'नमो सिद्धाणं' का, दक्षिण दिशा में 'नमो आयरियाणं' का, पश्चिम दिशा में 'नमो उवज्झायाणं' का और उत्तर दिशा में 'नमो लोए सव्वसाहूणं' का चिन्तन करना चाहिए। विदिशा वाली चार पंखुड़ियों में अनुक्रम से चार चूलिकाओं

का, अर्थात् आग्नेय कोण में 'एसो पंचनमुक्कारो' का, नैऋत्य कोण में 'सव्वपावप्पणासणो' का, वायव्य कोण में 'मंगलाणं च सव्वेसिं' का और ईशान कोण में 'पढमं हवइ मंगलं' का ध्यान करना चाहिए।

परमेष्ठि-मंत्र के चिन्तन का फल

त्रिशुद्धया चिन्तयंस्तस्य शतमष्टोत्तरं मुनिः।
भुञ्जानोऽपि लभेतैव चतुर्थ-तपसः फलम् ॥ ३५ ॥

मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक एक-सौ आठ वार इस नमस्कार-महामंत्र का चिन्तन करने वाला मुनि आहार करता हुआ भी एक उपवास का फल प्राप्त करता है।

एवमेव महामन्त्रं समाराध्येह योगिनः।
त्रिलोक्याऽपि महीयन्तेऽधिगताः परमां श्रियम् ॥ ३६ ॥

इस महामन्त्र की सम्यक् प्रकार से आराधना करके योगी जन आत्म-लक्ष्मी को प्राप्त करके त्रि-जगत् के पूजनीय वन जाते हैं।

कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च।
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवंगताः ॥ ३७ ॥

हजारों पाप करके और सैकड़ों प्राणियों का हनन करके तिर्यञ्च भी इस मंत्र की आराधना करके स्वर्ग को प्राप्त करने में समर्थ हुए हैं।

पंचपरमेष्ठि-विद्या

गुरु-पंचकनामोत्था विद्या स्यात् षोडशाक्षरा।
जपन् शतद्वयं तस्याश्चतुर्थस्याप्नुयात्फलम् ॥ ३८ ॥

पंच-परमेष्ठी के नाम से उत्पन्न होने वाली सोलह अक्षर की विद्या इस प्रकार है—'अरिहंत-सिद्ध-आयरिय-उवज्झाय-साहू।' इस विद्या का दो सौ बार जाप करने से एक उपवास का फल मिलता है।

शतानि त्रीणि षट्वर्णं चत्वारि चतुरक्षरम् ।
पञ्चावर्णं जपन् योगी चतुर्थफलमश्नुते ॥ ३९ ॥

छह अक्षर वाली विद्या का तीन सौ वार, चार अक्षर वाली विद्या का चार सौ वार और 'अ' वर्ण का पाँच सौ वार जाप करने वाले योगी को एक उपवास का फल मिलता है ।[1]

प्रवृत्तिहेतुरेवैतदमीषां कथितं फलम् ।
फलं स्वर्गापवर्गौ तु वदन्ति परमार्थतः ॥ ४० ॥

इन विद्याओं के जाप का जो एक उपवास फल वतलाया है, वह इसलिए कि वाल जीव भी इसके जाप में प्रवृत्ति करें । इस जाप का असली फल तो ज्ञानियों ने स्वर्ग और मोक्ष ही बताया है ।

पञ्चवर्णमयी पञ्चतत्त्वा विद्योद्धृता श्रुतात् ।
अभ्यस्यमाना सततं भवक्लेशं निरस्यति ॥४१॥

विद्याप्रवाद नामक पूर्वश्रुत से उद्धृत की हुई, पाँच वर्ण वाली पंचतत्त्वा विद्या का अगर सतत अभ्यास किया जाए तो वह समस्त भव-क्लेश को दूर कर देती है । वह विद्या इस प्रकार है—'ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रौँ ह्रः असिआउसा नमः' ।

मङ्गलोत्तम - शरण - पदान्यव्यग्र - मानसः ।
चतुः समाश्रयाण्येव स्मरन् मोक्षं प्रपद्यते ॥ ४२ ॥

अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म के साथ मंगल, उत्तम और शरण पदों को जोड़कर एकाग्र चित्त से स्मरण करने वाला ध्याता मोक्ष को प्राप्त करता है ।

१. **मंगल**—चत्तारि मंगलं—अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं ।
साहू मंगलं, केवलि-पण्णत्तो-धम्मो मंगलं ॥

---

१. **छह अक्षर वाली विद्या—अरिहन्त-सिद्ध ।**
चार अक्षर वाली विद्या—अरिहन्त ।

२. उत्तम—चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा।
साहू लोगुत्तमा, केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो॥

३. शरण—चत्तारि सरणं पवज्जामि—अरिहंते सरणं पवज्जामि।
सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि।
केवलि - पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि॥

पंचदशाक्षरी विद्या

मुक्तिसौख्यप्रदां ध्यायेद्विद्यां पञ्चदशाक्षराम्।
सर्वज्ञाभं स्मरेन्मंत्रं सर्वज्ञान - प्रकाशकम्॥ ४३॥

मुक्ति का सुख प्रदान करने वाली पन्द्रह अक्षरों की विद्या का ध्यान करना चाहिए तथा सम्पूर्ण ज्ञान को प्रकाशित करने वाले 'सर्वज्ञाभ' मंत्र का स्मरण करना चाहिए। वह इस प्रकार हैं—

१. पंचदशाक्षरी विद्या—ओं अरिहन्त-सिद्ध-सयोगिकेवली स्वाहा।

२. सर्वज्ञाभ मंत्र—ओं श्रीँ ह्रीँ अर्हँ नमः।

सर्वज्ञाभ-मन्त्र की महिमा

वक्तुं न कश्चिदऽप्यस्य प्रभावं सर्वतः क्षमः।
समं भगवता साम्यं सर्वज्ञेन विभर्त्ति यः॥ ४४॥

यह सर्वज्ञाभ मन्त्र सर्वज्ञ भगवान् की सदृशता को धारण करता है, इसके प्रभाव को पूरी तरह प्रकट करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

सप्त-वर्ण मन्त्र

यदीच्छेद् भगवदावाग्नेः समुच्छेदं क्षणादपि।
स्मरेत्तदाऽऽदि-मन्त्रस्य वर्णसप्तकमादिमग्॥ ४५॥

जो संसार रूप दावानल को क्षण भर में शान्त करना चाहता है, उसे आदिमन्त्र के प्रारम्भ के सात अक्षरों का, अर्थात् 'नमो अरिहंताणं' का स्मरण करना चाहिए।

अन्य मन्त्र

पञ्चवर्णं स्मरेन्मन्त्रं कर्म-निर्घातकं तथा ।
वर्णमालाञ्चितं मन्त्रं ध्यायेत् सर्वाभयप्रदम् ॥ ४६ ॥

आठ कर्मों का नाश करने के लिए पंचवर्ण—पाँच अक्षर वाले मन्त्र का और सब प्रकार का अभय प्राप्त करने के लिए वर्णों की श्रेणी वाले मन्त्र का ध्यान करना चाहिए।

१. **पंचवर्ण मन्त्र**—नमो सिद्धाणं।

२. **वर्णमालाञ्चित मन्त्र**—ओं नमो अर्हते केवलिने परमयोगिने विस्फुदुरु-शुक्लध्यानाग्नि-निर्दग्धकर्म-वीजाय प्राप्तानन्त-चतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मंगल-वरदाय अष्टादश-दोषरहिताय स्वाहा।

ह्रींकार विद्या का ध्यान

ध्यायेत्सिताब्जं वक्त्रान्तरष्ट - वर्गी दलाष्टके ।
ओं नमों अरिहंताणमिति वर्णानपि क्रमात् ॥ ४७ ॥
केसरालीं स्वरमयीं सुधाबिन्दु - विभूषिताम् ।
कर्णिकां कर्णिकायां च चन्द्रबिम्बात्समापतत् ॥ ४८ ॥
संचरमाणं वक्त्रेण प्रभामण्डलमध्यगम् ।
सुधादीधितिसंकाशं मायाबीजं विचिन्तयेत् ॥ ४९ ॥

साधक को मुख के अन्दर आठ पंखुड़ियों वाले श्वेत कमल का चिन्तन करना चाहिए और उन पंखुड़ियों में आठ वर्ग—अ, क, च, ट, त, प, य, श,—स्थापित करने चाहिए तथा 'ओं नमो अरिहंताणं' इन आठ अक्षरों में से एक-एक अक्षर को एक-एक पंखुड़ी पर स्थापित करना चाहिए। उस कमल की केसरा के चारों तरफ के भागों में अ, आ आदि सोलह अक्षर स्थापित करने चाहिए और मध्य की कर्णिका को अमृत के बिन्दुओं से विभूषित करना चाहिए। तत्पश्चात् चन्द्रमंडल

से आते हुए, मुख से संचार करते हुए, प्रभामण्डल में स्थित और चन्द्रमा के सदृश कान्ति वाले मायाबीज 'ह्रीं' का उस कर्णिका में चिन्तन करना चाहिए।

ततो भ्रमन्तं पत्रेषु सञ्चरन्तं नभस्तले।
ध्वंसयन्तं मनोध्वान्तं स्रवन्तं च सुधारसम्॥ ५०॥
तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं लसन्तं भ्रू-लतान्तरे।
त्रैलोक्याचिन्त्यमाहात्म्यं ज्योतिर्मयमिवाद्भुतम्॥ ५१॥
इत्यमुं ध्यायतो मन्त्रं पुण्यमेकाग्र - चेतसः।
वाग्मनोमल - मुक्तस्य श्रुतज्ञानं प्रकाशते॥ ५२॥

तदनन्तर प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करते हुए, आकाशतल में विचरण करते हुए, मन की मलीनता को नष्ट करते हुए, अमृत रस को बहाते हुए, तालुरन्ध्र से जाते हुए, भ्रकुटि के मध्य में सुशोभित होते हुए, तीनों लोकों में अचिन्त्य माहात्म्य वाले, मानों अद्भुत ज्योति-स्वरूप, उस पवित्र मन्त्र का एकाग्र मन से ध्यान करने से मन और वचन की मलीनता नष्ट हो जाती है और श्रुतज्ञान का प्रकाश होता है।

मासैः षड्भिः कृताभ्यासः स्थिरीभूतमनास्ततः।
निःसरन्तीं मुखाम्भोजाच्छिखां धूमस्य पश्यति॥ ५३॥
संवत्सरं कृताभ्यासस्ततो ज्वालां विलोकते।
ततः संजात-संवेगः सर्वज्ञमुख-पङ्कजम्॥ ५४॥
स्फुरत्कल्याण-माहात्म्यं सम्पन्नातिशयं ततः।
भामण्डलगतं साक्षादिव सर्वज्ञमीक्षते॥ ५५॥
ततः स्थिरीकृतस्वान्तस्तत्र संजात निश्चयः।
मुक्त्वा संसारकान्तारमध्यास्ते सिद्धिमन्दिरम्॥ ५६॥

छह महीने तक निरन्तर अभ्यास करने से साधक का चित्त जब स्थिर हो जाता है, तो वह अपने मुख-कमल से निकलती हुई धूम की

शिखा को देखता है। एक वर्ष के अभ्यास के पश्चात् वह ज्वाला देखने लगता है। उसके बाद संवेग की वृद्धि होने पर सर्वज्ञ के मुख-कमल को देखने में समर्थ हो जाता है। इससे भी आगे चल कर कल्याणमय माहात्म्य से देदीप्यमान, सर्वातिशय से सम्पन्न और प्रभामण्डल में स्थित सर्वज्ञ को साक्षात् की तरह देखने लगता है। इतना सामर्थ्य प्राप्त होने पर साधक का चित्त एकदम स्थिर हो जाता है, उसे तत्त्व का निश्चय हो जाता है और वह संसार-अटवी को लांघकर सिद्धि के मन्दिर—मोक्ष में विराजमान हो जाता है, वह अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है।

क्ष्वीं विद्या का ध्यान

शशिबिम्बादिवोद्भूतां स्रवन्तीममृतं सदा।
विद्यांक्ष्वीँ इति भालस्थां ध्यायेत्कल्याणकारणम् ॥५७॥

मानो चन्द्रमा के बिम्ब से उत्पन्न हुई हो—ऐसी उज्ज्वल, निरन्तर अमृत बरसाने वाली और कल्याण का कारणभूत 'क्ष्वीँ' विद्या का ललाट में चिन्तन करना चाहिए।

शशि-कला का ध्यान

क्षीराम्भोधेर्विनिर्यान्तीं प्लावयन्तीं सुधाम्बुभिः।
भाले शशिकलां ध्यायेत् सिद्धिसोपान-पद्धतिम् ॥५८॥

क्षीर-सागर से निकलती हुई, सुधा के सदृश सलिल से अखिल लोक को प्लावित करती हुई और मुक्ति-महल के सोपानों की श्रेणी के समान चन्द्रकला का ललाट में ध्यान करना चाहिए।

शशि-कला के ध्यान का फल

अस्याः स्मरण-मात्रेण त्रुट्यद्भव-निबन्धनः।
प्रयाति परमानन्द-कारणं पदमव्ययम् ॥५९॥

चन्द्रमा की कला अर्थात् चन्द्र-कला के समान प्रकाश का स्मरण करने

मात्र से जन्म-मरण के कारणों का अन्त हो जाता है और स्मरणकर्त्ता उस अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है, जो परमानन्द का कारण है।

प्रणव, शून्य और अनाहत का ध्यान

नासाग्रे प्रणवः शून्यमनाहतमिति त्रयम्।
ध्यायन् गुणाष्टकं लब्ध्वा ज्ञानमाप्नोति निर्मलम् ॥६०॥

नासिका के अग्रभाग पर प्रणव—ओंकार, शून्य—०, और अनाहत—ह, इन तीन का अर्थात् 'ओं हं' का ध्यान करने वाला अणिमा, गरिमा आदि आठ सिद्धियाँ को प्राप्त करके निर्मल ज्ञान को प्राप्त करता है।

शंख-कुन्द-शशांकाभांस्त्रीनमून् ध्यायतः सदा।
समग्र - विषयज्ञान - प्रागल्भ्यं जायते नृणाम् ॥६१॥

शंख, कुन्द और चन्द्र के समान श्वेत वर्ण के प्रणव, शून्य और अनाहत का ध्यान करने वाले पुरुष समस्त विषयों के ज्ञान में प्रवीण हो जाते हैं।

सामान्य विद्या

द्वि-पार्श्व-प्रणव-द्वन्द्वं प्रान्तयोर्मायया वृतम्।
सोऽहं मध्ये विमूर्धानं अर्हंलींकारं विचिन्तयेत् ॥६२॥

जिनके दोनों ओर दो-दो ओंकार हैं, आदि और अन्त में ह्रींकार है, मध्य में सोऽहं है और उस सोऽहं के मध्य में अहं लीं है, अर्थात् जिसका रूप यों है—ह्रीं ओं ओं सः अर्हं लीं हं ओं ओं ह्रीं—इन अक्षरों का ध्यान करना चाहिए।

विद्या का ध्यान

कामधेनुमिवाचिन्त्य - फल - सम्पादन - क्षमाम्।
अनवद्यां जपेद्विद्यां गणभृद् वदनोद्गताम् ॥६३॥

कामधेनु के समान अचिन्त्य फल प्रदान करने में समर्थ, निर्दोष और

गणधरों के मुख से उद्गत विद्या का जाप करना चाहिए। वह विद्या इस प्रकार है—

"ओं जोग्गे मग्गे तच्चे भूए भविस्से अंते पक्खे जिणपार्श्वे स्वाहा।"

ओंकार का ध्यान

षट्कोणेऽप्रतिचक्रे फडिति प्रत्येकमक्षरम्।
सव्ये न्यसेद्विचक्राय स्वाहा बाह्येऽपसव्यतः ॥६४॥
भूतान्तं बिन्दुसंयुक्तं तन्मध्ये न्यस्य चिन्तयेत्।
नमो जिणाणमित्याद्यैरों - पूर्वैर्वेष्टयेद्बहिः ॥६५॥

एक षट्कोण यंत्र का चिन्तन करना चाहिए जिसके प्रत्येक खाने में 'अप्रतिचक्रे फट्'—इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर लिखा हो। उस यंत्र के बाहर उलटे क्रम से 'विचक्राय स्वाहा'—इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर कोनों के पास लिखा हो और बीच में बिन्दु युक्त ओंकार हो। तत्पश्चात् इन पदों से पिछले वलय की पूर्ति करनी चाहिए—

'ओं नमो जिणाणं, ओं नमो ओहि-जिणाणं, ओं नमो परमोहि-जिणाणं, ओं नमो सव्वोसहि-जिणाणं, ओं नमो अनन्तोहि-जिणाणं, ओं नमो कुट्ठ-बुद्धीणं, ओं नमो बीय-बुद्धीणं, ओं नमो पदानुसारीणं, ओं नमो संभिन्नसोआणं, ओं नमो उज्जुमदीणं, ओं नमो विउलमदीणं, ओं नमो दस-पुव्वीणं, ओं नमो चउदस-पुव्वीणं, ओं नमो अट्ठंग-महानिमित्त कुसलाणं, ओं नमो विउव्वण-इड्ढिपत्ताणं, ओं नमो विज्जाहरणं, ओं नमो चारणाणं, ओं नमो पण्णसमणाणं, ओं नमो आगास-गामीणं, ओं ज्सौं-ज्सौं श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी स्वाहा।'

फिर पंच-परमेष्ठी महामन्त्र के पाँच पदों का पाँच अँगुलियों में न्यास करना चाहिए, वह इस प्रकार है—

१. ओं नमो अरिहंताणं ह्रां स्वाहा (अंगूठे में)
२. ओं नमो सिद्धाणं ह्रीं स्वाहा (तर्जनी में)
३. ओं नमों आयरियाणं ह्रूं स्वाहा (मध्यमा में)
४. ओं नमो उवज्झायाणं ह्रैं स्वाहा (अनामिका में)
५. ओं नमो लोए सव्वसाहूणं ह्रौं स्वाहा (कनिष्ठा में)

इस प्रकार तीन वार अंगुलियों में विन्यास करके और मस्तक के ऊपर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के अन्तर भाग में स्थापित करके इस यन्त्र का चिन्तन करना चाहिए।

अष्टाक्षरी विद्या

अष्टपत्रेऽम्बुजे ध्यायेदात्मानं दीप्त-तेजसम्।
प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य वर्णान् पत्रेषु च क्रमात् ॥६६॥
पूर्वाशाभिमुखः पूर्वमधिकृत्यादि - मण्डलम्।
एकादश - शतान्यष्टाक्षरं मन्त्रं जपेत्ततः ॥६७॥
पूर्वाशानुक्रमादेव मुद्दिश्यान्य दलान्यपि।
अष्टरात्रं जपेद्योगी सर्वप्रत्यूह शान्तये ॥६८॥
अष्टरात्रे व्यतिक्रान्ते कमलस्यास्य वर्त्तिनः।
निरूपयति पत्रेषु वर्णानेतानानुक्रमम् ॥६९॥
भीषणाः सिंहमातङ्गरक्षः प्रभृतयः क्षणात्।
शाम्यन्ति व्यन्तराश्चान्ये ध्यान-प्रत्यूह-हेतवः ॥७०॥
मन्त्रः प्रणव - पूर्वोऽयं फलमैहिकमिच्छुभिः।
ध्येयः प्रणवहीनस्तु निर्वाणपद - कांक्षिभिः ॥७१॥

आठ पंखुड़ी वाले कमल में तेज से झिलमिलाती आत्मा का चिन्तन करना चाहिए और प्रवणादि मंत्र के अर्थात् 'ओं नमो अरिहंताणं' इस पूर्वोक्त मंत्र के आठों वर्णों को अनुक्रम से आठों पत्रों पर स्थापित करना चाहिए।

पत्रों—पंखुड़ियों की गणना पूर्व दिशा से आरंभ करनी चाहिए। इस क्रम से पूर्व दिशा की पंखुड़ी पर 'ओं' स्थापित करना चाहिए और फिर यथा-क्रम शेष दिशाओं में शेष सात वर्ण स्थापित करने चाहिए। इस अष्टाक्षरी मंत्र का कमल के पत्तों पर ग्यारह सौ बार जाप करना चाहिए।

पूर्व दिशा की प्रथम पंखुड़ी पर 'ओं' और शेष पंखुड़ियों पर अनुक्रम से शेष सात वर्ण स्थापित करके योगी को समस्त विघ्नों को शान्त करने के लिए आठ दिन तक इस मन्त्र का जाप करना चाहिए।

आठ दिन व्यतीत हो जाने पर इस कमल के पत्रों पर स्थापित किए हुए अष्टाक्षरी विद्या के आठों वर्ण अनुक्रम से दिखाई देने लगते हैं।

जब योगी इन वर्णों को देखने लगता है, तो उसमें ऐसा सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है कि ध्यान में विघ्न करने वाले भयानक सिंह, हाथी, राक्षस और भूत-पिशाच आदि तत्काल शान्त हो जाते हैं।

जो लोग इहलोक सम्बन्धी फल के अभिलाषी हैं, उन्हें 'नमो अरिहंताणं' यह मन्त्र ओंकार सहित चिन्तन करना चाहिए और जो निर्वाण-पद के इच्छुक हैं, उन्हें ओंकार रहित मंत्र का चिन्तन करना चाहिए।

अन्य मंत्र और विद्या

चिन्तयेदन्यमप्येनं मन्त्रं कर्मौघ - शान्तये।
स्मरेत्सत्वोपकाराय विद्यां तां पापभक्षिणीम् ॥७२॥

कर्मों के समूह को शान्त करने के लिए दूसरे मन्त्र का भी ध्यान करना चाहिए। वह यह है—

'श्रीमद् ऋषभादि-वर्धमानान्तेभ्यो नमः।'

प्राणियों के उपकार के लिए पाप-भक्षिणी विद्या का स्मरण करना चाहिए, जो इस प्रकार है—

'ओं अर्हन्मुखकमलवासिनि, पापात्मक्षयंकरि, श्रुतिज्ञानज्वालासहस्र, ज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन, दह दह, क्षां क्षीं क्षूं क्षीं क्षः क्षीरधवले, अमृतसम्भवे, वं वं हूं हूं स्वाहा।'

पाप-भक्षिणी विद्या का फल

प्रसीदति मनः सद्यः पाप-कालुष्यमुज्झति।
प्रभावातिशयादस्या ज्ञानदीपः प्रकाशते ॥७३॥

यह विद्या इतनी प्रभावोत्पादक है कि इसके स्मरण से तत्काल मन प्रसन्न हो जाता है, पाप की कलुषता दूर हो जाती है और ज्ञान का दीपक प्रकाशित हो उठता है।

सिद्धचक्र का स्मरण

ज्ञानवद्भिः समाम्नातं वज्रस्वाम्यादिभिः स्फुटम्।
विद्यावादात्समुद्धृत्य बीजभूतं शिवश्रियः ॥७४॥
जन्मदाव - हुताशस्य प्रशान्ति - नव-वारिदम्।
गुरूपदेशाद्विज्ञाय सिद्धचक्रं विचिन्तयेत् ॥७५॥

वज्रस्वामी आदि विशिष्ट ज्ञानी जनों ने विद्याप्रवाद नामक श्रुत से जिसका उद्धार किया है और जिसे स्पष्ट रूप से मोक्ष लक्ष्मी का बीज माना है, जो जन्म-मरण के दावानल को शान्त करने के लिए सजल मेघ के समान है, उस सिद्धचक्र को गुरु के उपदेश से जानकर चिन्तन करना चाहिए।

नाभिपद्मे स्थितं ध्यायेदकारं विश्वतोमुखम्।
सि-वर्णं मस्तकाम्भोजे आकारं वदनाम्बुजे ॥७६॥
उकारं हृदयाम्भोजे साकारं कण्ठ-पङ्कजे।
सर्वकल्याणकारीणि बीजान्यन्यान्यपि स्मरेत् ॥७७॥

'असिआउसा' इस मंत्र के 'अ' का नाभि-कमल में सर्वत्र ध्यान करना चाहिए, 'सि' वर्ण का मस्तक-कमल में, 'आ' वर्ण का मुख-कमल में, 'उ' वर्ण का हृदय-कमल में और 'सा' वर्ण का कंठ-कमल में ध्यान

चाहिए। इसी प्रकार अन्यान्य सर्वकल्याणकारी वीजों का भी स्मरण करना चाहिए।

श्रुतसिन्धु-समुद्भूतं अन्यदप्यक्षरं पदम्।
अशेषं ध्यायमानं स्यान्निर्वाणपद-सिद्धये ॥७८॥

श्रुत रूपी सागर से उत्पन्न हुए अन्य समस्त अक्षरों, पदों आदि का भी ध्यान करने से निर्वाणपद की प्राप्ति होती है।

वीतरागो भवेद्योगी यत्किञ्चिदपि चिन्तयत्।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्ये ग्रन्थ-विस्तराः ॥७९॥

जिस किसी भी वाक्य, पद या शब्द का चिन्तन करता हुआ योगी वीतरागता को प्राप्त करने में समर्थ होता है, वही उसका ध्यान माना गया है। अन्य उपाय तो ग्रन्थ का विस्तार मात्र है।

एवं च मन्त्र - विद्यानां वर्णेषु च पदेषु च।
विश्लेषः क्रमशः कुर्याल्लक्ष्मी भावोपपत्तये ॥८०॥

इस प्रकार मंत्र और विद्याओं का वर्णों और पदों में अनुक्रम से विश्लेषण करना चाहिए। इससे लक्ष्मीभाव की प्राप्ति होती है अथवा धीरे-धीरे लक्ष्यहीन—आलम्बन रहित ध्यान की प्राप्ति होती है।

आशीर्वाद

इति गणधर - धुर्याविष्कृतादुद्धृतानि,
प्रवचन-जलराशेस्तत्त्वरत्नान्यमूनि।
हृदयमुकुरमध्ये धीमतामुल्लसन्तु,
प्रचितभवशतोत्थक्लेशनिर्नाशहेतोः ॥८१॥

इस प्रकार प्रधान गणधर द्वारा प्रकट किए हुए प्रवचन रूपी समुद्र में से यह तत्त्व-रत्न उद्धृत किये गए हैं। ये तत्त्व-रत्न सैकड़ों भवों के संचित क्लेश—कर्म का विनाश करने के लिए बुद्धिमान् साधक—योगी के जीवन को ज्योतिर्मय बनाते हैं।

नवम प्रकाश

रूपस्थ ध्यान

मोक्षश्रीसम्मुखीनस्य विध्वस्ताखिलकर्मणः ।
चतुर्मुखस्य निःशेष-भुवनाभय-दायिनः ॥१॥

इंदुमण्डल - संकाशच्छत्र-त्रितय - शालिनः ।
लसद्भामण्डलाभोग - विडम्बित - विवस्वतः ॥२॥

दिव्य-दुन्दुभि-निर्घोषगीत-साम्राज्य-सम्पदः ।
रणद्द्विरेफ-झङ्कार - मुखराशोक - शोभिनः ॥३॥

सिंहासन-निषण्णस्य वीज्यमानस्य चामरैः ।
सुरासुर - शिरोरत्न - दीप्रपादन - खद्युतेः ॥४॥

दिव्य-पुष्पोत्कराकीर्णा-संकीर्ण- परिषद्भुवः ।
उत्कन्धरैर्मृगकुलैः पीयमान-कलध्वनेः ॥५॥

शान्तवैरेभ-सिंहादि - समुपासित - सन्निधेः ।
प्रभोः समवसरण - स्थितस्य परमेष्ठिनः ॥६॥

सर्वातिशय-युक्तस्य केवलज्ञान - भास्वतः ।
अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते ॥७॥

जो योगी—साधक मुक्ति लक्ष्मी के सम्मुख आ पहुँचे हैं, जिन्होंने समग्र—चारों घातिक कर्मों का समूलतः ध्वंस कर दिया है, देशना देते

समय देवरचित तीन प्रतिबिम्बों के कारण जो चार मुख वाले दिखाई देते हैं, जो तीन लोक के प्राणीमात्र को अभयदान देने वाले हैं तथा चन्द्रमण्डल के सदृश तीन उज्ज्वल छत्रों से सुशोभित हैं, सूर्यमंडल की प्रभा का तिरस्कार करने वाला भामंडल जिनके पीछे जगमगा रहा है, दिव्य दुंदुभि के निर्घोष से जिनकी आध्यात्मिक सम्पदा का गान किया जा रहा है, जो गुंजार करते हुए भ्रमरों की झंकार से शब्दायमान अशोक वृक्ष से सुशोभित है, सिंहासन पर आसीन हैं, जिनके दोनों ओर चामर ढुलाये जा रहे हैं, वन्दन करते हुए सुरों और असुरों के मस्तक के रत्नों की कान्ति से जिनके चरणों के नख चमक रहे हैं, देवकृत दिव्य पुष्पों के समूह के कारण जिनके समवसरण की विशाल भूमि भी संकीर्ण हो गई है, गर्दन ऊपर उठाकर मृगादि पशुओं के झुण्ड जिनकी मनोहर ध्वनि का पान कर रहे हैं, जिनका जन्म-जात वैर शान्त हो गया है— ऐसे सिंह और हाथी आदि विरोधी जीव जिनकी उपासना कर रहे हैं, जो समस्त अतिशयों से सम्पन्न हैं, केवल-ज्ञान के प्रकाश से युक्त हैं, परम पद को प्राप्त हैं और समवसरण में स्थित हैं, ऐसे अरिहन्त भगवान् के स्वरूप का अवलम्बन करके किया जाने वाला ध्यान 'रूपस्थ-ध्यान' कहलाता है।

रूपस्थ ध्यान का दूसरा भेद

राग - द्वेष - महामोह - विकारैरकलङ्कितम् ।
शान्तं कान्तं मनोहारि सर्वलक्षण-लक्षितम् ॥८॥

तीर्थिकैरपरिज्ञात - योगमुद्रा - मनोरमम् ।
अक्ष्णोरमन्दमानन्द-निःस्यन्दं[1] दददद्भुतम् ॥९॥

जिनेन्द्र - प्रतिमारूप मपिनिर्मल - मानसः ।
निर्निमेषदृशा ध्यायन् रूपस्थ-ध्यानवान् भवेत् ॥१०॥

---

१. निस्पन्दं ।

राग, द्वेष, मोह आदि विकारों से रहित, शान्त, कान्त, मनोहर आदि समस्त प्रशस्त लक्षणों से युक्त, इतर मतावलम्बियों द्वारा अज्ञात योगमुद्रा को धारण करने के कारण मनोरम, तथा नेत्रों से अमन्द आनन्द का अद्भुत प्रवाह बहाने वाले जिनेन्द्र देव के दिव्य-भव्य रूप का निर्मल चित्त से ध्यान करने वाला योगी भी रूपस्थ-ध्यान करने वाला कहलाता है।

रूपस्थ ध्यान का फल

योगी चाभ्यास-योगेन तन्मयत्वमुपागतः।
सर्वज्ञीभूतमात्मानमवलोकयति स्फुटम् ॥११॥

रूपस्थ-ध्यान के अभ्यास करने से तन्मयता को प्राप्त योगी अपने आपको स्पष्ट रूप से सर्वज्ञ के रूप में देखने लगता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब तक साधक का मन वीतराग-भाव में रमण करता है, तब तक वह वीतराग-भाव की ही अनुभूति करता है।

सर्वज्ञो भगवान् योऽयमहमेवास्मि स ध्रुवं।
एवं तन्मयतां यातः सर्ववेदीति मन्यते ॥१२॥

जो सर्वज्ञ भगवान् है, निस्सन्देह वह मैं ही हूँ, जिस योगी को इस प्रकार की तन्मयता के साथ एकरूपता प्राप्त हो जाती है, वह योगी सर्वज्ञ माना जाता है।

जैसा आलम्बन, वैसा फल

वीतरागो विमुच्येत वीतरागं विचिन्तयन्।
रागिणं तु समालम्ब्य रागी स्यात् क्षोभणादिकृत् ॥१३।

वीतराग का ध्यान करता हुआ योगी स्वयं वीतराग होकर कर्मों से या वासनाओं से मुक्त हो जाता है। इसके विपरीत, रागी का ध्यान करने वाला स्वयं रागवान् बन कर काम, क्रोध, हर्ष, विषाद आदि विक्षेपों का जनक बन जाता है। अभिप्राय यह है कि जैसा ध्यान का आलम्बन होता है, ध्याता वैसा ही बन जाता है।

येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ।।१४।।

स्फटिक मणि के सामने जिस रंग की वस्तु रख दी जाती है, मणि उसी रंग की दिखाई देने लगती है। आत्मा भी स्फटिक मणि के समान उज्ज्वल है। अतः वह जब जिस-जिस भाव से युक्त होती है, तब उसी रूप में परिणत हो जाती है। जिस समय वह विषय-विकारों का चिन्तन करती है, उस समय विषयी या विकारी बन जाती है और जब वीतराग भाव में रमण करने लगती है, तब वीतरागता का अनुभव करने लगती है।

नासद्ध्यानानि सेव्यानि कौतुकेनाऽपि किन्त्विह ।
स्वनाशायैव जायन्ते सेव्यमानानि तानि यत् ।।१५।।

अतः कुतूहल से प्रेरित होकर भी असद्—अप्रशस्त ध्यानों का सेवन करना उचित नहीं है। क्योंकि उनका सेवन करने से आत्मा का विनाश ही होता है।

सिध्यन्ति सिद्धयः सर्वाः स्वयं मोक्षावलम्बिनाम् ।
संदिग्धा सिद्धिरन्येषां स्वार्थभ्रंशस्तु निश्चितः ।।१६।।

मुक्ति के उद्देश्य से साधना करने वालों को अणिमा, गरिमा आदि सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो ही जाती हैं। किन्तु, जो लोग उन्हें प्राप्त करने के लिए ही साधना करते हैं, उन्हें कभी वे प्राप्त हो जाती हैं और कभी नहीं भी होती हैं। हाँ, उनका आत्महित अवश्य नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि साधक का उद्देश्य—मुक्तिलाभ होना चाहिए, लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करना नहीं।

दशम प्रकाश

रूपातीत-ध्यान

अमूर्त्तस्य चिदानन्दरूपस्य परमात्मनः ।
निरञ्जनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद्रूपवर्जितम् ।।१।।

निराकार, चैतन्य-स्वरूप, निरंजन सिद्ध परमात्मा का ध्यान 'रूपातीत-ध्यान' कहलाता है ।

इत्यजस्रं स्मरन् योगी तत्स्वरूपावलम्बनः ।
तन्मयत्वमवाप्नोति ग्राह्य-ग्राहक-वर्जितम् ।।२।।

निरंजन-निराकार सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने वाला योगी ग्राह्य-ग्राहक भाव, अर्थात् ध्येय और ध्याता के विकल्प से रहित होकर तन्मयता—सिद्ध-स्वरूपता को प्राप्त कर लेता है ।

अनन्य-शरणीभूय स तस्मिन् लीयते तथा ।
ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत् ।।३।।

योगी जब ग्राह्य-ग्राहक भाव के भेद से ऊपर उठकर तन्मयता प्राप्त कर लेता है, तब कोई भी आलम्बन न रहने के कारण वह सिद्धात्मा में इस प्रकार लीन हो जाता है जैसे कि ध्याता और ध्यान गायब हो जाते हैं और ध्येय—सिद्धस्वरूप के साथ उसकी एकरूपता हो जाती है ।

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं मतम् ।
आत्मा यदपृथक्त्वेन लीयते परमात्मनि ।।४।।

आत्मा अभिन्न होकर परमात्मस्वरूप में लीन हो जाती है। ध्याता और ध्येय की इस प्रकार की एकरूपता को ही समरसी भाव कहते है।

टिप्पण— अभिप्राय यह है कि ध्याता जब तन्मयता के साथ सिद्ध स्वरूप का चिन्तन करता है और वह चिन्तन जब परिपक्व बन जाता है तब ध्याता, ध्येय और ध्यान का विकल्प नष्ट हो जाता है और इन तीनों में अखंड एकरूपता की अनुभूति होने लगती है। यह स्थिति समरसी भाव कहलाती है।

ध्यान का क्रम

अलक्ष्यं लक्ष्य सम्बन्धात् स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत्।
सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा ॥५॥

पहले पिंडस्थ, पदस्थ आदि लक्ष्य वाले ध्यानों का अभ्यास करके फिर लक्ष्यहीन-निरालंबन ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। पहले स्थूल ध्येयों का चिन्तन और फिर क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ध्येयों का चिन्तन करना चाहिए। पहले सालंबन ध्यान का अभ्यास करके फिर निरालम्बन ध्यान में प्रवृत्त होना चाहिए। इस क्रम का अवलंबन करने वाला तत्त्ववेत्ता तत्त्व को प्राप्त करलेता है।

एवं चतुर्विध-ध्यानामृत-मग्नं मुनेर्मनः।
साक्षात्कृतजगतत्त्वं विधत्ते शुद्धिमात्मनः ॥६॥

इस प्रकार पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—इन चार प्रकार के ध्यान रूपी अमृत में मग्न मुनि का मन जगत् के तत्त्वों का साक्षात्कार करके आत्म-विशुद्धि को प्राप्त करता है। इन ध्यानों में संलग्न योगी अपनी आत्मा को पूर्णतः शुद्ध बना लेता है।

प्रकारान्तर से धर्म-ध्यान के भेद

आज्ञापायविपाकानां संस्थानस्य च चिन्तनात्।
इत्थं वा ध्येय-भेदेन धर्म-ध्यानं चतुर्विधम् ॥७॥

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान का चिन्तन करने से, ध्येय के भेद के कारण, धर्म-ध्यान के चार भेद हैं।

१. आज्ञा-ध्यान

आज्ञां यत्र पुरस्कृत्य सर्वज्ञानामबाधिताम् ।
तत्त्वतश्चिन्तयेदर्थांस्तदाज्ञा-ध्यानमुच्यते ।। ८ ।।

किसी भी तर्क से बाधित न होने वाली एवं पूर्वापर विरोध से रहित सर्वज्ञों की आज्ञा को सन्मुख रखकर तात्त्विक रूप से अर्थों का चिन्तन करना 'आज्ञा-ध्यान' है।

सर्वज्ञ-वचनं सूक्ष्मं हन्यते यन्न हेतुभिः ।
तदाज्ञारूपमादेयं न मृषा-भाषिणो जिनाः ।। ९ ।।

सर्वज्ञ के वचन ऐसे सूक्ष्मतास्पर्शी होते हैं कि वे युक्तियों से बाधित नहीं हो सकते। अतः उन्हें आज्ञा के रूप में अंगीकार करना चाहिए, क्योंकि सर्वज्ञ कभी भी असत्य भाषा का प्रयोग नहीं करते।

टिप्पण—कहने का अभिप्राय यह है कि मृषा-भाषण के मुख्य दो कारण होते हैं—१. अज्ञान, और २. कषाय। जो मनुष्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझता, वह अपनी विपरीत समझ के कारण मिथ्या भाषण करता है और कुछ मनुष्य जो सही वस्तुस्थिति को जानते-बूझते हुए भी क्रोध, मान—अभिमान, माया—छल-कपट या लोभ से प्रेरित होकर मिथ्या बोलते हैं। सर्वज्ञ पुरुष में इन दोनों कारणों में से एक भी कारण नहीं रहता। वीतरागता प्राप्त होने के पश्चात् ही सर्वज्ञता प्राप्त होती है। अतः वीतराग होने से जो निष्कषाय हो गए हैं और सर्वज्ञ होने के कारण जो अज्ञान से मुक्त हो गए हैं, उनके वचन में असत्यता एवं मिथ्यात्व की संभावना नहीं की जा सकती।

ऐसा मानकर जो ध्याता सर्वज्ञोक्त द्रव्य, गुण, पर्याय आदि का चिन्तन करता है, वह आज्ञा-विचय का ध्याता कहलाता है।

२. अपाय-विचय ध्यान

रागद्वेष-कषायाद्यैर्जायमानान् विचिन्तयेत् ।
यत्रापायांस्तदपाय - विचय - ध्यानमिष्यते ॥ १० ॥

जिस ध्यान में राग, द्वेप, क्रोध आदि कपायों तथा प्रमाद आदि विकारों से उत्पन्न होने वाले कष्टों का तथा दुर्गति का चिन्तन किया जाता है, वह 'अपाय-विचय' ध्यान कहलाता है ।

ऐहिकामुष्मिकापाय-परिहार-परायणः ।
ततः प्रतिनिवर्तेत समान्तात्पापकर्मणः ॥ ११ ॥

यहाँ अपाय-विचय ध्यान के तात्कालिक फल का निर्देश किया गया है । अपाय-विचय ध्यान करने वाला इहलोक एवं परलोक संवंधी अपायों का परिहार करने के लिए उद्यत हो जाता है और इसके फलस्वरूप पाप-कर्मों से पूरी तरह निवृत्त हो जाता है, क्योंकि पाप-कर्मों का त्याग किए बिना अपाय से बचा नहीं जा सकता ।

३. विपाक-विचय ध्यान

प्रतिक्षण-समुद्भूतो यत्र कर्म-फलोदयः ।
चिन्त्यते चित्ररूपः स विपाक-विचयोदयः ॥ १२ ॥

जिस ध्यान में क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के कर्मफल के उदय का चिन्तन किया जाता है, वह 'विपाक-विचय' धर्म-ध्यान कहलाता है ।

या सम्पदार्ऽर्हतो या च विपदा नारकात्मनः ।
एकातपत्रता तत्र पुण्यापुण्यस्य कर्मणः ॥ १३ ॥

कर्म-विपाक का चिन्तन किस प्रकार करना चाहिए, उसका यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है ।

अरिहन्त भगवान् को अष्ट प्रतिहार्य आदि जो श्रेष्ठतम सम्पति प्राप्त

होती है और नारकीय जीवों को जो घोरतम विपत्ति प्राप्त होती है, वह पुण्य और पाप-कर्म की ही प्रभुता का फल है।

४. संस्थान-विचय ध्यान

अनाद्यनन्तस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मनः।
आकृतिं चिन्तयेद्यत्र संस्थान-विचयः स तु॥ १४॥

अनादि-अनन्त, किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—परिणामी नित्य स्वरूप वाले लोक की आकृति का जिस ध्यान में विचार किया जाता है, वह 'संस्थान-विचय' धर्म-ध्यान कहलाता है।

टिप्पण—दुनिया में कभी भी किसी सत् पदार्थ का विनाश नहीं होता और न असत् की उत्पत्ति ही होती है। प्रत्येक वस्तु अपने मूल रूप में—द्रव्य रूप में अनादि-अनन्त है। परन्तु, जब वस्तु के पर्यायों की ओर देखते हैं, तो उनमें प्रतिक्षण परिणमन होता हुआ दिखाई देता है। अतः प्रत्येक वस्तु अनादि-अनन्त होने पर भी उत्पाद-व्यय से युक्त है। लोक की भी यही स्थिति है। ऐसे लोक के पुरुषाकार संस्थान का तथा लोक में स्थित द्रव्यों का चिन्तन करना 'संस्थान-विचय' ध्यान है।

संस्थान-विचय ध्यान का फल

नानाद्रव्य - गतानन्त - पर्याय - परिवर्तनात्।
सदासक्तं मनो नैव रागाद्याकुलतां व्रजेत्॥ १५॥

संस्थान-विचय ध्यान से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न का समाधान यह किया गया है कि लोक में अनेक द्रव्य हैं और एक-एक द्रव्य के अनन्त-अनन्त पर्याय हैं। उनका विचार करने से, उनमें निरन्तर आसक्त बना हुआ मन राग-द्वेषजनित आकुलता से बच जाता है।

टिप्पण—इसका तात्पर्य यह है कि लोकगत द्रव्य किसी न किसी पर्याय के रूप में ही हमारे समक्ष आते हैं और पर्याय अनित्य हैं। पर्यायों का विचार करने में उनकी अनित्यता का विचार मुख्य रूप से

उत्पन्न होता है और उस विचार से वैराग्य की वृद्धि होती है। ज्यों-ज्यों वैराग्य की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों रागादिजन्य आकुलता कम होती जाती है और चित्त में शान्ति की अनुभूति होती है। अस्तु, इस ध्यान का सर्वोत्कृष्ट फल यही है कि इससे आत्मा को अनन्त और अव्याबाध सुख-शान्ति प्राप्त होती है।

धर्म-ध्याने भवेद् भावः क्षायोपशमिकादिकः।
लेश्या क्रमविशुद्धाः स्युः पीतपद्मसिताः पुनः ॥ १६ ॥

धर्म-ध्यान में क्षायोपशमिक आदि भाव होते हैं और ध्याता ज्यों-ज्यों उसमें अग्रसर होता है, त्यों-त्यों उसकी पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ विशुद्ध होती हैं।

धर्म-ध्यान का फल

अस्मिन्नितान्त-वैराग्य-व्यतिषंगतरङ्गिते।
जायते देहिनां सौख्यं स्वसंवेद्यमतीन्द्रियम् ॥ १७ ॥

वैराग्य-रस के संयोग से तरंगित चार प्रकार के धर्म-ध्यान में योगी जनों को ऐसे सुख की प्राप्ति होती है कि जिसे वे स्वयं ही अनुभव कर सकते हैं और वह इन्द्रियगम्य नहीं है। अर्थात् धर्मध्यान केवल आत्म-अनुभूतिगम्य और इन्द्रियों द्वारा अगम्य आनन्द का कारण है।

धर्म-ध्यान का पारलौकिक फल

त्यक्तसंगास्तनुं त्यक्त्वा धर्म-ध्यानेन योगिनः।
ग्रैवेयकादि-स्वर्गेषु भवन्ति त्रिदशोत्तमाः ॥ १८ ॥

महामहिमसौभाग्यं शरच्चन्द्रनिभप्रभम्।
प्राप्नुवन्ति वपुस्तत्र स्रग्भूषाम्बर-भूषितम् ॥ १९ ॥

विशिष्टवीर्य-बोधाढ्यं कामार्तिज्वरवर्जितम्।
निरन्तरायं सेवन्ते सुखं चानुपमं चिरम् ॥ २० ॥

इच्छा-सम्पन्न-सर्वार्थ-मनोहारि सुखामृतम् ।
निर्विघ्नमुपभुञ्जाना गतं जन्म न जानते ॥ २१ ॥
दिव्यभोगावसाने च च्युत्वा त्रिदिवतस्ततः ।
उत्तमेन शरीरेणावतरन्ति महीतले ॥ २२ ॥
दिव्यवंशे समुत्पन्ना नित्योत्सव-मनोरमान् ।
भुञ्जते विविधान् भोगानखण्डितमनोरथाः ॥ २३ ॥
ततो विवेकमाश्रित्य विरज्याशेषभोगतः ।
ध्यानेन ध्वस्तकर्माणः प्रयान्ति पदमव्ययम् ॥ २४ ॥

परपदार्थों के संयोग को त्याग देने वाले योगी धर्म-ध्यान के साथ शरीर का त्याग करके ग्रैवेयक या अनुत्तर विमान आदि में उत्तम देव के रूप में उत्पन्न होते हैं ।

वहाँ उनको शरद ऋतु के निर्मल चन्द्रमा के समान कान्ति से युक्त दिव्य-भव्य शरीर प्राप्त होता है और वह दिव्य पुष्पमालाओं, आभूषणों एवं वस्त्रों से विभूषित होता है ।

ऐसे शरीर वाले वे देव विशिष्ट वीर्य और बोध से युक्त, काम-जनित पीड़ा रूपी ज्वर से रहित, विघ्न-बाधाहीन, अनुपम सुख का चिरकाल तक सेवन करते हैं ।

उन्हें इच्छा होते ही सब पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं । अतः मन को आनन्द देने वाले सुखामृत का निर्विघ्न उपभोग करते-करते उन्हें बीता हुए समय का भी मालूम नहीं पड़ता । अर्थात् वे देव सुख में इतने तन्मय रहते हैं कि उन्हें इस बात का पता भी नहीं लगता कि उनकी कितनी आयु व्यतीत हो गई है ।

देवायु पूर्ण होने पर दिव्य भोगों का अन्त आ जाता है । तब वे देव वहाँ से च्युत होकर भूतल पर अवतरित होते हैं और यहाँ भी उन्हें उत्तम शरीर प्राप्त होता है ।

वे यहाँ अत्युत्तम वंश में जन्म लेते हैं और उनका कोई मनोरथ कभी खण्डित नहीं होता। वे नित्य उत्सव के कारण मनोरम भोगों का उपभोग करते हैं।

तत्पश्चात् विवेक का आश्रय लेकर, समस्त सांसारिक भोगों से विरक्त होकर और ध्यान के द्वारा समस्त कर्मों का ध्वंस करके अव्यय पद अथवा निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं।

टिप्पण—धर्म-ध्यान का पारिलौकिक फल देवलोक का प्राप्त होना जो बतलाया गया है, वह ऐसे योगियों की अपेक्षा से ही बतलाया गया है जिन्होंने ध्यान की पराकाष्ठा प्राप्त नहीं की और इस कारण जो अपने पुण्य-कर्मों का क्षय नहीं कर पाए हैं। ध्यान की पराकाष्ठा पर पहुँचने वाले योगी उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

एकादश प्रकाश

शुक्ल ध्यान

स्वर्गापवर्ग-हेतुर्धर्म-ध्यानमिति कीर्तितं यावत् ।
अपवर्गैकनिदानं शुक्लमनः कीर्त्यते ध्यानम् ॥ १ ॥

स्वर्ग और मोक्ष—दोनों के कारणभूत धर्म-ध्यान का वर्णन किया जा चुका है। अब मोक्ष के अद्वितीय कारण—शुक्ल-ध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

शुक्ल-ध्यान का अधिकारी

इदमादि-संहनना एवालं पूर्ववेदिनः कर्तुम् ।
स्थिरतां न याति चित्तं कथमपि यत्स्वल्प-सत्त्वानाम् ॥ २ ॥

वज्रऋषभनाराच संहनन वाले और पूर्वश्रुत के धारक मुनि ही शुक्ल-ध्यान करने में समर्थ होते हैं। अल्प सामर्थ्य वाले मनुष्यों के चित्त में किसी भी तरह शुक्ल-ध्यान के योग्य स्थिरता नहीं आ सकती।

धत्ते न खलु स्वास्थ्यं व्याकुलितं तनुमतां मनोविषयैः ।
शुक्ल - ध्याने तस्मान्नास्त्यधिकारोऽल्प - साराणाम् ॥ ३ ॥

इन्द्रिय-जन्य विषयों के सेवन से व्याकुल बना हुआ मनुष्यों का मन स्वस्थ, शान्त एवं स्थिर नहीं हो पाता। यही कारण है कि अल्प सत्व वाले प्राणियों को शुक्ल-ध्यान करने का अधिकार नहीं है।

अनवच्छित्याम्नायः समागतोऽस्येति कीर्त्यतेऽस्माभिः ।
दुष्करमप्याधुनिकैः शुक्ल-ध्यानं यथाशास्त्रम् ॥ ४ ॥

वर्तमान काल—युग के मनुष्य न वज्रऋषभनाराच संहनन वाले हैं, न पूर्वधर ही हो सकते हैं, अतः वे शुक्ल-ध्यान के अधिकारी भी नहीं हैं। ऐसी स्थिति में शुक्ल-ध्यान का वर्णन करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का यहाँ यह समाधान दिया गया है कि आजकल के मनुष्यों के लिये शास्त्रानुसार शुक्ल-ध्यान करना दुष्कर है, फिर भी शुक्ल-ध्यान के सम्बन्ध में अनवच्छिन्न आम्नाय—परम्परा चली आ रही है, इस कारण हम यहाँ उसके स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं।

शुक्ल-ध्यान के भेद

ज्ञेयं नानात्वश्रुतविचारमैक्य-श्रुताविचारं च ।
सूक्ष्म-क्रियमुत्सन्न-क्रियमिति भेदैश्चतुर्धा तत् ॥ ५ ॥

शुक्ल-ध्यान चार प्रकार का है—१. पृथकत्व-श्रुत सविचार, २. एकत्व-श्रुत अविचार, ३. सूक्ष्म-क्रिया और, ४. उत्सन्न-क्रिया-अप्रतिपाति।

१. पृथकत्व श्रुत सविचार

एकत्र पर्यायाणां विविधनयानुसरणं श्रुताद् द्रव्ये ।
अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरेषु संक्रमण-युक्तमाद्यं तत् ॥ ६ ॥

परमाणु आदि किसी एक द्रव्य में—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि पर्यायों का, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक आदि नयों के अनुसार, पूर्वगत श्रुत के आधार से चिन्तन करना 'पृथक्त्व-श्रुत सविचार' ध्यान कहलाता है। इस ध्यान में अर्थ—द्रव्य, व्यंजन—शब्द और योग का संक्रमण होता रहता है। ध्याता कभी अर्थ का चिन्तन करते-करते शब्द का और शब्द का चिन्तन करते-करते अर्थ का चिन्तन करने लगता है। इसी प्रकार मनोयोग से काय-योग में या वचन-योग में, काय-योग से

मनोयोग में या वचन-योग में और वचन-योग से मनोयोग या काय-योग में संक्रमण करता रहता है।

अर्थ, व्यंजन और योग का संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही होता है, अतः उस अंश में मन की स्थिरता बनी रहती है। इस अपेक्षा से इसे ध्यान कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

२. एकत्व-श्रुत अविचार

एवं श्रुतानुसारादेकत्व-वितर्कमेक-पर्याये।
अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरेष्वसंक्रमणमन्यत्तु ॥ ७ ॥

श्रुत के अनुसार, अर्थ, व्यंजन और योग के संक्रमण से रहित, एक पर्याय-विषयक ध्यान 'एकत्व-श्रुत अविचार' ध्यान कहलाता है।

टिप्पण—पहला और दूसरा शुक्ल-ध्यान सामान्यतः पूर्वधर मुनियों को ही होता है, परन्तु कभी किसी को पूर्वगत श्रुत के अभाव में अन्य-श्रुत के आधार से भी हो सकता है। पहले प्रकार के शुक्ल-ध्यान में शब्द, अर्थ और योगों का उलट-फेर होता रहता है, किन्तु दूसरे में इतनी विशिष्ट स्थिरता होती है कि यह उलट-फेर बन्द हो जाता है। प्रथम शुक्ल-ध्यान में एक द्रव्य की विभिन्न पर्यायों का चिन्तन होता है, दूसरे में एक ही पर्याय को ध्येय बनाया जाता है।

३. सूक्ष्म-क्रिया

निर्वाणगमनसमये केवलिनो दरनिरुद्धयोगस्य।
सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति तृतीयं कीर्तितं शुक्लम् ॥ ८ ॥

निर्वाण-गमन का समय सन्निकट आ जाने पर केवली भगवान् मनोयोग और वचनयोग तथा स्थूल-काययोग का निरोध कर लेते हैं, केवल श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही शेष रह जाती है, तब जो ध्यान होता है वह 'सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपात्ति' नामक शुक्ल-ध्यान कहलाता है।

४. उत्सन्न-क्रिया-अप्रतिपात्ति

केवलिनः शैलेशीगतस्य शैलवदकम्पनीयस्य ।
उत्सन्नक्रियमप्रतिपाति तुरीयं परमशुक्लम् ॥ ९ ॥

पर्वत की तरह निश्चल केवली भगवान् जब शैलेशीकरण प्राप्त करते हैं, उस समय होने वाला शुक्ल-ध्यान 'उत्सन्न-क्रिया-अप्रतिपाति' कहलाता है ।

शुक्ल-ध्यान में योग विभाग

एकत्रियोगभाजामाद्यं स्यादपरमेक-योगानाम् ।
तनुयोगिनां तृतीयं निर्योगाणां चतुर्थं तु ॥ १० ॥

प्रथम शुक्ल-ध्यान एक योग या तीनों योग वाले मुनियों को होता है, दूसरा एक योग वालों को ही होता है । तीसरा सूक्ष्म काययोग वाले केवली को और चौथा अयोगी केवली को ही होता है ।

केवली और ध्यान

छद्मस्थितस्य यद्वन्मनः स्थिरं ध्यानमुच्यते तज्ज्ञैः ।
निश्चलमङ्गं तद्वत् केवलिनां कीर्तितं ध्यानम् ॥११॥

मन की स्थिरता को ध्यान कहते हैं, परन्तु तीसरे और चौथे शुक्ल-ध्यान के समय मन का अस्तित्व नहीं रहता है । ऐसी अवस्था में उन्हें ध्यान कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का यह समाधान दिया गया है कि—"ध्यान के विशेषज्ञ पुरुष जैसे छद्मस्थ के मन की स्थिरता को ध्यान कहते हैं, उसी प्रकार केवली के काय की स्थिरता को भी ध्यान कहते हैं । क्योंकि, जैसे मन एक प्रकार का योग है, उसी प्रकार काय भी एक योग है ।"

अयोगी और ध्यान

पूर्वाभ्यासाज्जीवोपयोगतः कर्म - जरण - हेतोर्वा ।
शब्दार्थ-बहुत्वाद्वा जिनवचनाद्वाऽप्ययोगिनो ध्यानम् ॥१२॥

चवदहवें गुणस्थान में पहुँचते ही आत्मा तीनों योगों का निरोध कर लेती है। अतः अयोगी अवस्था में स्थित केवली में योग का सद्‌भाव नहीं रहता है, फिर भी वहाँ ध्यान का अस्तित्व माना गया है। उसका कारण यह है—

१. जैसे कुम्हार का चक्र दण्ड आदि के अभाव में भी पूर्वाभ्यास से घूमता रहता है, उसी प्रकार योगों के अभाव में भी पूर्वाभ्यास के कारण अयोगी अवस्था में भी ध्यान होता है।

२. अयोगी केवली में उपयोग रूप भाव-मन विद्यमान है, अतः उनमें ध्यान माना गया है।

३. जैसे पुत्र न होने पर भी पुत्र के योग्य कार्य करने वाला व्यक्ति पुत्र कहलाता है, उसी प्रकार ध्यान का कार्य कर्म-निर्जरा वहाँ पर भी विद्यमान है। अतः वहाँ ध्यान भी माना गया है।

४. एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ 'ध्यैय' धातु चिन्तन अर्थ में है, काय-योग के निरोध अर्थ में भी है और अयोगित्व अर्थ में भी है। अतः अयोगित्व अर्थ के अनुसार अयोगी केवली में ध्यान का सद्भाव मानना उपयुक्त ही है।

५. जिनेन्द्र भगवान् ने अयोगी केवली अवस्था में भी ध्यान कहा है, इस कारण उनमें ध्यान का सद्भाव मानना चाहिए।

शुक्ल-ध्यान के स्वामी

आद्ये श्रुतावलम्बन-पूर्वे पूर्वश्रुतार्थ-सम्बन्धात्।
पूर्वधराणां छद्मस्थ-योगिनां प्रायशो ध्याने ॥ १३ ॥

सकलालम्बन-विरहप्रथिते द्वे त्वन्तिमे समुद्दिष्टे।
निर्मल-केवलदृष्टि-ज्ञानानां क्षीण-दोषाणाम् ॥ १४ ॥

चार प्रकार के शुक्ल-ध्यानों में से पहले के दो ध्यान पूर्वगत श्रुत

में प्रतिपादित अर्थ का अनुसरण करने के कारण श्रुतावलम्वी हैं। वे प्रायः पूर्वों के ज्ञाता छद्मस्थ योगियों को ही होते हैं।

'प्रायशः' कहने का आशय यह है कि कभी-कभी वे विशिष्ट अपूर्वधरों को भी हो जाते हैं।

अन्तिम दो प्रकार के शुक्ल-ध्यान समस्त दोषों का क्षय करने वाले अर्थात् वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी केवली में ही पाए जाते हैं।

शुक्ल-ध्यान का क्रम

तत्र श्रुताद् गृहीत्वैकमर्थमर्थाद् व्रजेच्छब्दम्।
शब्दात्पुनरप्यर्थं योगाद्योगान्तरं च सुधीः॥ १५॥

बुद्धिमान् पुरुष को श्रुत में से किसी एक अर्थ को अवलम्बन करके ध्यान प्रारम्भ करना चाहिए। उसके बाद उन्हें अर्थ से शब्द के विचार में आना चाहिए। फिर शब्द से अर्थ में वापिस लौट आना चाहिए। इसी प्रकार एक योग से दूसरे योग में और फिर दूसरे योग से पहले योग में आना चाहिये।

संक्रामत्यविलम्बितमर्थप्रभृतिषु यथा किल ध्यानी।
व्यावर्तते स्वयमसौ पुनरपि तेन प्रकारेण॥ १६॥

ध्यानकर्त्ता जिस प्रकार शीघ्रता-पूर्वक अर्थ, शब्द और योग में संक्रमण करता है, उसी प्रकार शीघ्रता से उससे वापिस लौट भी आता है।

इति नानात्वे निशिताभ्यासः संजायते यदा योगी।
आविर्भूतात्म-गुणस्तदैकताया भवेद्योग्यः॥ १७॥

पूर्वोक्त प्रकार से योगी जब पृथकत्व में तीक्ष्ण अभ्यास वाला हो जाता है, तब विशिष्ट आत्मिक गुणों के प्रकट होने पर उसमें एकत्व का ध्यान करने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि

प्रथम प्रकार के शुक्ल-ध्यान का अच्छा अभ्यास हो जाने के पश्चात् वह दूसरे प्रकार का शुक्ल-ध्यान करने लगता है।

उत्पाद-स्थिति-भंगादिपर्ययाणां यदेकयोगः सन्।
ध्यायति पर्ययमेकं तत्स्यादेकत्वमविचारम् ॥ १८ ॥

जब ध्यानकर्त्ता तीन योगों में से किसी एक योग का आलम्बन करके, उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य आदि पर्यायों में से किसी एक पर्याय का चिन्तन करता है, तब 'एकत्व-अविचार' ध्यान कहलाता है।

त्रिजगद्विषयं ध्यानादणुसंस्थं धारयेत् क्रमेण मनः।
विषमिव सर्वाङ्ग-गतं मन्त्रबलान्मांत्रिको दंशे ॥ १९ ॥

जैसे मन्त्र-वेत्ता मन्त्र के बल से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हुए विष को एक देश—स्थान में लाकर केन्द्रित कर देता है, उसी प्रकार योगी ध्यान के बल से तीनों जगत् में व्याप्त, अर्थात् सर्वत्र भटकने वाले मन को अणु पर लाकर स्थिर कर लेते हैं।

अपसारितेन्धनभरः शेषः स्तोकेन्धनोऽनलो ज्वलितः।
तस्मादपनीतो वा निर्वाति यथा मनस्तद्वत् ॥ २० ॥

जलती हुई आग में से ईंधन को खींच लेने या बिलकुल हटा देने पर थोड़े ईंधन वाली अग्नि बुझ जाती है, उसी प्रकार जब मन को विषय रूपी ईंधन नहीं मिलता है, तो वह भी स्वतः ही शान्त हो जाता है।

शुक्ल-ध्यान का फल

ज्वलति ततश्च ध्यानज्वलने भृशमुज्ज्वले यतीन्द्रस्य।
निखिलानि विलीयन्ते क्षणमात्राद् घाति-कर्माणि ॥ २१ ॥

जब ध्यान रूपी जाज्वल्यमान प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित होती है, तो योगीन्द्र के समस्त—चारों घाति-कर्म क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं।

घाति-कर्म

ज्ञानावरणीयं दृष्ट्यावरणीयंच मोहनीयं च ।
विलयं प्रयान्ति सहसा सहान्तरायेण कर्माणि ।। २२ ।।

योगिराज के एकत्व-वितर्क शुक्ल-ध्यान के प्रभाव से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—यह चारों कर्म अन्तर्मुहूर्त जितने थोड़े-से समय में हो सर्वथा क्षीण हो जाते हैं ।

घाति-कर्म-क्षय का फल

सम्प्राप्य केवलज्ञान-दर्शने दुर्लभे ततो योगी ।
जानाति पश्यति तथा लोकालोकं यथावस्थम् ।। २३ ।।

घाति-कर्मों का क्षय होने से योगी दुर्लभ केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन को प्राप्त करके यथार्थ रूप से समग्र लोक और अलोक को जानने-देखने लगते हैं ।

देवस्तदा स भगवान् सर्वज्ञः सर्वदर्श्यनन्तगुणः ।
विहरत्यवनी-वलयं सुरासुर-नरोरगैः प्रणतः ।। २४ ।।

केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त गुणवान् तथा सुर, असुर, नर और नागेन्द्र आदि के द्वारा नमस्कृत अर्हन्त भगवान् इस भूतल पर जगत् के जीवों को सद्बोध देने के लिए विचरते हैं ।

वाग्ज्योत्स्नयाऽखिलान्यपि विबोधयति भव्यजन्तु-कुमुदानि ।
उन्मूलयति क्षणतो मिथ्यात्वं द्रव्य-भाव-गतम् ।।२५।।

भूतल पर विचरते हुए अर्हन्त भगवान् अपनी वचन रूपी चन्द्रिका से भव्य जीव रूपी कुमुदों को विबोधित करते हैं और उनके द्रव्य-मिथ्यात्व एवं भाव-मिथ्यात्व को समूलतः नष्ट कर देते हैं ।

तन्नामग्रहमात्रादनादिसंसार सम्भवं दुःखम् ।
भव्यात्मनामशेषं परिक्षयं याति सहसैव ।। २६ ।।

उन अरिहन्त भगवान् का नाम उच्चारण करने मात्र से अनादि-कालीन संसार में उत्पन्न होने वाले भव्य जीवों के सहसा ही समस्त दुःख सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं।

अपि कोटीशतसंख्याः समुपासितुमागताः सुरनराद्याः।
क्षेत्रे योजनमात्रे मान्ति तदाऽस्य प्रभावेण ॥ २७ ॥

उन अरिहन्त तीर्थंकर भगवान् के प्रभाव से उनकी उपासना के लिए आये हुए सैंकड़ों-करोड़ों देव और मनुष्य आदि एक योजन मात्र क्षेत्र—स्थान में ही समा जाते हैं।

त्रिदिवौकसो मनुष्यास्तिर्यञ्चोऽन्येऽप्यमुष्य बुध्यन्ते।
निज-निज-भाषानुगतं वचनं धर्मावबोधकरम् ॥ २८ ॥

तीर्थंकर भगवान् के धर्मबोधक वचनों को देव, मनुष्य, पशु तथा अन्य जीव अपनी-अपनी भाषा में समझते हैं। उक्त सब श्रोताओं को ऐसा लगता है कि मानो भगवान् हमारी भाषा में ही बोल रहे हैं।

आयोजनशतमुग्रा रोगाः शाम्यन्ति तत्प्रभावेण।
उदयिनि शीतमरीचाविव तापरुजः क्षितेः परितः ॥ २९ ॥

तीर्थंकर भगवान् जहाँ विहार करते हैं, उस स्थल से चारों ओर सौ-सौ योजन प्रमाण क्षेत्र में, उनके प्रभाव से महामारी आदि उग्र रोग उसी प्रकार शान्त हो जाते हैं, जैसे चन्द्रमा के उदय से गर्मी शान्त हो जाती है।

मारीति-दुर्भिक्षाति-वृष्ट्यनावृष्टिडमर-वैराणि।
न भवन्त्यस्मिन् विहरति सहस्ररश्मौ तमांसीव ॥ ३० ॥

तीर्थंकर भगवान् जहाँ विचरण करते हैं, वहाँ महामारी, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, युद्ध, और वैर उसी प्रकार नहीं होते, जैसे सूर्य का उदय होने पर अन्धकार नहीं रह पाता।

मार्त्तण्डमण्डलश्रीविडम्बि भामण्डलं विभोः परितः ।
आविर्भवत्यनुवपुः प्रकाशयत्सर्वतोऽपि दिशः ॥ ३१ ॥

तीर्थङ्कर भगवान् के शरीर के पीछे सूर्यमण्डल की प्रभा को भी मात करने वाला और समस्त दिशाओं को आलोकित करने वाला भामण्डल प्रकट होता है ।

सञ्चारयन्ति विकचान्यनुपादन्यासमाशु कमलानि ।
भगवति विहरति तस्मिन् कल्याणिभक्तयो देवाः ॥ ३२ ॥

अर्हन्त भगवान् जब पृथ्वीतल पर विहार करते हैं, तो कल्याण-कारिणी भक्ति वाले देव तत्काल ही उनके प्रत्येक चरण रखने के स्थान पर विकसित स्वर्ण-कमलों का संचार करते हैं—स्वर्णमय कमल स्थापित करते हैं ।

अनुकूलो वाति मरुत् प्रदक्षिणं यान्त्यमुष्य शकुनाश्च ।
तरवोऽपि नमन्ति भवन्त्यधोमुखाः कण्टकाश्च तदा ॥ ३३ ॥

भगवान् के विहार के समय वायु अनुकूल बहने लगती है, गीदड़, नकुल आदि के शकुन दाहिने हो जाते हैं, वृक्ष भी नम्र हो जाते हैं और काँटों के मुख नीचे की ओर हो जाते हैं ।

आरक्त-पल्लवोऽशोकपादपः स्मेर-कुसुमगन्धाढ्यः ।
प्रकृत-स्तुतिरिव मधुकर-विरुतैर्विलसत्युपरि-तेन ॥ ३४ ॥

लालिमा युक्त पत्तों वाला तथा खिले हुए फूलों की सुगंध से व्याप्त अशोक तरु उनके ऊपर सुशोभित होता है और वह ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भ्रमरों के नाद के बहाने भगवान् की स्तुति कर रहा है ।

षडपि समकालमृतवो भगवन्तं ते तदोपतिष्ठन्ते ।
स्मर-साहायककरणे प्रायश्चित्तं ग्रहीतुमिव ॥ ३५ ॥

भगवान् के समीप एक साथ छहों ऋतुएँ प्रकट होती हैं, मानों वे कामदेव का सहायक बनने का प्रायश्चित करने के लिए भगवान् की चरण-सेवा में उपस्थित हुई हों ।

अस्य पुरस्तान्निनदन् विजृंभते दुंदुभिर्नभसि तारम् ।
कुर्वाणो निर्वाण - प्रयाण - कल्याणमिव सद्यः ॥ ३६ ॥

भगवान् के आगे मधुर स्वर में घोष करती हुई देव-दुंदुभि ऐसी प्रतीति होती है, जैसे भगवान् के निर्वाणगमन-कल्याणक को सूचित कर रही हो ।

पञ्चापि चेन्द्रियार्थाः क्षणान्मनोज्ञीभवन्ति तदुपान्ते ।
को वा न गुणोत्कर्षं सविधे महतामवाप्नोति ॥ ३७ ॥

भगवान् के सन्निकट पाँचों इन्द्रियों के विषय क्षण-भर में मनोज्ञ बन जाते हैं । क्योंकि महापुरुषों के संसर्ग में आने पर किसके गुणों का उत्कर्ष नहीं होता ? महापुरुषों की संगति से गुणों में वृद्धि होती ही है ।

अस्य नख-रोमाणि च वर्धिष्णून्यपि नेह प्रवर्धन्ते ।
भव - शत - सञ्चित - कर्मच्छेदं दृष्ट्वेव भीतानि ॥ ३८ ॥

भगवान् के नख और केश नहीं बढ़ते हैं । यद्यपि केश-नख आदि का स्वभाव बढ़ना है, किन्तु सैकड़ों भवों के संचित कर्मों का छेदन देखकर वे भयभीत-से हो जाते हैं और इस कारण वे बढ़ने का साहस नहीं कर पाते ।

शमयन्ति तदभ्यर्णे रजांसि गन्धजल-वृष्टिभिर्देवाः ।
उन्निद्र-कुसुम-वृष्टिभिरशेषतः सुरभयन्ति भुवम् ॥ ३९ ॥

भगवान् के आसपास सुगंधित जल की वर्षा करके देव धूल को शान्त कर देते हैं और विकसित पुष्पों की वर्षा करके भूमि को सुगंधित कर देते हैं ।

छत्रत्रयी पवित्रा विभोरुपरि भक्तितस्त्रिदशराजैः ।
गंगास्रोतस्त्रितयीव धार्यते मण्डलीकृत्य ॥ ४० ॥

भगवान् के ऊपर इन्द्र तीन छत्र धारण करता है । वह तीन छत्र ऐसे जान पड़ते हैं, मानो गंगा नदी के गोलाकार किए हुए तीन स्रोत हों ।

अयमेक एव नः प्रभुरित्याख्यातुं विडौजसोन्नमितः।
अंगुलिदण्ड इवोच्चैश्चकास्ति रत्न-ध्वजस्तस्य ॥ ४१ ॥

भगवान् के आगे इन्द्रध्वज ऐसा सुशोभित होता है, मानों 'यही एकमात्र हमारे स्वामी हैं'—यही वतलाने के लिए इन्द्र ने अपनी अंगुली ऊँची कर रखी हो।

अस्य शरदिन्दुदीधितिचारूणि च चामराणि धूयन्ते।
वदनारविन्द - संपाति - राजहंस - भ्रमं दधति ॥ ४२ ॥

भगवान् पर शरद ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल चामर ढुलाये जाते हैं। जब वे चामर मुख-कमल पर आते हैं तो राजहंसों-सा भ्रम उत्पन्न करते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके मुख के सामने राजहंस उड़ रहे हों।

प्राकारस्त्रय उच्चैर्विभान्ति समवसरणस्थितस्यास्य।
कृत-विग्रहाणि सम्यक्-चारित्र-ज्ञान-दर्शनानीव ॥ ४३ ॥

समवसरण में स्थित तीर्थङ्कर भगवान् के चारों ओर स्थित ऊँचे-ऊँचे तीन प्रकार ऐसे जान पड़ते हैं, मानों सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन खड़े हों।

चतुराशावर्तिजनान् युगपदिवानुग्रहीतु - कामस्य।
चत्वारि भवन्ति मुखान्यंगानि च धर्ममुपदिशतः ॥ ४४ ॥

जब भगवान् धर्मोपदेश देने के लिए समवसरण में विराजते हैं, तो उनके चारों ओर उपस्थित श्रोताओं पर अनुग्रह करने के लिए एक समय में एक साथ चार शरीर और चार मुख परिलक्षित होते हैं। यह तीर्थङ्कर भगवान् का एक अतिशय है। उनकी धर्म-सभा में उपस्थित कोई भी श्रोता, चाहे वह किसी भी दिशा में क्यों न बैठा हो, उनके दर्शनों से वंचित नहीं रहता है।

अभिवन्द्यमानपादः सुरासुरनरोरगैस्तदा भगवान् ।
सिंहासनमधितिष्ठति भास्वानिव पूर्वगिरि श्रृङ्गम् ॥ ४५ ॥

जिनके चरणों में सुर-असुर, मनुष्य और नाग आदि नमस्कार करते हैं, वन्दन करते हैं। भगवान् जब सिंहासन के ऊपर विराजमान होकर उपदेश देते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है कि उदयाचल में सूर्य उदित हुआ है।

तेजःपुञ्ज-प्रसर-प्रकाशिताशेषदिक् क्रमस्य तदा ।
त्रैलोक्य-चक्रवर्त्तित्व-चिह्नमग्रे भवति चक्रम् ॥ ४६ ॥

अपने तेज के समूह से समस्त दिशाओं को प्रकाशित करने वाला और तीनों लोकों के चक्रवर्त्तीपन को सूचित करने वाला धर्मचक्र उनके आगे-आगे चलता है।

भुवनपति-विमानपति-ज्योतिष्पति-वानव्यन्तराः सविधे ।
तिष्ठन्ति समवसरणे जघन्यतः कोटिपरिमाणाः ॥४७॥

प्रायः कम से कम एक करोड़ की संख्या में भवनपति, वैमानिक, ज्योतिष्क और वानव्यन्तर, यह चारों प्रकार के देव समवसरण में स्थित रहते हैं।

तीर्थंकरनामसंज्ञं न यस्य कर्मास्ति सोऽपि योगबलात् ।
उत्पन्न - केवलः सन् सत्यायुषि बोधयत्युर्वीम् ॥ ४८ ॥

यह उन केवली भगवान् की विशेषताओं का वर्णन किया गया है, जो तीर्थंकर होते हैं। किन्तु, जिनके तीर्थंकर नाम कर्म का उदय नहीं हैं, वे भी योग के बल से केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और आयु-कर्म शेष रहता है, तो भूतल के जीवों को धर्मदेशना भी देते हैं। और आयु-कर्म शेष न रहा हो तो निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं।

केवली की उत्तरक्रिया और समुद्घात

सम्पन्न-केवलज्ञान - दर्शनोऽन्तर्मुहूर्त्त-शेषायुः ।
अर्हति योगी ध्यानं तृतीयमपि कर्तुमचिरेण ॥ ४९ ॥

जब मनुष्यभव संबंधी आयु अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहती है, तब केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त योगी शीघ्र ही सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति नामक तीसरा शुक्लध्यान आरंभ करते हैं।

आयुः कर्मसकाशादधिकानि स्युर्यदान्य कर्माणि।
तत्साम्याय तदोपक्रमते योगी समुद्घातम् ॥ ५० ॥

यदि आयु कर्म की अपेक्षा अन्य—नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक रह जाती है, तो उसे बराबर करने के लिए केवली पहले समुद्घात करते हैं।

टिप्पण—सम् + उत् + घात अर्थात् सम्यक् प्रकार से प्रबलता के साथ कर्मों का घात करने के लिए किया जाने वाला प्रयत्न 'समुद्घात' कहलाता है। समुद्घात करने से नाम आदि कर्मों की स्थिति का और रस-विपाक का घात होता है, जिससे वे आयु-कर्म के समान स्थिति वाले बन जाते हैं। समुद्घात की विधि का उल्लेख आगे कर रहे हैं।

दण्ड-कपाटे मन्थानकं च समय-त्रयेण निर्माय।
तुर्ये समये लोकं निःशेषं पूरयेद् योगी ॥ ५१ ॥

समुद्घात करते समय केवली भगवान् तीन समय में अपने आत्म-प्रदेशों को दंड, कपाट और मन्थान के रूप में फैला देते हैं। वे अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकालकर प्रथम समय में ऊपर और नीचे लोकान्त तक दंडाकार करते हैं, दूसरे समय में पूर्व और पश्चिम में लोकान्त तक फैलाते हैं, तीसरे समय में दक्षिण-उत्तर दिशाओं में लोकान्त तक फैलाते हैं और चौथे समय में बीच के अन्तरों को पूरित करके समग्र लोक में व्याप्त हो जाते हैं।

समयैस्ततश्चतुर्भिर्निवर्तिते लोकपूरणादस्मात्।
विहितायुःसमकर्मा ध्यानी प्रतिलोम - मार्गेण ॥ ५२ ॥

इस प्रकार चार समयों में, लोक में आत्म-प्रदेशों को व्याप्त करके वह योगी अन्य कर्मों को आयु कर्म के बराबर करके प्रतिलोम क्रम से अर्थात् पाँचवें समय में अन्तरों में से आत्मप्रदेशों का संहरण करके, छठे समय में दक्षिण-उत्तर दिशाओं से संहरण करके, सातवें समय में पूर्व-पश्चिम से संहरण करके, आठवें समय में समस्त आत्म-प्रदेशों को पूर्ववत् शरीरव्यापी बना लेते हैं। इस प्रकार समुद्घात की क्रिया पूर्ण हो जाती है।

योग-निरोध

श्रीमानचिन्त्यवीर्यः शरीरयोगेऽथ बादरे स्थित्वा।
अचिरादेव हि निरुणद्धि बादरौ वाङ्मनसयोगौ ॥ ५३ ॥

सूक्ष्मेण काययोगेन काययोगं स बादरं रुन्ध्यात्।
तस्मिन्निरुद्धे सति शक्यो रोद्धुं न सूक्ष्मतनुयोगः ॥ ५४ ॥

वचन-मनोयोगयुग सूक्ष्मं निरुणद्धि सूक्ष्मतनुयोगात्।
विदधाति ततो ध्यानं सूक्ष्मक्रियमसूक्ष्मतनुयोगम् ॥ ५५ ॥

समुद्घात करने के पश्चात् आध्यात्मिक विभूति से सम्पन्न तथा अचिन्तनीय वीर्य से युक्त वह योगी बादर काय-योग का अवलम्बन करके बादर वचन-योग और बादर मनोयोग का शीघ्र ही निरोध कर लेते हैं।

फिर सूक्ष्म काय-योग में स्थित होकर बादर काय-योग का निरोध करते हैं। क्योंकि बादर काय-योग का निरोध किए बिना सूक्ष्म काय-योग का निरोध करना शक्य नहीं है।

तत्पश्चात् सूक्ष्म काय-योग के अवलम्बन से सूक्ष्म मनोयोग और वचन-योग का निरोध करते हैं। फिर सूक्ष्म काय योग से सूक्ष्मक्रिया नामक तीसरा शुक्ल-ध्यान करते हैं।

तदन्तरं समुच्छिन्न - क्रियमाविर्भवेदयोगस्य ।
अस्यान्ते क्षीयन्ते त्वघाति-कर्माणि चत्वारि ॥ ५६ ॥

उसके पश्चात् अयोगी केवली समुच्छिन्नक्रिया नामक चौथा शुक्ल-ध्यान ध्याते हैं । इस ध्यान के अन्त में शेष रहे हुए चारों अघाति कर्मों का क्षय हो जाता है ।

निर्वाण प्राप्ति

लघुवर्ण-पञ्चकोद्गिरणतुल्यकालमवाप्य शैलेशीम् ।
क्षपयति युगपत्परितो वेद्यायुर्नाम - गोत्राणि ॥ ५७ ॥

तत्पश्चात् 'अ, इ, उ, ऋ, लृ'—इन पाँच ह्रस्व स्वरों का उच्चारण करने में जितना काल लगता है, उतने काल तक शैलेशीकरण—पर्वत के समान निश्चल अवस्था प्राप्त करके एक साथ वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म का पूरी तरह क्षय कर देते हैं ।

औदारिक-तैजस-कार्मणानि संसारमूल-करणानि ।
हित्वेह ऋजुश्रेण्या समयेनैकेन याति लोकान्तम् ॥ ५८ ॥

साथ ही औदारिक, तैजस और कार्मण रूप स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों का त्याग करके, ऋजु श्रेणी—मोड़ रहित सीधी गति से एक ही समय में लोक के अग्रभाग में पहुँच कर स्थित हो जाते हैं ।

नोर्ध्वमुपग्रहविरहादधोऽपि वा नैव गौरवाभावात् ।
योग-प्रयोग-विगमात् न तिर्यगपि तस्य गतिरस्ति ॥ ५९ ॥

सिद्ध भगवान् की आत्मा लोक से ऊपर—अलोकाकाश में नहीं जाती । क्योंकि वहाँ गति में सहायक धर्मास्तिकाय नहीं है। आत्मा नीचे भी नहीं जाती, क्योंकि उसमें गुरुता नहीं है । तिर्छी भी नहीं जाती, क्योंकि उसमें काय आदि योग और प्रयोग अर्थात् पर-प्रेरणा नहीं है ।

लाघवयोगाद् धूमवदलाबुफलवच्च संगविरहेण ।
बन्धन-विरहादेरण्डवच्च सिद्धस्य गतिरूर्ध्वम् ॥ ६० ॥

समस्त कर्मों और शरीरों से मुक्त हो जाने के पश्चात् सिद्ध भगवान् का जीव न लोकाकाश से ऊपर जाता है, न नीचे जाता है और न तिर्छा। यह बात ऊपर के श्लोक में बताई जा चुकी है और उसके कारण भी दे दिये हैं। परन्तु, लोकाकाश तक भी ऊर्ध्वगति क्यों होती है? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया गया है कि सिद्ध भगवान् का जीव लघुता धर्म के कारण धूम की तरह ऊर्ध्वगति करता है। जैसे मृतिकालेप रूप पर-संयोग से रहित तूंबा जल में ऊपर की ओर ही गति करता है, उसी प्रकार कर्म-संसर्ग से मुक्त जीव भी ऊर्ध्वगति करता है। जैसे कोश से मुक्त होते ही एरंड का बीज ऊपर की ओर जाता है, उसी प्रकार शरीर आदि से मुक्त होते ही जीव भी ऊर्ध्वगति करता है।

मुक्त-स्वरूप

सादिकमनन्तमनुपममव्याबाधं स्वभावजं सौख्यम्।
प्रायः सकेवल - ज्ञान - दर्शनो मोदते मुक्तः॥ ६१॥

वह मुक्त पुरुष—जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, समस्त कर्मों से रहित होकर सादि अनन्त, अनुपम, अव्याबाध और स्वाभाविक अर्थात् आत्म-स्वभावभूत सुख को प्राप्त करके परमानन्द को प्राप्त कर लेता है।

जो साधक विश्व के समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखता है, सब पदार्थों में समभाव रखता है और आस्रव का त्यागी है, उसके पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है।

—भगवान महावीर

शुभ अध्यवसाय एवं चिन्तन-मनन से मन शुद्ध होता है; निरवद्य—निष्पापमय भाषा का प्रयोग करने से वचन योग की शुद्धि होती है। और निर्दोष क्रिया का आचरण करने से शरीर संशुद्ध होता है। वस्तुतः त्रि-योग की शुद्धि ही योग-साधना की सिद्धि—सफलता है।

—आचार्य हरिभद्र

जो योगी—साधक ज्ञान और चारित्र के मूलरूप सत्य का प्रयोग करता है, उसकी चरण-रज से पृथ्वी पवित्र होती है।

—आचार्य हेमचन्द्र

सदाचार योग की प्रथम भूमिका है। विचार और आचार की शुद्धि का नाम सदाचार है।

—मुनि समदर्शी

विक्षिप्त और यातायात मन

विक्षिप्तं चलमिष्टं यातायातं च किमपि सानन्दम् ।
प्रथमाभ्यासे द्वयमपि विकल्प - विषयग्रहं तत्स्यात् ॥ ३ ॥

विक्षिप्त चित्त चंचल रहता है। वह इधर-उधर भटकता रहता है। यातायात चित्त कुछ आनन्द वाला होता है। वह कभी वाहर चला जाता है और कभी अन्दर स्थिर हो जाता है। प्राथमिक अभ्यास करने वालों के चित्त की ये दोनों स्थितियाँ होती हैं। वस्तुतः सर्व-प्रथम चित्त में चंचलता ही होती है, किन्तु अभ्यास करने से शनैः शनै चंचलता के साथ किंचित् स्थिरता भी आने लगती है। फिर भी मन के यह दोनों भेद चित्त विकल्प के साथ वाह्य पदार्थों के ग्राहक भी होते हैं।

श्लिष्ट और सुलीन मन

श्लिष्टं स्थिरसानन्दं सुलीनमतिनिश्चलं परानन्दम् ।
तन्मात्रक - विषयग्रहमुभयमपि बुधैस्तदाम्नातम् ॥ ४ ॥

स्थिर होने के कारण आनन्दमय बना हुआ चित्त श्लिष्ट कहलाता है और जब वही चित्त अत्यन्त स्थिर होने से परमानन्दमय होता है तब सुलीन कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे क्रम से चित्त की स्थिरता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे आनन्द की मात्रा भी बढ़ती जाती है। जब चित्त अत्यन्त स्थिर हो जाता है, तब परमानन्द की प्राप्ति होती है।

एवं क्रमशोऽभ्यासावेशाद् ध्यानं भजेन्निरालम्बम् ।
समरस - भावं यातः परमानन्दं ततोऽनुभवेत् ॥ ५ ॥

इस प्रकार क्रम से अभ्यास बढ़ाते हुए अर्थात् विक्षिप्त से यातायात चित्त का, यातायात से श्लिष्ट का और श्लिष्ट से सुलीन चित्त का

अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अभ्यास करने से निरालम्बन ध्यान होने लगता है। निरालम्बन ध्यान से समरस प्राप्त करके परमानन्द का अनुभव करना चाहिए।

बाह्यात्मानमपास्य प्रसत्तिभाजान्तरात्मना योगी।
सततं परमात्मानं विचिन्तयेत्तन्मयत्वाय ॥ ६ ॥

योगी को चाहिए कि वह बहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा के साथ सामीप्य स्थापित करे और परमात्ममय बनने के लिए निरन्तर परमात्मा का ध्यान करे।

बहिरात्मा-अन्तरात्मा

आत्मधिया समुपात्तः कायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा।
कायादेः समधिष्ठायको भवत्यन्तरात्मा तु ॥ ७ ॥

शरीर आदि बाह्य पदार्थों को आत्म-बुद्धि से ग्रहण करने वाला अर्थात् शरीर, धन, कुटुम्ब, परिवार आदि में अहम्-बुद्धि रखने वाला बहिरात्मा कहलाता है। और जो शरीर आदि को आत्मा तो नहीं समझता, किन्तु अपने को उनका अधिश्ठाता समझता है, वह 'अन्तरात्मा' कहलाता है। बहिरात्मा जीव शरीर, इन्द्रिय आदि को ही आत्मा—अपना स्वरूप मानता है, जब कि अन्तरात्मा शरीर और आत्मा को भिन्न समझता हुआ यही मानता है कि मैं शरीर में रहता हूँ, शरीर का संचालक हूँ।

परमात्मा

चिद्रूपानन्दमयो निःशेषोपाधिवर्जितः शुद्धः।
अत्यक्षोऽनन्तगुणः परमात्मा कीर्तितस्तज्ज्ञैः ॥ ८ ॥

चिन्मय, आनन्दमय, समग्र उपाधियों से रहित, इन्द्रियों से अगोचर और अनन्त गुणों से युक्त आत्मा परमात्मा कहलाता है।

विक्षिप्त और यातायात मन

विक्षिप्तं चलमिष्टं यातायातं च किमपि सानन्दम् ।
प्रथमाभ्यासे द्वयमपि विकल्प - विषयग्रहं तत्स्यात् ॥ ३ ॥

विक्षिप्त चित्त चंचल रहता है। वह इधर-उधर भटकता रहता है। यातायात चित्त कुछ आनन्द वाला होता है। वह कभी बाहर चला जाता है और कभी अन्दर स्थिर हो जाता है। प्राथमिक अभ्यास करने वालों के चित्त की ये दोनों स्थितियाँ होती हैं। वस्तुतः सर्व-प्रथम चित्त में चंचलता ही होती है, किन्तु अभ्यास करने से शनैः शनै चंचलता के साथ किंचित् स्थिरता भी आने लगती है। फिर भी मन के यह दोनों भेद चित्त विकल्प के साथ बाह्य पदार्थों के ग्राहक भी होते हैं।

श्लिष्ट और सुलीन मन

श्लिष्टं स्थिरसानन्दं सुलीनमतिनिश्चलं परानन्दम् ।
तन्मात्रक - विषयग्रहमुभयमपि बुधैस्तदाम्नातम् ॥ ४ ॥

स्थिर होने के कारण आनन्दमय बना हुआ चित्त श्लिष्ट कहलाता है और जब वही चित्त अत्यन्त स्थिर होने से परमानन्दमय होता है तब सुलीन कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे क्रम से चित्त की स्थिरता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे आनन्द की मात्रा भी बढ़ती जाती है। जब चित्त अत्यन्त स्थिर हो जाता है, तब परमानन्द की प्राप्ति होती है।

एवं क्रमशोऽभ्यासावेशाद् ध्यानं भजेन्निरालम्बम् ।
समरस - भावं यातः परमानन्दं ततोऽनुभवेत् ॥ ५ ॥

इस प्रकार क्रम से अभ्यास बढ़ाते हुए अर्थात् विक्षिप्त से यातायात चित्त का, यातायात से श्लिष्ट का और श्लिष्ट से सुलीन चित्त का

अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अभ्यास करने से निरालम्बन ध्यान होने लगता है। निरालम्बन ध्यान से समरस प्राप्त करके परमानन्द का अनुभव करना चाहिए।

वाह्यात्मानमपास्य प्रसत्तिभाजान्तरात्मना योगी।
सततं परमात्मानं विचिन्तयेत्तन्मयत्वाय ॥ ६ ॥

योगी को चाहिए कि वह वहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा के साथ सामीप्य स्थापित करे और परमात्ममय बनने के लिए निरन्तर परमात्मा का ध्यान करे।

वहिरात्मा-अन्तरात्मा

आत्मधिया समुपात्तः कायादिः कीर्त्यतेऽत्र वहिरात्मा।
कायादेः समधिष्ठायको भवत्यन्तरात्मा तु ॥ ७ ॥

शरीर आदि वाह्य पदार्थों को आत्म-बुद्धि से ग्रहण करने वाला अर्थात् शरीर, धन, कुटुम्ब, परिवार आदि में अहम्-बुद्धि रखने वाला वहिरात्मा कहलाता है। और जो शरीर आदि को आत्मा तो नहीं समझता, किन्तु अपने को उनका अधिष्ठाता समझता है, वह 'अन्तरात्मा' कहलाता है। वहिरात्मा जीव शरीर, इन्द्रिय आदि को ही आत्मा—अपना स्वरूप मानता है, जब कि अन्तरात्मा शरीर और आत्मा को भिन्न समझता हुआ यही मानता है कि मैं शरीर में रहता हूं, शरीर का संचालक हूं।

परमात्मा

चिद्रूपानन्दमयो निःशेपोपाधिवर्जितः शुद्धः।
अत्यक्षोऽनन्तगुणः परमात्मा कीर्तितस्तज्ज्ञैः ॥ ८ ॥

चिन्मय, आनन्दमय, समग्र उपाधियों से रहित, इन्द्रियों से अगोचर और अनन्त गुणों से युक्त आत्मा परमात्मा कहलाता है।

सिद्धि प्राप्ति का उपाय

पृथगात्मानं कायात्पृथक् च विद्यात्सदात्मनः कायम् ।
उभयोर्भेद - ज्ञातात्म - निश्चये न स्खलेद्योगी ॥ ९ ॥

शरीर से आत्मा को और आत्मा से शरीर को भिन्न जानना चाहिए। इस प्रकार दोनों के भेद को जानने वाला योगी आत्मस्वरूप को प्रकट करने में स्खलित नहीं होता।

अन्तःपिहित-ज्योतिः सन्तुष्यत्यात्मनोऽन्यतो मूढः ।
तुष्यत्यात्मन्येव हि बहिर्निवृत्तभ्रमो योगी ॥ १० ॥

जिसकी आत्म-ज्योति कर्मों से आच्छादित हो गई है, वह मूढ़ पुरुष आत्मा से भिन्न बाह्य पदार्थों में सन्तोष पाता है। किन्तु योगी जो बाह्य पदार्थों में सुख की भ्रान्ति से निवृत्त हो चुका है, अपनी आत्मा में ही सन्तोष प्राप्त करता है।

पुंसामयत्नलभ्यं ज्ञानवतामव्ययं पदं नूनम् ।
यद्यात्मन्यात्मज्ञानमात्रमेते समीहन्ते ॥ ११ ॥

प्रबुद्ध पुरुष निश्चय ही बिना किसी बाह्य प्रयत्न के भी अव्यय—निर्वाण पद का अधिकारी हो सकता है। यदि वह आत्मा में आत्मज्ञान की ही अभिलाषा रखता है और आत्मा के सिवाय किसी भी अन्य पदार्थ सम्बन्धी विचार या व्यवहार नहीं करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्ण आत्मनिष्ठा प्राप्त हो जाने पर मुक्ति के लिए अन्य कोई बाह्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती है।

श्रयते सुवर्णभावं सिद्धरसस्पर्शतो यथा लोहम् ।
आत्मध्यानादात्मा परमात्मत्वं तथाऽऽप्नोति ॥ १२ ॥

जैसे सिद्धरस—रसायन के स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा का ध्यान करने से आत्मा परमात्मा बन जाता है।

जन्मान्तरसंस्करात् स्वयमेव किल प्रकाशते तत्त्वम् ।
सुप्तोस्थितस्य पूर्वप्रत्ययवन्निरुपदेशमपि ॥ १३ ॥

जैसे निद्रा से जागृत हुए पुरुष को पहले अनुभव किया हुआ तत्त्व दूसरे के कहे बिना स्वयं ही प्रकाशित होता है, उसी प्रकार पूर्व जन्म के विशिष्ट संस्कार से स्वयं ही तत्त्वज्ञान प्रकाशित हो जाता है। अतः विशिष्ट संस्कारयुक्त जीव को परोपदेश की आवश्यकता नहीं रहती।

अथवा गुरुप्रसादादिहैव तत्त्वं समुन्मिपति नूनम् ।
गुरु - चरणोपास्तिकृतः प्रशमजुषः शुद्धचित्तस्य ॥ १४ ॥

जो पूर्व जन्म के उच्च संस्कारों से युक्त नहीं है, उन्हें गुरु के चरणों की उपासना करने, प्रशम भाव का सेवन करने और शुद्ध चित्त होने के कारण गुरु के प्रसाद से आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

गुरु सेवा

तत्र प्रथमे तत्त्वज्ञाने संवादको गुरुर्भवति ।
दर्शयिता त्वपरस्मिन् गुरुमेव भजेत्तस्मात् ॥ १५ ॥

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति दो प्रकार से बतलाई गई है—पूर्वजन्म के संस्कार से और गुरु की उपासना से। पूर्वजन्म के संस्कार से जो तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है, उसका संवाद, उसकी पुष्टि एवं उसकी यथार्थता का निश्चय गुरु के द्वारा ही होता है। दूसरे प्रकार से होने वाले तत्त्वज्ञान का तो गुरु ही दर्शक होता है। इस प्रकार दोनों प्रकारों से होने वाले तत्त्वज्ञान में गुरु की अपेक्षा रहती ही है। अतः तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए निरन्तर गुरु की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए।

गुरु महिमा

यद्वत्सहस्रकिरणः प्रकाशको निचिततिमिरमग्नस्य ।
तद्वद् गुरुरत्र भवेदज्ञान - ध्वान्त - पतितस्य ॥ १६ ॥

जैसे सूर्य प्रगाढ़ अन्धकार में स्थित पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार गुरु अज्ञान अन्धकार में भटकते हुए जीवों को ज्ञान की ज्योति प्रदान करता है।

प्राणायाम-प्रभृति-क्लेश-परित्यागतस्ततो योगी।
उपदेशं प्राप्य गुरोरात्माभ्यासे रतिं कुर्यात्॥ १७॥

प्राणायाम आदि कष्टकर उपायों का परित्याग करके योगी को गुरु का उपदेश प्राप्त कर आत्म-साधना में ही संलग्न रहना चाहिए।

वचन-मनःकायानां क्षोभं यत्नेन वर्जयेच्छान्तम्।
रसभाण्डमिवात्मानं सुनिश्चलं धारयेन्नित्यम्॥ १८॥

योग-निष्ठ साधक मन, वचन और काय की चंचलता का त्याग करने का प्रयत्न करे और रस से भरे हुए बर्तन की तरह आत्मा को सदा शान्त-प्रशान्त और निश्चल रखे।

टिप्पण—कहने का तात्पर्य यह है कि रस को स्थिर रखने के लिए उसके आधारभूत पात्र को स्थिर रखना आवश्यक है। यदि पात्र जरा-सा डगमगा गया तो उसमें स्थित रस हिले बिना नहीं रहेगा। उसी प्रकार आत्मा को स्थिर और शान्त रखने के लिए मन, वचन और काय को स्थिर रखना आवश्यक है। इनमें से किसी में भी चंचलता उत्पन्न होने से आत्मा क्षुब्ध हो उठता है। यद्यपि ऐसा करने के लिए योगी को महान् प्रयत्न करना पड़ता है, तथापि उसमें सफलता मिलती है। मन, वचन और काय की स्थिरता के अभाव में आत्मा का स्थिर होना असंभव है।

औदासीन्य-परायण-वृत्तिः किञ्चिदपि चिन्तयेन्नैव।
यत्संकल्पाकुलितं चित्तं नासादयेत् स्थैर्यम्॥ १९॥

योगी को चाहिए कि वह अपनी वृत्ति को उदासीनतामय बना ले और किंचित् भी चिन्तन—संकल्प-विकल्प न करे। जो चित्त संकल्पों से व्याकुल होता है, उसमें स्थिरता नहीं आ सकती।

यावत्प्रयत्नलेशो यावत्संकल्प-कल्पना काऽपि ।
तावन्न लयस्यापि प्राप्तिस्तत्त्वस्य का तु कथा ॥ २० ॥

जब तक मानसिक, वाचिक या कायिक प्रयत्न का अंश मात्र भी विद्यमान है और जब तक कुछ भी संकल्प वाली कल्पना मौजूद है, तब तक लय—तल्लीनता की भी प्राप्ति नहीं हो सकती है, तो ऐसी स्थिति में तत्त्व की प्राप्ति की तो बात ही दूर ?

उदासीनता का फल

यदिदं तदिति न वक्तुं साक्षाद् गुरुणाऽपि हन्त शक्येत् ।
औदासीन्यपरस्य प्रकाशते तत्स्वयं तत्त्वम् ॥२१॥

जिस परम-तत्त्व को साक्षात् गुरु भी कहने में समर्थ नहीं है कि 'वह यह है' वही परम-तत्त्व उदासीन भाव में परायण योगी के लिए स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है ।

उन्मनी भाव

एकान्तेऽति-पवित्रे रम्ये देशे सदा सुखासीनः ।
आ चरणाग्र - शिखाग्राच्छिथिलीभूताखिलावयवः ॥ २२ ॥
रूपं कान्तं पश्यन्नपि शृण्वन्नपि गिरं कलमनोज्ञाम् ।
जिघ्रन्नपि च सुगन्धीन्यपि भुञ्जानो रसास्वादम् ॥ २३ ॥
भावान् स्पृशन्नपि मृदूनवारयन्नपि च चेतसो वृत्तिम् ।
परिकलितौदासीन्यः प्रणष्ट-विषय-भ्रमो नित्यम् ॥ २४ ॥
बहिरन्तश्च समन्ताच्चिन्ता-चेष्टापरिच्युतो योगी ।
तन्मय-भावं प्राप्तः कलयति भृशमुन्मनी-भावम् ॥ २५ ॥

एकान्त, अत्यन्त पवित्र और रमणीय प्रदेश में सुखासन से बैठा हुआ, योगी पैर के अँगूठे से लेकर मस्तक के अग्रभाग पर्यन्त के समस्त अवयवों को ढीला करके, कमनीय रूप को देखता हुआ भी, सुन्दर और मनोज्ञ वाणी को सुनता हुआ भी, सुगंधित पदार्थों को सूँघता हुआ भी, रस

का आस्वादन करता हुआ भी, कोमल पदार्थों का स्पर्श करता हुआ भी, और चित्त के व्यापारों को न रोकता हुआ भी उदासीन भाव से युक्त है—पूर्ण समभावी है तथा जिसने विषयों संबंधी आसक्ति का परित्याग कर दिया है, जो बाह्य और आन्तरिक चिन्ता एवं चेष्टाओं से रहित हो गया है, तन्मय भाव—तल्लीनता को प्राप्त करके अतीव उन्मनी-भाव को प्राप्त कर लेता है।

गृह्णन्ति ग्राह्याणि स्वानि स्वानीन्द्रियाणि नो रुन्ध्यात्।
न खलु प्रवर्तयेद्वा प्रकाशते तत्त्वमचिरेण ॥२६॥

साधक अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हुई इन्द्रियों को न तो रोके और न उन्हें प्रवृत्त करे। वह केवल इतना ध्यान रखे कि विषयों के प्रति राग-द्वेष उत्पन्न न होने दे। वह प्रत्येक स्थिति में तटस्थ बना रहे। इस प्रकार की उदासीनता प्राप्त हो जाने पर अल्पकाल में ही तत्त्वज्ञान प्रकट हो जाता है।

मनः शान्ति

चेतोऽपि यत्र यत्र प्रवर्तते नो ततस्ततो वार्यम्।
अधिकीभवति हि वारितमवारितं शान्तिमुपयाति ॥ २७ ॥

मत्तो हस्ती यत्नान्निवार्यमाणोऽधिकीभवति यद्वत्।
अनिवारितस्तु कामान् लब्ध्वा शाम्यति मनस्तद्वत् ॥ २८ ॥

मन जिन-जिन विषयों में प्रवृत्त होता हो, उनसे उसे बलात् रोकना नहीं चाहिए। क्योंकि, बलात् रोकने से वह उस ओर और अधिक दौड़ने लगता है और न रोकने से शान्त हो जाता है। जैसे मदोन्मत्त हाथी को रोका जाए तो वह उस ओर अधिक प्रेरित होता है और उसे न रोका जाए तो वह अपने इष्ट विषयों को प्राप्त करके शान्त हो जाता यही स्थिति मन की होती है।

यर्हि यथा यत्र यतः स्थिरीभवति योगिनश्चलं चेतः ।
तर्हि तथा तत्र ततः कथञ्चिदपि चालयेन्नैव ॥ २९ ॥
अनया युक्त्याऽभ्यासं विदधानस्यातिलोलमपि चेतः ।
अंगुल्यग्र - स्थापित - दण्ड इव स्थैर्यमाश्रयति ॥ ३० ॥

योगी का चंचल चित्त जब, जिस प्रकार, जिस जगह और जिस निमित्त से स्थिर हो, तब, उस प्रकार, उस जगह से और उसी निमित्त से उसे तनिक भी चलायमान नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास करने से अतीव चंचल मन भी अंगुली के अग्रभाग पर स्थापित किए हुए दंड की तरह स्थिर हो जाता है।

दृष्टिजय का उपाय

निःसृत्यादौ दृष्टिः संलीना यत्र कुत्रचित्स्थाने ।
तत्रासाद्य स्थैर्यं शनैः शनैर्विलयमाप्नोति ॥ ३१ ॥
सर्वत्रापि प्रसृता प्रत्यग्भूता शनैः शनैर्दृष्टिः ।
परतत्त्वामलमुकुरे निरीक्षते ह्यात्मनाऽऽत्मानम् ॥ ३२ ॥

प्रारंभ में दृष्टि बाहर निकल कर किसी भी अनियत स्थान में लीन हो जाती है। वहाँ स्थिरता प्राप्त करके वह धीरे-धीरे विलय को प्राप्त होती है—पीछे हटती है।

इस प्रकार सर्वत्र फैली हुई और वहाँ से धीरे-धीरे हटी हुई दृष्टि परम-तत्त्व रूपी निर्मल दर्पण में अपने आप से अपने स्वरूप को देखने लगती है।

मनोविजय की विधि

औदासीन्यनिमग्नः प्रयत्नपरिवर्जितः सततमात्मा ।
भावितपरमानन्दः क्वचिदपि न मनो नियोजयति ॥ ३३ ॥
करणानि नाधितिष्ठत्युपेक्षितं चित्तमात्मना जातु ।
ग्राह्ये ततो निजनिजे करणान्यपि न प्रवर्तन्ते ॥ ३४ ॥

नात्मा प्रेरयति मनो न मनः प्रेरयति यर्हि करणानि ।
उभय-भ्रष्टं तर्हि स्वयमेव विनाशमाप्नोति ।। ३५ ।।

उदासीन भाव में निमग्न, सब प्रकार के प्रयत्न से रहित और परमानन्द दशा की भावना करने वाला योगी किसी भी जगह मन को नहीं जोड़ता है ।

इस प्रकार आत्मा जब मन की उपेक्षा कर देता है, तो वह उपेक्षित मन इन्द्रियों का आश्रय नहीं करता अर्थात् इन्द्रियों में प्रेरणा उत्पन्न नहीं करता । ऐसी स्थिति में इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय में प्रवृत्ति करना छोड़ देती हैं ।

जब आत्मा मन में प्रेरणा उत्पन्न नहीं करता और मन इन्द्रियों को प्रेरित नहीं करता, तब दोनों तरफ से भ्रष्ट बना हुआ मन अपने आप विनाश को प्राप्त हो जाता है ।

मनोजय का फल

नष्टे मनसि समन्तात्सकले विलयं च सर्वतो याते ।
निष्कलमुदेति तत्त्वं निर्वात-स्थायि-दीप इव ।। ३६ ।।

जब मन प्रेरक नहीं रहता तो पहले राख से आवृत्त अग्नि की तरह शान्त हो जाता है और फिर पूर्ण रूप से उसका क्षय हो जाता है अर्थात् चिन्ता, स्मृति आदि उसके सभी व्यापार नष्ट हो जाते हैं । तब वायुविहीन स्थान में स्थापित दीपक जैसे निरावाध प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार आत्मा में कर्म-मल से रहित शुद्ध-तत्त्व—आत्म-ज्ञान का प्रकाश होता है ।

तत्त्वज्ञानी की पहचान

अङ्ग-मृदुत्व-निदानं स्वेदनमर्दन विवर्जनेनापि ।
स्निग्धीकरणमतैलं प्रकाशमानं हि तत्त्वमिदम् ।। ३७ ।।

जब पूर्वोक्त तत्त्व प्रकाशमान होता है, तब स्वेद—पसीना न होने और मर्दन न करने पर भी तथा तैल की मालिश के बिना ही शरीर कोमल और स्निग्ध—चिकना हो जाता है। यह तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का चिह्न है।

अमनस्कतया संजायमानया नाशिते मनःशल्ये।
शिथिलीभवति शरीरं छत्रमिव स्तब्धतां त्यक्त्वा ॥ ३८ ॥

उन्मनीभाव उत्पन्न होने से मन सम्बन्धी शल्य का नाश हो जाता है। अतः तत्त्वज्ञानी का शरीर छाते के समान अकड़ छोड़ कर शिथिल हो जाता है।

शल्यीभूतस्यान्तःकरणस्य क्लेशदायिनः सततम्।
अमनस्कतां विनाऽन्यद्विशल्यकरणौषधं नास्ति ॥ ३९ ॥

शल्य के सदृश क्लेशदायक अन्तःकरण को निशल्य करने का अमनस्कता—उन्मनीभाव के सिवाय और कोई उपाय नहीं है।

उन्मनीभाव का फल

कदलीवच्चाविद्या लोलेन्द्रियपत्रला मनःकन्दा।
अमनस्कफले दृष्टे नश्यति सर्वप्रकारेण ॥ ४० ॥

अविद्या कदली के पौधे के समान है। चपल इन्द्रियाँ उसके पत्ते हैं और मन उसका कन्द है। जैसे फल दिखाई देने पर कदली का वृक्ष नष्ट कर दिया जाता है, उसी प्रकार उन्मनीभाव रूपी फल के दिखाई देने पर अविद्या भी पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। फल आने पर कदली वृक्ष काट डाला जाता है, क्योंकि उसमें पुनः फल नहीं आते।

अतिचञ्चलमतिसूक्ष्मं दुर्लक्ष्यं वेगवत्तया चेतः।
अश्रान्तमप्रमादादमनस्क - शलाकया भिन्द्यात् ॥ ४१ ॥

मन अत्यन्त चंचल और अत्यन्त ही सूक्ष्म है। वह तीव्र वेगवान होने के कारण उसे पकड़ रखना भी कठिन है। अतः बिना विश्राम लिए

प्रमाद का परित्याग करके, अमनस्कता रूपी शलाका से उसका भेदन करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि चंचल वस्तु का भेदन करना कठिन होता है। किन्तु, चपल होने के साथ जो अत्यन्त सूक्ष्म है उसका भेदन करना और भी कठिन है। फिर जो चपल और सूक्ष्म होने के साथ अत्यन्त वेगवान हो उसका भेदना तो और भी कठिन है। मन में यह तीनों विशेषताएँ विद्यमान हैं, अतः उसको जीतना सरल नहीं है, फिर भी असंभव नहीं है। यदि निरंतर अप्रमत्त रहकर उन्मनी-भाव का अभ्यास किया जाए तो, उसे अवश्य जीता जा सकता है।

उन्मनीभाव की पहचान

विश्लिष्टमिव प्लुष्टमिवोड्डीनमिव प्रलीनमिव कायम्।
अमनस्कोदय-समये योगी जानात्यसत्कल्पम् ॥ ४२ ॥

अमनस्कता—उन्मनीभाव का उदय होने पर योगी को अपने शरीर के विषय में अनुभूति होने लगती है कि मानो शरीर बिखर गया है, भस्म हो चुका है, उड़ गया है, विलीन हो गया है और वह है ही नहीं। अतः जब योगी शरीर की तरफ से बेसुध हो जाए, उसकी दृष्टि में शरीर का अस्तित्व ही न रह जाए, तब समझना चाहिए कि इसमें अमनस्कता उत्पन्न हो गई है।

समदैरिन्द्रिय-भुजगै रहिते विमनस्क-नव-सुधाकुण्डे।
मग्नोऽनुभवति योगी परामृतास्वादमसमानम् ॥ ४३ ॥

मदोन्मत्त इन्द्रिय रूपी भुजंगों से छुटकारा पाया हुआ योगी उन्मनीभाव रूपी नवीन सुधा के कुण्ड में मग्न होकर अनुपम और उत्कृष्ट तत्त्वामृत का आस्वादन करता है।

रेचक-पूरक-कुम्भक-करणाभ्यास-क्रमं विनाऽपि खलु।
स्वयमेव नश्यति मरुद्विमनस्के सत्य-यत्नेन ॥ ४४ ॥

अमनस्कता की प्राप्ति हो जाने पर रेचक, पूरक, कुम्भक और आसनों के अभ्यास के विना स्वतः ही पवन का नाश हो जाता है।

चिरमाहितप्रयत्नैरपि धर्त्तुं यो हि शक्यते नैव।
सत्यमनस्के तिष्ठति स समीरस्तत्क्षणादेव ॥ ४५ ॥

दीर्घकाल तक प्रयत्न करने पर भी जिस वायु का धारण करना अशक्य होता है, अमनस्कता उत्पन्न होने पर वही वायु तत्काल एक जगह स्थिर हो जाता है।

जातेऽभ्यासे स्थिरतामुदयति विमले च निष्कले तत्त्वे।
मुक्त इव भाति योगी समूलमुन्मूलित-श्वासः ॥ ४६ ॥

इस अभ्यास में स्थिरता प्राप्त होने पर और निर्मल अखण्ड तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर श्वास का समूल उन्मूलन करके योगी मुक्त पुरुष के समान सुशोभित होता है।

यो जाग्रदवस्थायां स्वस्थः सुप्त इव तिष्ठति लयस्थः।
श्वासोच्छ्वास-विहीनः स हीयते न खलु मुक्तिजुषः ॥ ४७ ॥

ध्यान की अवस्था में योगी जागता हुआ भी सोये हुए व्यक्ति के समान अपने आत्मभाव में स्थित रहता है। उस लय-अवस्था में श्वासोच्छ्वास से रहित वह योगी मुक्तिप्राप्त जीव से हीन नहीं होता, बल्कि मुक्तात्मा के सदृश ही होता है।

जागरणस्वप्नजुषो जगतीतलवर्त्तितः सदा लोकाः।
तत्त्वविदो लयमग्ना नो जाग्रति शेरते नापि ॥ ४८ ॥

इस पृथ्वीतल पर रहने वाले प्राणी सदा जागृति और स्वप्न की अवस्थाओं का अनुभव करते हैं, किन्तु लय में मग्न हुए तत्त्वज्ञानी न जागते हैं और न सोते हैं।

भवति खलु शून्यभावः स्वप्ने विषयग्रहश्च जागरणे।
एतद् द्वितयमतीत्यानन्दमयमवस्थितं तत्त्वम् ॥ ४९ ॥

स्वप्न दशा में शून्यता व्याप्त रहती है और जागृत अवस्था में इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण होता है। किन्तु, आनन्दमय तत्त्व इन दोनों अवस्थाओं से परे लय में स्थित रहता है।

जीवों को उपदेश

कर्माण्यपि दुःखकृते निष्कर्मत्वं सुखाय विदितं तु।
न ततः प्रयतेत् कथं निष्कर्मत्त्वे सुलभ-मोक्षे ॥ ५० ॥

कर्म दुःख के लिए हैं अर्थात् दुःख का कारण है और निष्कर्मता सुख के लिए है। यदि तुमने इस तत्त्व को जान लिया है, तो तुम सरलता से मोक्ष प्रदान करने वाले निष्कर्मत्व को प्राप्त करके समस्त क्रियाओं से रहित बनने के लिए क्यों नहीं प्रयत्न करते ?

मोक्षोऽस्तु मास्तु यदि वा परमानन्दस्तु वेद्यते स खलु।
यस्मिन्निखिल-सुखानि प्रतिभासन्ते न किञ्चिदिव ॥५१॥

मोक्ष हो या न हो, किन्तु ध्यान से प्राप्त होने वाला परमानन्द तो प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। उस परमानन्द के सामने संसार के समस्त सुख नहीं के बराबर हैं।

मधु न मधुरं नैता शीतास्त्विषस्तुहिनद्युते—
रमृतममृतं नामैवास्याः फले तु मुधा सुधा।
तदलममुना संरम्भेण प्रसीद सखे ! मनः,
फलमविकलं त्वय्येवैतत् प्रसादमुपेयुषि ॥ ५२ ॥

उन्मनी-भाव से प्राप्त आनन्द के सामने मधु मधुर नहीं लगता, चन्द्रमा की कान्ति भी शीतल प्रतीत नहीं होती, और अमृत केवल नाम मात्र का अमृत रह जाता है। और सुधा तो वृथा ही है। अतः हे मन ! तू इस ओर दौड़-धूप करने का प्रयास मत कर। तू मेरे पर प्रसन्न हो। तेरे प्रसन्न होने पर ही तत्त्वज्ञान का सम्पूर्ण फल प्राप्त हो सकता है।

सत्येतस्मिन्नरतिरतिदं गृह्यते वस्तु दूरा—
दप्यासन्नेऽप्यसति तु मनस्याप्यते नैव किञ्चित् ।
पुंसामित्यप्यवगतवतामुन्मनीभावहेता—
विच्छा बाढं न भवति कथं सद्गुरूपासनायाम् ॥५३॥

मन की विद्यमानता में अरति उत्पन्न करने वाली व्याघ्र आदि वस्तु और रति उत्पन्न करने वाली वनिता आदि वस्तु दूर होने पर भी मन के द्वारा ग्रहण की जाती है और मन की अविद्यमानता अर्थात् उन्मनीभाव उत्पन्न हो जाने पर समीप में रही हुई भी सुखद और दुःखद वस्तु भी ग्रहण नहीं की जाती। जब तक मन का व्यापार चालू है, तब तक मनुष्य दूरवर्त्ती वस्तुओं में से भी किसी को सुखदायक और किसी को दुःखदायक मानता है। किन्तु, अमनस्क भाव प्राप्त होने पर समीपवर्त्ती वस्तु भी न सुखद प्रतीत होती है और न दुःखद ही प्रतीत होती है। क्योंकि सुख और दुःख मन से उत्पन्न होने वाले विकल्प हैं। वस्तु न सुख रूप है और न दुःख रूप ही है। जिन्होंने इस तथ्य को समझ लिया है, वे उन्मनीभाव को उत्पन्न करने वाले सद्गुरु की उपासना के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

टिप्पण—कहने का तात्पर्य यह है कि उन्मनीभाव उत्पन्न हो जाने पर योगी की दृष्टि में यह विकल्प नहीं रह जाता कि अमुक वस्तु सुखदायी है और अमुक दुःखदायी। यह स्थिति अत्युत्तम और आनन्दमय है। परन्तु, इसकी प्राप्ति सद्गुरु की उपासना से ही होती है।

आत्म-साधना

तांस्तानापरमेश्वरादपि परान् भावैः प्रसादं नयन्,
तैस्तैस्तत्तदुपायमूढ भगवन्नात्मन् किमायस्यसि ।
हन्तात्मानमपि प्रसादय मनाग् येनासतां सम्पदः,
साम्राज्यं परमेऽपि तेजसि तव प्राज्यं समुज्जृंभते ॥५४॥